

संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

# पक्षधर

**प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप**

वर्ष : 10 अंक : 19

जुलाई-दिसंबर, 2015

उपन्यास आलोचना

महाविशेषांक

भाग-1

संपादक

विनोद तिवारी

संपादन सहयोग

अजय आनंद

आशीष मिश्र

वेब पता

[www.pakshdhar.com](http://www.pakshdhar.com)

## अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण : कुँअर रवींद्र

## मूल्य

एक प्रति : ₹ 75 यह अंक ₹ 100

## सदस्यता

वार्षिक : ₹ 200, संस्थाओं के लिए : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)

पंचवार्षिक : ₹ 1000

आजीवन : ₹ 2500

विदेश के लिए : 75 \$

## संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

## सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5

वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

फ़ोन : 0120-4572303

मो. 09560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

## PAKSHDHAR

A Bi-Annual Literary Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

ISSN : 2231-1173

## अनुक्रम

<b>संपादकीय</b>	
हिंदी में उपन्यास आलोचना	7
<b>बालकृष्ण भट्ट</b>	
उपन्यास	16
<b>महावीर प्रसाद द्विवेदी</b>	
उपन्यास-रहस्य	18
<b>प्रेमचन्द</b>	
उपन्यास	25
उपन्यास के विषय	32
उपन्यास-रचना	37
<b>काशी प्रसाद जायसवाल</b>	
हिन्दी-उपन्यास लेखकों को उलहाना	43
<b>रामचन्द्र शुक्ल</b>	
उपन्यास	45
<b>गुलाब राय</b>	
उपन्यास और नीति	48
<b>राहुल सांकृत्यायन</b>	
ऐतिहासिक उपन्यास	52
<b>सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'</b>	
हिन्दी-साहित्य में उपन्यास	56
<b>जैनेन्द्र कुमार</b>	
उपन्यास में वास्तविकता	59
<b>हजारीप्रसाद द्विवेदी</b>	
कथा-आख्यायिका और उपन्यास	66
उपन्यास और कहानी	81

<b>रामअवध द्विवेदी</b>	
उपन्यास के उपकरण	100
<b>देवराज उपाध्याय</b>	
प्रबंधकाव्य, रोमांस और उपन्यास	106
<b>सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'</b>	
आधुनिक उपन्यास की पृष्ठभूमि	113
आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण	119
उपन्यास की भारतीय विधा	124
<b>नगेन्द्र</b>	
हिंदी-उपन्यास	127
<b>नलिन विलोचन शर्मा</b>	
हिन्दी-उपन्यास : उद्भव और विकास	134
जासूसी और ऐतिहासिक उपन्यास	144
<b>देवराज</b>	
हिन्दी-उपन्यास का धरातल	149
<b>प्रभाकर माचवे</b>	
ऐतिहासिक उपन्यास	153
<b>रघुवंश</b>	
उपन्यास	164
<b>मोहन राकेश</b>	
उपन्यास और यथार्थ चित्रण	169
<b>नामवर सिंह</b>	
'अंग्रेजी ढंग का नावेल' और भारतीय उपन्यास	174
भारतीय उपन्यास की अन्तर्धारा	180
<b>निर्मल वर्मा</b>	
उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म	190
संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास	198
<b>राजेन्द्र यादव</b>	
भारतीय उपन्यास : असफलता के कुछ बिन्दु	206
<b>देवीशंकर अवस्थी</b>	
ऐतिहासिक उपन्यास	210

<b>प्रेमशंकर</b>	
लघु उपन्यास	215
<b>रामस्वरूप चतुर्वेदी</b>	
उपन्यास के दायित्व	220
उपन्यास की भाषा	228

## भाग-2

<b>गोपाल राय</b>	
औपन्यासिक संरचना की समस्या	5
<b>अजित कुमार</b>	
उपन्यास की विकास यात्रा : रोमांस से सामाजिक यथार्थ तक	40
<b>भोलाभाई पटेल</b>	
बृहत्कथा से नॉवेल तक	53
<b>परमानन्द श्रीवास्तव</b>	
भारतीय उपन्यास : एक खोज	70
<b>राजी सेठ</b>	
उपन्यास में समय की सत्ता	81
<b>रमेशचंद्र शाह</b>	
चेतना का पुनर्संगठन : भारतीय उपन्यास की भूमिका	86
<b>नित्यानंद तिवारी</b>	
उपन्यास-कला	101
<b>मैनेजर पाण्डेय</b>	
उपन्यास और लोकतंत्र	122
<b>सत्यप्रकाश मिश्र</b>	
हिन्दी उपन्यास का कुल-शील	143
<b>शंभुनाथ</b>	
भारतीय इतिहास की पहचान और उपन्यास	151
<b>वीरेन्द्र यादव</b>	
हिंदी उपन्यास : एक सबाल्टर्न प्रस्तावना	158
<b>जवरीमल्ल पारख</b>	
समय और समाज के मध्य उपस्थित उपन्यास	167

<b>मदन सोनी</b>	
हिन्दी उपन्यास की अल्पता पर कुछ ऊहापोह	177
<b>विनोद शाही</b>	
कथा का समाजेतिहास और उपन्यास	194
<b>रोहिणी अग्रवाल</b>	
उपन्यास में स्त्रियाँ और स्त्रियों का उपन्यास	207
<b>अवधेश कुमार सिंह</b>	
भारतीय उपन्यास की परिकल्पना : एक पुनर्विचार	218
<b>प्रणय कृष्ण</b>	
भारतीयता और हिन्दी उपन्यास	228
<b>आशुतोष कुमार</b>	
औपन्यासिकता और समय	240
<b>वैभव सिंह</b>	
उपन्यास और सुधारवाद	244

## हिंदी में उपन्यास आलोचना

---

अतीत का विचार करोगे तो अपनी एक आँख गँवा बैठोगे  
और अतीत को छोड़ दोगे, भूल जाओगे तो अपनी दोनों आँखें गँवा बैठोगे  
एक रूसी कहवत

काव्य के सैद्धान्तिक विवेचन और काव्यालोचन के देखे उपन्यास-साहित्य का  
सैद्धान्तिक विवेचन और उस पर केन्द्रित आलोचनात्मक कृतित्व गुण और परिमाण  
दोनों ही दृष्टि से स्तरहीन और कम है।

से केलेक और जेन ऑस्टीन

अगर उपन्यास आलोचना के इतिहास और वर्तमान में इससे कोई इजाफा होता हो तो यह बता देना चाहिए कि अंग्रेजी में 'नावेल' की तर्ज पर भारत में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग सबसे पहले भूदेव मुखोपाध्याय ने 1862 ईस्वी में अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक उपन्यास' में किया था। सनद रहे कि, हिंदी में 'उपन्यास' शब्द का सबसे पहला प्रयोग 1875 ईस्वी में हुआ जिसका श्रेय भारतेन्दु हरिश्चंद्र को दिया जाता है। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने भूदेव मुखोपाध्याय के दिए नाम को ही अपना लिया और अपने उपन्यास संबंधी लेख में पहली बार 'उपन्यास' क्या नहीं है इसको समझाने का प्रयास किया। उनके इस लेख का प्रभाव बलकृष्ण भट्ट के लेख 'उपन्यास' पर साफ तौर पर देखा जा सकता है। 'उपन्यास' पर हिंदी में यह पहला लेख है। इसलिए, हिंदी में उपन्यास ही नहीं उसकी आलोचना भी बंगाल के ही प्रभाव में शुरू हुयी। हालाँकि, उपर्युक्त इन दोनों ही लेखों का महत्व केवल इस बात में है कि ये 'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। 'उपन्यास' क्या है? इस पर विचार इन लेखों में नहीं है। हालाँकि, जब हम पाश्चात्य उपन्यास आलोचना पर नजर दौड़ाते हैं तो और आश्चर्यजनक तथ्य सामने

आते हैं। वहाँ भी गुस्ताव फ्लाबेयर और हेनरी जेम्स के पहले उपन्यास आलोचना का कोई उदाहरण नहीं मिलता। उपन्यास का जन्म तो होता है अठारहवीं सदी के शुरू में और उसकी आलोचना शुरू होती है उन्नीसवीं सदी के मध्य में। सौ-डेढ़ सौ साल बाद। वह भी उदय, इतिहास, व्याख्या और समीक्षा के स्तर पर ही। उपन्यास आलोचना की सैद्धांतिकी का निर्माण तो और बाद में होता है। एक तरह से बीसवीं शताब्दी में आकर।

यह सही है कि, साहित्यिक विधाओं में उपन्यास सर्वाधिक नयी, आधुनिक, लोकप्रिय, वर्चस्वशाली और प्रतिरोधी विधा है। इस बात की ताकीद इससे भी होती है कि दुनिया भर में प्रतिबंधित और तरह-तरह के 'संसर्गशिप' के शिकार साहित्य का अगर कोई ब्यौरा तैयार किया जाय तो सबसे अधिक संख्या उपन्यासों की ही होगी। सुनते हैं कि, स्पेन के सम्राट ने कानून बनाकर दक्षिण-अमेरिका में उपन्यास लिखने पर प्रतिबंध लगा दिया था, क्योंकि उसने माना कि उपन्यास खतरनाक ढंग से जनता की भावनाएँ भड़काते हैं। इसलिए 'कथा' कहने की आदिम परम्परा से भिन्न उपन्यास निश्चित ही औद्योगिक-सभ्यता की उपज है। छापेखाने और मुद्रण के आविष्कार ने इस विधा को ठोस जमीन उपलब्ध कराया। उपन्यास और सिनेमा दोनों ही तकनीकी-युग के कलारूप हैं। यह ठीक है कि 'गल्प' (फिक्शन) के या 'आख्याय' (नैरेशन) के अर्थ में 'कथा-तत्व' के लिए उपन्यास का एक रिश्ता महाकाव्यों, मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों, इतिहास, पुराण और नाटकों से बनता है पर 'उपन्यास' प्राचीन कथात्मक रूपों और शैलियों का आधुनिक और परिष्कृत विकास भर नहीं है। उसने अपने जन्म से लेकर अब तक रूप, रचना, शैली, विधान सबमें प्रयोग और विकास की कई मंजिलें पार की हैं। वैसे तो, साहित्य की सभी विधाएँ केवल साहित्यिक-रचना मात्र नहीं होती वरन् वह एक राजनीतिक व सामाजिक संरचना भी होती हैं। परन्तु, इस धरातल पर अन्य साहित्य-रूपों की तुलना में उपन्यास सर्वाधिक समर्थ विधा-रूप है। यही कारण है कि, उपन्यास इतिहास और सामाजिक अध्ययनों में महज एक 'साहित्यिक-संरचना' (लिटरेरी कंस्ट्रक्ट) की तरह ही नहीं पढ़ा जाता। बदलते सामाजिक-संरचना को समझने के लिए उसे एक ऐतिहासिक व सामाजिक 'पाठ' के तरह भी पढ़ा जाता है। इसका कारण यह है कि, उपन्यास मानवीय-सभ्यता के सामाजिक और ऐतिहासिक प्रगति और अंतर्विरोधों का सूत्रीकरण करने वाली सबसे सशक्त और कारगर विधा है। वह समाज और व्यक्ति के रिश्तों, विरोधों और अंतर्द्वंद्वों को सम्पूर्णता के साथ पकड़ने की कोशिश करता है।

यह माना जाता है कि, पुराने सामन्ती और प्रजातान्त्रिक समाजों में ईश्वर, ईशपुत्रों, देवदूतों, राजाओं और चरित नायकों या नायिकाओं को केंद्र बनाकर जिन चरित-काव्यों या महाकाव्यों की रचना हुयी रेनेसाँ के बाद उनकी जगह उपन्यास ने ले लिया। इसी तर्क पर उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा गया। ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक रूपों और संरचनाओं में हुए परिवर्तनों से अभिव्यक्ति के रूपों और संरचनाओं में भी नवीनता आयी। उपन्यास (नावेल) इसी नवीन रूपगत संरचना की अभिव्यक्ति बनकर आया। 'उपन्यास का उदय' को लेकर सन् 1947 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रस्तुत अपने शोध-प्रबंध में आयन वॉट ने इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है "पुरानी साहित्यिक विधाओं में परम्परा का अनुकरण ही सामान्य कसौटी था। उदाहरणतः प्राचीन एवं पुनर्जागरण युग के महाकाव्यों में कथानक अतीत के इतिहास अथवा दंतकथाओं पर आधारित थे और लेखक के प्रतिपादन की योग्यता शैली के निर्धारित भावों के अनुसार साहित्यिक सौष्ठव प्रदर्शित करने से आँकी जाती थी। इस साहित्यिक रुढ़िवाद को प्रथम और सबसे बड़ी चुनौती उपन्यास से मिली। इसका



प्रमुख सिद्धांत व्यक्तिगत अनुभवों के प्रति सच्चाई है, ये व्यक्तिगत अनुभव सदैव विशिष्ट होते हैं अतः नवीन भी। इस प्रकार उपन्यास संस्कृति का एक ऐसा तर्कपूर्ण साहित्यिक माध्यम है जिसने गत कुछेक शताब्दियों में मौलिकता अथवा नवीनता को महत्व प्रदान किया है। अतः इस विधा को 'नावेल' के नाम से अभिहित करना सार्थक ही है।”

हम सब जानते हैं कि पूर्व-पूँजीवादी सामन्ती समाज से पूँजीवादी औद्योगिक समाज के बनने की प्रक्रिया में 17वीं शताब्दी में पूँजी की वृद्धि और उससे होने वाले लाभ की मात्रा में वृद्धि से इंग्लैण्ड में ही नहीं वरन् पूरे यूरोप में एक तरह की नयी सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों का उदय हुआ। नयी व्यापारिक-शक्तियों का जन्म हुआ। साहसिक व्यापारिक और धार्मिक यात्राएँ प्रारम्भ हुईं। इन यात्राओं का सम्बन्ध व्यापार, पूँजी और धर्म के प्रसार के साथ-साथ उपनिवेशन की प्रक्रिया से सीधे-सीधे जुड़ता है। इन यात्रा-वर्णनों में प्रारम्भिक उपन्यास के लक्षण मिलते हैं। जॉन बॉनयन की पुस्तक 'दि पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस' हो या डेनियल डेफो का 'राबिन्सन क्रूसो'। इन पुस्तकों में यात्राओं का साहसिक वर्णन मिलता है। 'दि पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस' को तो ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के स्रोत के रूप में देखा गया परन्तु डेनियल डेफो के उपन्यास 'राबिन्सन क्रूसो' (1719) से पश्चिम में उपन्यास का जन्म माना जाता है पर औपन्यासिक-संरचना की दृष्टि से इसमें उपन्यास के कुछ प्रारम्भिक सूत्र मात्र मिलते हैं। कुछ विद्वान् 1740 में प्रकाशित रिचर्डसन के 'पामेला' से इसकी सही शुरुआत मानने के पक्ष में हैं। परन्तु, इन सभी उद्धृत उपन्यासों में 'उपन्यास' के प्रारम्भिक रूप-लक्षण ही ही मिलते हैं। उपन्यास का वास्तविक रूप 18वीं शताब्दी के अंत में इंग्लैण्ड में पूँजीपतियों के राजसत्ता और राजनीति में प्रभावी हस्तक्षेप के बाद वैश्विक पूँजीवादी आकांक्षा के चलते उपनिवेशवाद के साथ-साथ उपन्यास का रूप भी स्थिर होने लगा और प्रचार-प्रसार भी बढ़ता गया। रॉल्फ फॉक्स ने इन्हीं अर्थों में उपन्यास को 'पूँजीवादी आकांक्षा का विशिष्ट साहित्य रूप' कहा है। अपनी पुस्तक 'दि नावेल एंड दि पीपुल' (हिंदी अनु. 'उपन्यास और लोकजीवन') में विस्तार से उसने पूँजीवाद और उपन्यास के सम्बन्धों पर लिखा है।

एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के कई देशों की तरह भारत में भी उपन्यास का जन्म उपनिवेशवादी मनःसंरचना में होता है। “उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी राज, अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य के साथ ब्रिटिश उपनिवेश बने भारत में नावेल आया। देखते-देखते वह समस्त भाषाओं में नवोदित वाचक-वर्ग पर वह छा गया।” इसमें संदेह नहीं कि अन्य उपनिवेशित देशों की तरह यहाँ भी शुरु से ही उपन्यास एक राजनीतिक-सामाजिक साहित्य-रूप बनकर आता है। यहाँ के भी सजग-सचेत उपन्यासकारों ने अपने समय-समाज की समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक-राजनीतिक पहल में योगदान दिया। लेसली फिडलर के कथन 'देश और उपन्यास एक साथ जन्म लेते हैं', का सहारा लेते हुए नामवर सिंह ने 1857 के महाविद्रोह से उत्पन्न राजनीतिक उथल-पुथल को इस सन्दर्भ में एक लक्षण के बतौर रेखांकित किया है। परन्तु उल्लेखनीय यह भी है कि, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सही अर्थों में 'भारतीय उपन्यास' का चेहरा (एक दो उदाहरणों को छोड़ कर) उपनिवेशवाद या पूँजीवाद के विरोधी चेहरा बनकर नहीं आता। इन उपन्यासकारों के यहाँ फील्डिंग, फ्लावेयर, डिक्सेस आदि की तरह से पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की आलोचना नहीं मिलती। इसके पीछे का मूल कारण संभवतः सामंतवादी मानसिकता और पूँजीवादी व्यवस्था की वह चालाक संरचनाएँ हैं जिनकी दुरभिसंधियों में पराधीन भारत गुजर रहा था। नव-विकसित मध्यवर्ग और उसके शुरुआती चरित्र को इन दुरभिसंधियों में फँसा हुआ देखा जा सकता है। सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं

के साथ हिंदी के प्रारम्भिक उपन्यास इसके उदहारण हैं। इससे भिन्न एक दूसरी औपन्यासिक दुनिया है जिसमें सामन्ती-तत्वों के साथ साम्राज्यवादी मानसिकता वाले इतिहासकारों द्वारा प्रदत्त वह 'भारतीय-छवि' भी है जो तिलिस्म, अय्यारी और चमत्कारों से निर्मित जादू-टोने, चमत्कार, सस्पेंस, कौतूहल और उत्साह में विन्यस्त औपन्यासिक दुनिया है। सही अर्थों में इन्हें जासूसी उपन्यास भी नहीं कहा जा सकता। जासूसी उपन्यासों पर काम करते हुए फ्रेंचस्का ओरेसेनी के 'जासूसी उपन्यास : 19वीं सदी के उत्तर-भारत की एक व्यावसायिक विधा' नामक लेख में यह निष्कर्ष देखने लायक है "ये उर्दू फारसी दास्तानों और लोकप्रिय रोमांसों की रोमांचक दुनिया है, जिसमें राजाओं और राजकुमारों, जादुई परियों और उनका अलौकिक संसार रहता है। यह उन सम्पत्तिशाली वर्गों की दास्तान थी जिनमें भू-स्वामी और नगरों में रहने वाले बड़े सौदागर शामिल थे।" ऐसे उपन्यासों के प्रतिनिधि उपन्यासकार बाबू देवकीनंदन खत्री थे। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ इत्यादि उपन्यासों की रोचकता और पाठकीय लोकप्रियता से सभी प्रचलित हैं। इससे भिन्न प्रवृत्ति वाले उपन्यासों की एक दूसरी कोटि 'सोसायटी नॉवेल्स' की है जिनका उल्लेख विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े के 'कादम्बरी' (1902) नामक लेख में मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी उपन्यास भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उपनिवेशवादी साम्राज्यवादी योजना का एक साहित्य-रूप बनकर ही सामने आता है। बेनेडिक्ट एंडरसन के शब्दों में कहें तो 'प्रिंट कैपिटलिज्म' का एक नमूना। यह परिदृश्य बीसवीं सदी में ही प्रेमचंद के आने के साथ बदलता हुआ दिखता है।

मानव चेतना और समाज में जो तरह-तरह के भौतिक और अध्यात्मिक परिवर्तन होते रहे हैं और हो रहे हैं मनुष्य-कथा के रूप में आज उन्हें प्रस्तुत करने का श्रेष्ठतम माध्यम उपन्यास ही है। मनुष्य के मानसिक और सामाजिक जीवन के विविध व्यापारों को जिस ढंग से उपन्यास में निबद्ध किया जा सकता है, वह इसे अन्य विधाओं की तुलना में एक विशिष्ट आयाम प्रदान करता है। इसीलिए हेनरी जेम्स जैसे विद्वानों का मानना है कि, "उपन्यास एक ऐसा आधुनिक काव्य-रूप है जिसमें एक साथ ही कहानी और नाटक, कविता और संगीत, चित्रकला और स्थापत्य सभी का अंतर्भाव मिलता है।"

कथा जिस तरह से कहानी के लिए एक प्राथमिक और महत्वपूर्ण तत्व है उसी तरह वह उपन्यास का भी मूल-आधार है। कथा-तत्व की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इस बात में होती है कि वह मानव-मन में यह जिज्ञासा बनाए रखता है कि, 'आगे क्या हुआ'। कथा कहन है तो कथानक उस कहन की रचना, ताना-बाना है। कथावस्तु इन दोनों से सृजित रूप का लक्ष्य या उद्देश्य है। और सपष्ट ढंग से कहा जाय तो कथा, कालक्रम में सँजोयी गयी घटनाओं का विवरण है तो कथानक घटनाओं का ऐसा विन्यास है जिसमें कार्य-कारण पर बल रहता है और कथावस्तु, कथ्य का तर्कसंगत और बौद्धिक पहलू व दृष्टिकोण है। इस सम्बन्ध में नित्यानंद तिवारी का यह कथन देखना चाहिए "कथानक कहानी का सिर्फ ढाँचा नहीं है, वह लेखक के अनुभव में वस्तुगत वास्तविकता की अनिवार्य आँच और निशान का प्रमाण होता है और बिना सूक्ष्म भाषिक और तकनीकी योग्यता के भी सच्चे साहित्य की शर्तें पूरी कर सकता है। कई बार ऐसा होता है कि, शिल्प, तकनीकी और भाषा की योग्यता से प्रभाव को घनीभूत किया जा सकता है, असलियत नहीं पैदा की जा सकती। कथानक वास्तविकता का साक्षात्कार है लेखक की सृष्टि नहीं।" दरअसल, उपन्यासकार की चेतना अपने अनुभव और विवेक से अपने औपन्यासिक चरित्रों और कथावस्तुओं का निर्माण करती है और उन्हीं में अपना देश-काल ढूँढती है, उन्हें पा लेना ही दरअसल उपन्यासकार की कलात्मक उपलब्धि है।

वस्तुतः उपन्यास, मात्र स्थितियों-परिस्थितियों, भावों-मनोभावों, घातों-प्रतिघातों का संयोजन और कलात्मक निर्वाह भर नहीं है जो किसी एकरेखीय संभावना में निष्पन्न हो। उपन्यास ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों के संघर्ष और गतिशीलता में से निःसृत मनुष्य की नियति का अनेकवाची साहित्य-रूप है। ऐसे में उपन्यास का अपना एक 'देश' होता है और एक 'काल' होता है। इस 'देश-काल' के नागरिकों (चरित्रों) की रचना उपन्यासकार सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों और जरूरतों के अनुकूल करता है। दरअसल, उपन्यास अपनी आख्यानात्मकता में समयातीत होते हुए भी कालातीत नहीं होता उसकी दृष्टि समकालीनता की दृष्टि होगी। 'समकालीनता' का यह बोध ही दरअसल उस 'इतिहास-बोध' का विवेक है जिसे मनुष्य अपने 'सामाजिक' होने की प्रक्रिया में प्राप्त करता है। मनुष्य किसी न किसी 'देश-काल' में अवस्थित होता है, 'इतिहास-चेतना' के आयामों में ही वह परिभाषित और व्याख्यायित होता है। इसलिए, जिस तरह मनुष्य 'देश-काल' से विच्छिन्न नहीं हो सकता उसी तरह उपन्यास भी 'देश-काल' शून्य नहीं हो सकता।

उपन्यास में कथा और कथानक के सफल निर्वाह के लिए घटनाओं, चरित्रों, संवादों, विषय-जन्य स्थितियों, परिस्थितियों, भावों, मनोभावों, घातों, प्रतिघातों का कुशल संयोजन और सामन्जस्य होना चाहिए तभी वह समूचा प्रभाव पैदा कर पायेगा। कुछ आलोचकों ने इसे सुई-धागे के रूपक में परिभाषित किया है। मिलान कुदेरा इस संयोजन और तद्जनित प्रभाव की तुलना आर्कस्ट्रा से करते हैं और कहते हैं कि, "जिस तरह समूचा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए आर्कस्ट्रा में दृश्य में उपस्थित नृत्य करने वाले या गाने वाले स्त्री-पुरुष ही महत्वपूर्ण नहीं वरन् पार्श्व में बजने वाले वे तमाम वाद्य-यंत्र भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं, बल्कि उनके पूर्ण समंजन से ही वह प्रभाव उत्पन्न होता है उसी तरह उपन्यास अपने 'प्लॉट' में पूर्ण समंजन करके ही पूरा प्रभाव पैदा कर सकता है।" इसलिए बिना अन्विति और सामंजस्य के उपन्यास अपने कथानक और कथ्य का सफल निर्वाह नहीं कर सकता। वह शिथिल, बिखरा-बिखरा और अधूरा होगा।

औपन्यासिक स्थापत्य में दृष्टिकोण अथवा उद्देश्य महाभारत के सात्यकि और और संजय की तरह एक अनिवार्य तत्व है। आप कोई कहानी पढ़ते हैं, कोई सिनेमा देखते हैं तो यह जरूर जानना चाहते हैं कि, इस कहानी का उद्देश्य क्या है? इस सिनेमा में क्या दिखाया गया है। यह जिज्ञासा, जानने की यह इच्छा ही दरअसल किसी भी 'पाठ' को चाहे वह उपन्यास हो, कहानी हो, कविता हो, सिनेमा हो या अन्य कोई कला माध्यम हों, प्रासंगिक और समकालीन बनाती है। प्रयोजनीयता अथवा प्रासंगिकता की माँग इसका प्रमुख लक्ष्य है। दृष्टिहीन उद्देश्य का कोई रचनात्मक अर्थ नहीं हो सकता। ठीक उसी तरह उद्देश्यहीन दृष्टिकोण भी निरर्थक होगा। उपन्यास के शिल्प के लिए 'कैसे कहा जा रहा है' का जितना महत्व है उससे कहीं अधिक 'क्या कहा जा रहा है' उसका होता है। पर्सी ल्युबॉक ने सबसे पहले 'क्राफ्ट्स आफ फिक्शन' (1921) में इस विषय पर विचार किया था। हेनरी जेम्स ने उपन्यास में दृष्टिकोण सम्बन्धी धारणा और टेक्निक को एक कलात्मक और दार्शनिक समस्या के रूप में वर्णित किया है। जेम्स लिखते हैं: "हर मानवीय जटिलता के सन्दर्भ में, चाहे वह सुखद हो या दुःखद, अच्छा यह होगा कि हमारे दिमाग में एक ऐसे निरीक्षक या आलोचक की कल्पना रहे जो रहे सभी बातों का निर्विकार आलोचक हो और सत्य के हित में दूर खड़ा होकर भी सब कुछ देख रहा हो।" हेनरी फिल्डिंग इसे 'आविष्कार और परख' की शब्दावली में परिभाषित करते हैं।

वर्ण्य-विषय का चुनाव और उसके सफल निर्वाह की टेक्निक उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। आदिम कथाओं से लेकर मिथकीय, पौराणिक और ऐतिहासिक राजा-रानी वाले कथानकों

तक और आज की सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं से सम्बंधित कथानकों तक में इस टेक्निक की जरूरत होती है। आख्यान-आत्मकता की टेक्निक इसके लिए बहुत ही उपयुक्त मानी जाती है। इस टेक्निक के सहारे उपन्यासकार, कभी स्मृति द्वारा अनुभव को आमंत्रित करता है तो कभी अनुभव द्वारा स्मृति को तरतीब देता है। इस प्रक्रिया में वह नैरेटर की भूमिका में भी होता है। उपन्यास में नैरेटर की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। यह माना जाता है कि, नैरेटर लेखक का आत्म-प्रक्षेप होता है। आख्यान-तकनीक के सहारे नैरेटर समाज-इतिहास के सहित्य-रूप के रूप में उपन्यास को संरचित करता है। क्योंकि, पूरे इतिहास को समेटने का जो काम समाजशास्त्र नहीं कर सकता, उसकी पकड़ से वह बाहर होता है उपन्यास स्मृति के द्वारा आख्यान के सहारे पूरा कर लेता है। नैरेटर पाठक और कथा-चरित्रों के बीच में एक पुल की तरह से होता है। परन्तु ज्योंही वह पुल का काम छोड़कर प्रवाह में उतर कर विश्लेषण करने लगता है, पाठक की निरंतरता में व्यतिक्रम उपस्थित कर उपदेश और निर्णय देने लगता है, उपन्यास अपने शिल्प में कमजोर होने लगता है। उपन्यास में चरित्रों और वस्तु-स्थितियों के चरित्रांकन की कला बहुत महत्व रखती है। चरित्रों और वस्तु-स्थितियों के चरित्रांकन का विषय-वस्तु और उसको रचने वाली घटनात्मकता से बहुत गहरा रिश्ता होता है। हेनरी जेम्स का बहुत मशहूर कथन है कि, “चरित्र घटना की नियति के सिवा और क्या है और घटना चरित्र के विश्लेषण के सिवा और क्या है?” यदि, घटनाओं और चरित्रों को एक सुनिर्दिष्ट विषय और वस्तु के साथ प्रस्तुत किया जाय तो चरित्रांकन बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है। अन्य साहित्यिक रूपों की तुलना में उपन्यास को चरित्रांकन की यह सुविधा प्राप्त है। क्योंकि, इसे जो कलात्मक स्वतंत्रता, लचीलापन और यथार्थ के सभी रूपों के प्रति विस्तृत परिक्षेत्र प्राप्त है वह अन्य विधाओं के लिए सीमित है। उपन्यास का ढाँचा ऐसा होता है कि, इसमें जीवन की सभी प्रकार के जटिल और विस्तृत संबंधों व परिस्थितियों को चित्रित किया जा सकता है। हेनरी जेम्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, “उपन्यास में जीवन के मूल संगीत को, उसकी छलना को, उसके अरूप अनगढ़ को पकड़ने की कोशिश होती है। और यही प्रयास उपन्यास को जीवंत बनाता है।” जाहिर है कि, यह जीवन्तता उपन्यास के चरित्रों, घटनाओं, वस्तु-स्थितियों के सफल चरित्रांकन पर ही निर्भर करेगा क्योंकि इन्हीं के अनुरूप प्लॉट का प्रस्तुतिकरण और समायोजन होता है और कथा, कथानक और कथावस्तु की निष्पन्नता सिद्ध होती है। तभी तो बीसवीं शताब्दी के एक महत्वपूर्ण कथालोचक ई. एम. फास्टर ने कथा-साहित्य में चरित्र-चित्रण पर विशेष जोर दिया है। उनका कहना है कि, “उपन्यास चरित्रों की सर्जना करता है उसका निर्माण नहीं करता।” यह कथन इसलिए महत्वपूर्ण है कि, यदि उपन्यासकार चरित्रों का निर्माण करेगा तो उसे साँचे गढ़ने पड़ेंगे जबकि सर्जना में वह गढ़े हुए साँचों को तोड़ भी सकता है।

उपन्यास को जीवंत बनाने में ‘संवाद-योजना’ का विशेष योग होता है। जिन चरित्रों और वस्तुस्थितियों के माध्यम से उपन्यास में जीवन-यथार्थ का चित्रण किया जाता है उसका महत्व इस बात में है कि वह किस प्रकार वर्णित हुआ है किस प्रकार रूपायित हुआ है। वर्णन और रूपांकन की कला में संवाद की विशेष भूमिका होती है। नाटकीय स्थितियों, दृश्यों, तनावों और प्रभावों को रचने में संवाद-रचना के कौशल को नकारा नहीं जा सकता। कथानक में विशेष प्रभाव पैदा करने के लिए संवाद-रचना का स्थान महत्वपूर्ण है। इस प्रकार, नाटकीय-संरचना और दृश्य-प्रधान चित्रात्मकता के निर्माण के लिए संवाद-योजना की महत्ता को छोड़ा नहीं जा सकता, नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। उपन्यास में चरित्रों और घटनाओं की अन्विति के सन्दर्भ से कथालोचकों ने संवाद के लिए कुछ आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया है जिनमें

जीवन्तता, तीव्रता, लचीलापन, अभिव्यंजकता, वस्तुनिष्ठता, नैतिक शक्ति, वाग्मिता और काव्यात्मकता प्रमुख हैं। जोजफ कॉनरेड की इस सम्बन्ध में मान्यता है कि, “उपन्यास का प्रभाव भी इन्द्रियों द्वारा संप्रेषित प्रभाव होता है। इसलिए, यह कोशिश होनी चाहिए कि, लिखित शब्द की शक्ति से आप सुन सकें, अनुभव कर सकें और उससे भी पहले देख सकें।” वाल्टर बेसेंट ने कभी कहा था कि “उपन्यास प्रयोग के आधार पर जीवित रहता है और प्रयोग का अर्थ ही है उन्मुक्ति।”

आज जब, इतिहास, स्मृति, आख्यान आदि के खत्म होने कि चिंता जाहिर की जा रही है, तो ऐसे में उपन्यास के भविष्य की चिंता स्वाभाविक है। परन्तु, यदि देखा जाय तो, उपन्यास की लगभग चार सौ साल से ऊपर की विकास यात्रा में, उपन्यास ने विषय-वस्तु से लेकर रूप-रचना तक अपने को बार-बार कई बार बदला है। इस परिवर्तन के चलते ही उसका ‘नावेल’ (नवेल) होना बार-बार परिभाषित होता रहा है। यही कारण है कि, ‘आख्यान’ कभी भी शुद्ध-कला नहीं हो सकता। वह ऐसी किसी माँग या धारणा की चिंता भी नहीं करता। हेनरी जेम्स ने जब बहुत पहले यह कहा था, कि, “उपन्यास एक ऐसा साहित्य-रूप है जिसमें एक साथ कथा व नाटक, कविता व संगीत, चित्रकला व स्थापत्य सभी का अंतर्भाव रहता है”, तो एक तरफ वह उसकी समावेशी व्यापकता की बात करता है तो दूसरी ओर उसके लाचीले और सामाजिक प्रकृति को भी ध्यान में रख रहा है। अपने जन्म से लेकर आज तक अपने इसी समावेशी और लचीले प्रकृति के चलते विश्व भर में उपन्यास में विषय, रूप, कथ्य और कथानक संबन्धी न जाने कितने बदलाव, तोड़-फोड़ और प्रयोग होते रहे हैं और हो रहे हैं। फ्रांस में 1956-65 के दशक में ‘नोवा रोमॉ’ (Nouveau Roman) नामक आन्दोलन हुआ। इसी के आस-पास अंग्रेजी में ‘एंटी नावेल’ का आन्दोलन उपन्यास में आया। इन आन्दोलनों ने योरोपीय उपन्यास में अनेकशः बदलाव उपस्थित किये। भारत में भी छठे-सातवें दशक में इस तरह बदलाव और प्रयोग के आन्दोलन हुए हैं। कन्नड़ में ‘नव्य-आन्दोलन’ का पूरा इतिहास मिलता है। यू. आर. अनंतमूर्ति उसके सबसे बड़े प्रमाण हैं। मराठी, मलयालम आदि भाषाओं में भी उपन्यास के क्षेत्र में यह बदलाव उपस्थित होता है। तकषी शिवशंकर पिल्लई, भालचन्द्र नेमाडे आदि का नाम उल्लेखनीय है। वाल्टर बेसेंट ने कभी कहा था कि “उपन्यास प्रयोग के आधार पर जीवित रहता है और प्रयोग का अर्थ ही है उन्मुक्ति।” दरअसल, यह प्रयोगशीलता, यह तोड़फोड़ और यह उन्मुक्ति ही उपन्यास को जीवित बनाये रखेगी। उपन्यास मर नहीं सकता, उसमें समय, समाज, रुचि और प्रौद्योगिकीय बदलावों के साथ बदलाव होंगे और इस बदलाव में ही उसका भविष्य निहित है।

उपन्यास आधुनिक मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक संघर्ष और विकास का एक ऐसा अभिव्यक्ति रूप है जिसमें वह अपनी नियति और जिजीविषा के साथ व्यक्त होता है। उपन्यास का ढाँचा ऐसा होता है कि, इसमें जीवन की सभी प्रकार की जटिल और विस्तृत संबंधों व परिस्थितियों को चित्रित किया जा सकता है। उपन्यास में कथा और कथानक के सफल निर्वाह के लिए घटनाओं, चरित्रों, संवादों, विषय-जन्य स्थितियों, परिस्थितियों, भावों, मनोभावों, घातों, प्रतिघातों का कुशल संयोजन और सामंजस्य संभव होता है। क्योंकि, साहित्यिक विधाओं में देखा जाय तो उपन्यास सामाजिक और ऐतिहासिक अंतर्विरोधों का सूत्रीकरण करने वाली सबसे सशक्त और कारगर विधा है। उपन्यास ही है जो, मनुष्य, समाज और ‘व्यक्ति’ के अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों के साथ उसके आपसी रिश्ते को सम्पूर्णता में पकड़ने और अभिव्यक्त करने का दावा करता है और एक हद तक अभिव्यक्त भी करता है। यहीं आकर उपन्यास केवल ‘लिटरेरी कंस्ट्रक्ट’ या साहित्यिक संरचना मात्र नहीं रह जाता वरन एक ‘सोशल कंस्ट्रक्ट’

बन जाता है। पिछले तीन-चार दशकों में हिन्दी के साथ ही भारतीय-भाषाओं के साहित्य की दुनिया भी बहुत बदली है। कारण कि, साहित्य की दुनिया जिस समाज से जुड़ी होती है वह समाज भी बहुत तेजी से बदला है। इस बदलाव को जाँचते-परखते ही साहित्य और उसमें भी उपन्यास के विविध परिवर्तनों और आयामों को पहचाना जा सकता है।

कहन और वृत्तांत के चले आ रहे रीतिबद्ध ढाँचे और मुहावरे में तोड़फोड़, स्थिर और नियत यथार्थ के बरक्स बदलते यथार्थ का चित्रण जिस तरह आज के उपन्यासों में हो रहा है उनके साथ चलते हुए उन परिवर्तनों की परख हिन्दी की समकालीन उपन्यास आलोचना के लिए चुनौती है। किसी एक ही प्रतिमान और मान-मूल्य से नई प्रवृत्तियों को समझना और उनका विवेचन करना 'जड़ीभूत सौंदर्य चेतना' का ही परिचायक होगा। आलोचक के पास अगर एक ही कथाकार के विकास-क्रम को समझने और परखने की क्षमता नहीं है तो या तो वह बने-बनाए ढर्रे में ही उस कथाकार की खूब प्रशंसा करेगा या सिरे से ही उसकी रचना को खारिज कर देगा। आलोचना के ये दोनों ही तरीके आलोचनात्मक-विवेक पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

उपन्यास आलोचना में 'परिवेश' और 'समकालीन-बोध' की सजगता का महत्व अधिक होता है। एक उपन्यासकार किस तरह अपने सृजनात्मक-प्रसव और अनुभव से गुजरता है, जिस सृजनात्मक प्रक्रिया में वह आंतरिक ढंग से अपनी रचना से, उसके पात्रों से बातचीत करता है, उनको जीता है, उनसे संचालित होता है, वह रचनात्मक प्रक्रिया क्या रही होगी? वह अपने परिवेश और समाज से कहाँ तक प्रभावित होता है, अपने जन-समाज को देखने परखने की उसकी रचनात्मक तैयारी कैसी है, जिस समय-समाज को वह रच रहा है वह समय-समाज अपने सुख-दुःख, अपनी उपलब्धियों, अपनी जटिलताओं, अपनी विडंबनाओं और विद्रूपताओं में उसकी रचना में उपस्थित है कि नहीं? कथालोचक को चाहिए की वह साहित्यिक प्रतिमानों के साथ-साथ उन सभी मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और सामाजिक पैटर्न्स की तलाश करे जिनका जिक्र ऊपर किया गया है। तभी वह जान पाएगा कि लेखक के अनुभव और विचारों के स्रोत क्या हैं? उसका रचनात्मक रिक्त और साहित्यिक कन्वेन्शन क्या हैं? समाज के प्रति उसकी दृष्टि क्या है? देखने वाली आँख और लिखने वाली कलम का उद्देश्य या लक्ष्य क्या है?

निश्चित तौर पर पाश्चात्य आलोचना में बीसवीं शताब्दी उपन्यास आलोचना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण शताब्दी रही है। हिंदी में बीसवीं शताब्दी में कविता की आलोचना तो खूब होती है पर कथालोचना नहीं के बराबर है। निबंध, लेख, टिप्पणियाँ, छिटपुट लेखन के रूप में जो कुछ है भी वे यहाँ-वहाँ बिखरे पड़े हैं जिसके चलते कोई मुकम्मल तस्वीर बनती सी नहीं दिखती। हो सकता है कि इन बिखरे हुए, अलग-थलग और असम्बद्ध मेहराबों को एकत्र कर एक जगह संकलित किया जाय तो शायद एक मुकम्मल तस्वीर बनती सी नजर आए। बस, इसी प्रेरणा के चलते हमने यह योजना बनाई कि हिंदी में अब तक प्रकाशित उपन्यास आलोचना संबंधी सैद्धांतिक लेखों को एक जगह एकत्र कर एक 'ऐन्थोलॉजी' बनाई जाय। इस दिशा में इत्मीनान के साथ हमने कार्य करना शुरू किया और धीरे-धीरे 500 पृष्ठों की चुनी हुयी सामग्री हमारे पास जमा हो गई। दो भागों में पक्षधर का यह महाविशेषांक इसी सोच और कार्य-योजना की एक प्रस्तुति है। पर, यहाँ यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हिंदी में उपन्यास आलोचना का परिदृश्य बहुत संतोषजनक नहीं है। हमने कोशिश की है कि, इस संकलन में उन्हीं लेखों को शामिल किया जाएगा जो उपन्यास के सिद्धान्त पक्ष को लेकर लिखे गए हैं। व्यावहारिक आलोचना और समीक्षा वाले लेख इसमें शामिल नहीं किए जाएँगे।

हमने यह किया भी। यह कहते हुए दुःख हो रहा है कि इनमें से प्रायः सभी लेख या तो उपन्यास की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं या उपन्यास के उदय और इतिहास की कहानी कहते हैं या उपन्यास की कला और टेक्निक के नाम पर उपन्यास के तत्वों का उल्लेख करते हैं या सिद्धान्त और चिंतन के नाम पर उपन्यास के 'रूप' और 'ढाँचे' को लेकर 'भारतीय' और 'पाश्चात्य' के विवाद और बहस को चलाते हैं। वस्तुतः आलोचनात्मक सिद्धांत के नाम पर स्थिति अत्यंत ही दयनीय है। पाश्चात्य आलोचना के ही विचार और सिद्धान्त इस जमीन पर बीज रूप में यत्र-तत्र छिंटे गए हैं। छिंटे जा रहे हैं। हिंदी में कथालोचना, उसमें भी उपन्यास आलोचना की जमीन की न तो ठीक से पैमाइश हुयी, और न ही उसे ठीक से जाँचा परखा गया। इसके पीछे उपेक्षा कम चुनौती अधिक महत्वपूर्ण कारण रहा है। जब-तब अगर किसी की नजर पड़ भी गयी तो वह 'दृष्टिपात' ही रहा 'लोचन' कभी नहीं बन पाया। इसीलिए, आज तक हिंदी में उपन्यास आलोचना पर कोई ठीक-ठिकाने की मुकम्मल सैद्धान्तिक पुस्तक नहीं है जिससे हिंदी उपन्यास के 'शास्त्र' का पता चल सके।

आज के इस गैर-औपन्यासिक व आलोचना-विरोधी समय में उपन्यास आलोचना पर पक्षधर का यह महाविशेषांक आपके हाथों में है। इस महाविशेषांक के साथ पक्षधर ने एक दशक का सफर तय कर लिया। इन दस सालों में पक्षधर ने अपनी आवाज नहीं गँवाई, उसे बनाए बचाए रखा। इसे हमारी शेखी न माना जाय बल्कि इसे पाठकों और शुभचिंतकों की ओर से उनके आत्मविश्वास के पक्ष में एक स्वाभाविक उक्ति की तरह लिया जाय। दो खंडों के इस महाविशेषांक की सामग्री जुटाना अजय आनंद के सहयोग के बिना संभव नहीं था। इस महाविशेषांक के लिए उनका यह योगदान उल्लेखनीय है। हमारी इस कार्य-योजना का तीसरा भाग अभी आना शेष है जो एक-दो सामान्य अंकों के बाद आगे किसी अंक के रूप में प्रकाशित होगा। वह तीसरा भाग भारतीय भाषाओं और अँग्रेजी में उपन्यास आलोचना पर लिखे गए सैद्धान्तिक लेखों का अनूदित संकलन होगा। इन तीन खंडों के साथ 'एन्थोलॉजी' की हमारी योजना पूरी हो सकेगी। मेरी जानकारी में उपन्यास आलोचना की ऐसी 'एन्थोलॉजी' हिंदी में अब तक नहीं है। जिन पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से ये लेख लिए गए हैं उनके लेखक और संपादकों के हम आभारी हैं।

ए. बी. वर्द्धन, रवींद्र कालिया, रणधीर सिंह, सुधीर तैलंग, ब्रह्मदेव शर्मा, रोहित वेमुला निदा फाजली, ए.वी.एन. कुरुप और अंबर्तो इको जैसे साहित्य, कला और राजनीति की दुनिया के अत्यंत महत्वपूर्ण लोग अब हमारे बीच नहीं हैं। स्मृति के रूप में वे अपने कार्य और विचारों से ही अब हमारे बीच बने रहेंगे। पक्षधर की ओर से उन्हें श्रद्धांजलि।

**विनोद तिवारी**

## उपन्यास

बालकृष्ण भट्ट

उपन्यास तीन शब्दों से मिलकर बना है उप नि आस। हिंदी का न्यास संस्कृत के न्यासः से बना है, जिसकी व्युत्पत्ति नि + अस् में घञ् प्रत्यय लगने से हुई है। न्यास का अर्थ हैरखना, आरोपण करना आदि। इसमें 'उप' उपसर्ग लगने से बनता है उपन्यास। जिसका अर्थ हैनिकट रखना। अमरकोश में तमाम अर्थों का सार बताते हुए उपन्यास का अर्थ बातचीत करना बताया गया है। अमरकोश में उपन्यास के लिए शब्द मिलता है उपन्यासस्तु व । इमुखम्। हम लोग इन दिनों के भाषा लेखक जहाँ बहुत से नए-नए शब्दों की गढ़न्त और उनका प्रयोग अपने मन के माफिक करते जाते हैं, उसी तरह उपन्यास भी अंग्रेजी नोवेल के अर्थ में लिया जाता है; नोवेल के ढंग का गद्य काव्य लिखने का तरीका हमारी प्राचीन संस्कृत लिखावट में न था। कुछ-कुछ इस क्रम का लेख चम्पू है पर चम्पू निरा गद्य काव्य नहीं है किन्तु 'गद्य पद्यमयचम्पू' ऐसा साहित्यकार दर्पणकार ने चम्पू का लक्षण लिखा है परन्तु चम्पू सिवा दो के और किसी काम के नहीं है एक श्रीबिक्रम भट्ट का 'नल चम्पू' दूसरा कवि कर्णपूर का 'वृन्द ब्रज चम्पू' यह दूसरा चम्पू भी हमारी समझ से इतना प्रशंसनीय नहीं है आदि के दो-तीन स्तवों में तो अलबत्ता कुछ चमत्कार दरसाया है। बाकी तो वही प्राचीन संस्कृत लेखकों के डोल पर दशमस्कन्ध को कन्या भाग के विस्तार से पूरा कर दिया गया है ओर और कई एक चम्पू जैसा 'नृसिंह चम्पू' इत्यादि कोई किसी प्रयोजन के नहीं हैं न काव्य रसिकों के विशेष मनभावने हो सकते हैं; चम्पू ही के ढंग का 'प्रेम पत्तन' नामक गौड़ीय गोसाइयों के सम्प्रदाय का एक ग्रन्थ है पर बन्दरों के हाथ में भारी समान, इसे गुसाई लोग इतना छिपाते हैं कि किसी को इसका दर्शन तक नहीं कराते; उपन्यास के ढंग पर दण्डी कवि का 'दश कुमार चरित' है इसमें प्रसाद गुण और पद लालित्य तो अलबत्ता है पर उन दस राजकुमारों का चरित्र इतना असत् है कि उससे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं निकलती; एक सुबन्धु कवि का क्षुद्र गद्य काव्य वासवदत्ता आख्यायिका' tale है पर यह प्रसाद गुण रहित क्लिष्ट और श्लेषपूर्ण है। कि सुकुमार मति



वाले छात्रों को इसमें कुछ आनन्द नहीं मिल सकता न इसका बन्धान किसी काम का है। अतएव पढ़ने वालों को इसमें किसी तरह का मनोरंजन नहीं है; ठीक-ठीक उपन्यास के ढंग का गद्य काव्य बाणभट्ट का 'हर्षचरित्' और 'कादम्बरी' है सो हर्षचरित काश्मीरधिपति श्री हर्ष के जीवन चरित के क्रम पर लिखा गया है। बन्धान Plot इसका किसी काम का नहीं है पर और बातें जैसा प्रसाद, माधुर्य, पद लालित्य आदि गुणों में क्या कहना, बाणभट्ट की रचना का जवाब नहीं है। इसमें जो वर्णनात्मकता है वह अद्भुत है। इसके वर्णन का उच्छिष्ट, जूठा बटोर और-और लोग कवि बनते हैं। अंग्रेजी नोबेल के ठीक-ठीक क्रम का 'कादम्बरी' आख्यान है जिसमें सांगोपांग गुण उपन्यास के मिलते हैं क्या भया जो संस्कृत में उपन्यास नहीं हैं एक 'कादम्बरी' अकेली उस न्यूनता को भरपूर पूर्ण करती है। बंग भाषा में 'दुर्गेश नन्दिनी' प्रभृति शतसः उपन्यास एक से एक चढ़-बढ़ कर हैं बंगदेसी जैसा और बातों में उत्साह और तरक्की के ओर छोर तक पहुँचते हैं वेसा ही नाटक और उपन्यास लिखने में भी किसी से कम नहीं हैं। उर्दू में 'अलिफ लैला' उपन्यास की गिनती में समावेसित हो सकता है। अलिफ लैला के किस्सों की बन्दिश ही सराहने योग्य है; अब मुख्य उपन्यास सम्बन्धी लेख अंग्रेजी ही भाषा का एक अंग है हम लोग जैसा और बातों में अंग्रेजों की नकल करते हैं वैसा ही उपन्यास लिखना भी उन्हीं के दृष्टान्त पर सीख रहे हैं; हाल ही में लाला श्रीनिवास दास जी का 'परीक्षा गुरु' नामक ग्रन्थ जिसे हम उपन्यास ही में गिनते हैं और जिसका समालोचना में हमारे प्रिय शुभचिन्तक सा.सु.नि. (सार सुधा निधि) के सुयोग्य सम्पादक महाशय हम से कुछ अनमने से हो गए हैं। अलबत्ता कुछ कुछ अंग्रेजी नावेल के ढंग पर है परन्तु नावेल प्रौढ़ बुद्धिवालों के लिए लिखे जाते हैं न कि निरे स्कूलों में क ख ग सीखने वालों के लिए। ग्रन्थकर्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी ही अगर प्रगट करना था तो 'गुलदस्ते यखलाक' या विद्यांकुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते। यदि इस उपन्यास के सब ठौर ठौर के अनुवाद निकाल लिए जाएँ तो Original Poriton असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रही न जाएगा। इसी से सुकुमार मति वाले स्कूल के बालकों को Novel Reading उपन्यास का पढ़ना गुणकारी नहीं समझा जाता। उपन्यास तो प्रौढ़ बुद्धि युवा जनों के मन रमाने वाली गुटिका है जिसका मुख्य अंग शृंगार रस है। इसी कारण यह Immoral असत् काव्य समझा जाता है बिना जिसके यह ऐसा भासित होता है जैसा सर्वांग सुन्दरी रमणी की किसी ने नाक काट लिया हो; बन्दिश परीक्षा गुरु की निस्सन्देह बहुत उत्तमोत्तम और यथार्थ है पर इसकी भाषा की रुखाई और निरा उपदेश वाक्य पढ़ते-पढ़ते जी ऊब जाता है इसी से हमने लिखा कि नावेल Immoral असत्-उपदेशक होकर भी बुरे और भले पात्रों के चरित्र का बराबर में मुकाबिला करते अन्त में भले पात्र को उपन्यास के किस्से का मुख्य नायक बनाए। एक ऐसी भारी शिक्षा उस्में से निकल आती है कि यह उसके समस्त असत् लेख को ढांप लेती है; इस तरह लेख की चातुरी केवल रेनॉल्ड साहब की मिस्ट्रीज में है जिसे हम कादम्बरी से भी कई बातें में उत्तम समझते हैं; सच सच तो यों है कि हिन्दी अभी इस लायक हुई ही नहीं कि इसमें नावेल लिखे जायें न निखालिस हिन्दी रसिकों की समझ अभी अतनी बड़ी है कि नावेल की काट-छाँट समझ सकें।

(हिन्दी प्रदीप, जनवरी : 1883 से)

## उपन्यास-रहस्य

---

महावीर प्रसाद द्विवेदी

आजकल हिन्दी साहित्य में उपन्यास-नामधारिणी पुस्तकों की भरमार हो रही है। इन पुस्तकों में से प्रायः 95 फीसदी पुस्तकें उपन्यास कदापि नहीं, और चाहे जो कुछ हों। उपन्यासों और क्रिसे-कहानी की पुस्तकों की चाह होने के कारण अधिकारी और अनाधिकारी सभी लेखक 'अव्यापारेषु व्यापारः' करने में व्यस्त हैं। जो यह भी नहीं जानता कि मानस-शास्त्र भी कोई शास्त्र है, जो यह भी नहीं जानता कि चरित्र-चित्रण किस चिड़िया का नाम है, जिसे इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं उसकी पुस्तक के पाठ से पाठक का चरित्र बिगड़ेगा या बनेगा, वह भी उपन्यास लिख-लिख कर नाम नहीं तो दाम उपार्जन करने की फिक्र में हैं। इस तरह की चेष्टायें कभी-कभी अत्यन्त उपहास्य मार्गों का अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिए दवाओं, पुस्तकों तथा अन्य चीजों के दुकानदार कोई अण्डबण्ड कहानी गढ़ लेते हैं। फिर बीच-बीच में अपनी चीजों का विज्ञापन देकर उस पुस्तक का कोई भड़कीला औपन्यासिक नाम रखते हैं। तब उसे प्रकाशित करते और बेचते हैं। अभी एक ही हफ्ता हुआ होगा, हमने एक ऐसा उपन्यास देखा जो किसी स्कूल या कॉलेज के किसी छात्र की रचना है। रचयिता ने भूमिका में यह बात बड़े गर्व से लिखी है कि मैंने दो-ढाई सौ सफे का यह उपन्यास दस ही पन्द्रह रोज में लिख डाला है। पुस्तकें लिखने का उत्साह बुरी बात नहीं, पर अनधिकार चेष्टा की कुछ सीमा भी तो होनी चाहिए। यह न होना चाहिए कि बिच्छू का तो मन्त्र न जाने और साँप के बिल में हाथ डाले। कुरुचिपूर्ण पुस्तकें लिखने से लेखक को अर्थ-लाभ हो सकता है, पर उससे समाज को हानि पहुँचती है। अतएव इस तरह के लेखक समाज की दृष्टि में दण्डनीय हैं।

साहित्य का एक अंग उपन्यास भी है। यह अंग बड़े महत्त्व का है। यह संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थ साहित्य में भी पाया जाता है। पर अंकुर रूप ही में इसके दर्शन होते हैं। हाँ, जैन लेखकों ने इस तरह के कुछ अच्छे-अच्छे ग्रन्थ जरूर लिखे हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है संभव है, ऐसी पुस्तकें बहुत रही हों, पर वे सब अब उपलब्ध नहीं। इन पुस्तकों

में कथा-कहानियों के बहाने धर्मतत्त्व और सदाचार की शिक्षा दी गई है। इनको छोड़कर संस्कृतभाषा में लिखी गई 'कथा सरित्सागर', 'कादम्बरी', 'वासवदत्ता' और 'दशकुमार-चरित' आदि कई पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती; मानसशास्त्र के आधार पर किए गए चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को नहीं मिलती। हाँ किसी हद तक इनसे मनोरंजन जरूर होता है। बस।

प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्हीं ने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है। उन्होंने इस अंग के कला निरूपण संबंध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं; आख्यायिका किसे कहते हैं; उनमें क्या गुण होने चाहिए; उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है; इत्यादि।

यह बात नहीं है कि जिन लोगों ने पश्चिमी पण्डितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रन्थ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा उपन्यास लिख ही नहीं सकते। जिनको मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से उन्हें लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पण्डितों के तत्त्व-निरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।

साहित्य के इस अंग में बंग भाषा के कई सुलेखक कृतकार्य हुए हैं। विद्यमान लेखकों में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इस समय सबसे आगे हैं, उनके 'गोरा' नामक उपन्यास में सुनते हैं अच्छे उपन्यास के अनेक गुण पाये जाते हैं। तथापि बंगला भाषा में उपन्यास लेखकों में भी अच्छे लेखक बहुत थोड़े हैं, अधिकता बुरे उपन्यास लिखने वालों की है। इन पिछले लेखकों की विषाक्त रचना से सामाजिक बन्धनों की ग्रन्थि शिथिल हो जाने का डर है। खेद है, हिन्दी में इस तरह के चरित्र-नाशक उपन्यासों ही के अनुवाद अधिकता से हो रहे हैं। बंगला के अच्छे उपन्यासों के अनुवादों के दर्शन बहुत ही कम होते हैं। इस दृश्य में सन्तोष की बात इतनी ही है कि समझदार लेखक और प्रकाशक अच्छे और बुरे उपन्यासों का अंतर अब कुछ-कुछ समझने लगे हैं।

उस दिन इलाहाबाद के 'लीडर' नाम अंग्रेजी भाषा के दैनिक पत्र का एक अंक हमने खोला तो उसके एक सफे का सफा एक समालोचना से भरा दिखाई दिया। उस पर नजर डाली तो प्राचीन समय के कुछ नाम दिख पड़े। आरम्भ का कुछ अंश पढ़ने पर मालूम हुआ कि यह तो हिन्दी के दो उपन्यासों की आलोचना है। तब हमने उसे सघान्त पढ़ा। समालोचना थी 'करुणा' और 'शशांक' नामक दोनों उपन्यासों की। जिन मौर्य नरेशों को हुए हजारों वर्ष हो चुके उनके समय के सामाजिक और राजनैतिक दृश्य इन उपन्यासों में दिखाए गए हैं। यह बात हमने इस समालोचना से ही जानी; क्योंकि इन पुस्तकों को हमने स्वयं नहीं देखा। मूल रचना एक बंगाली पुरातत्त्वज्ञ की है। अतएव उपन्यासों के गुण-दोषों के उत्तरदाता वही हैं। समालोचना में पुस्तकों की खूब स्तुति प्रशंसा थी। यदि उन पुस्तकों में उस जमाने की रहन-सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रिवाज, राजनैतिक चालों आदि ही के दृश्य हों तो भी पुस्तकें अच्छी ही कही जाएंगी। और यदि समाज कल्याण की दृष्टि से उनसे कुछ शिक्षा भी मिलती हो तो फिर कहना ही क्या है। हां, यदि उनमें उस जमाने के सामाजिक दोषों के भी उल्लेख हों और वे दोष समाज के लिए हानिकारी हों तो बात जरा विचारणीय हो जाएगी, क्योंकि कुछ पण्डितों की सम्मति में ऐसे दृश्य दिखाना वांछनीय नहीं। हां, जो लोग समाज का सच्चा

ही चित्र, चाहे वह भला हो चाहे बुरा, दिखाना उपन्यासकार का कर्तव्य समझते हैं, वे अब इस संबंध में मीनमेख न करेंगे। अस्तु, यह तो अवान्तर बात हुई। 'लीडर' में प्रकाशित समालोचना का उल्लेख हमने और ही मतलब से किया है। वह यह कि अब अंग्रेजी भाषा के सैंकड़ों उपन्यास चाट जाने वाले लोग भी हिन्दी में लिखे गए उपन्यास पढ़ने लगे हैं। अच्छे समझकर ही अंग्रेजीदों समालोचक ने पूर्वोक्त पुस्तकों की समालोचना लिखने और छपाने का श्रम उठाया है। फिर चाहे उसने स्वतः प्रवृत्त होकर यह काम किया हो, चाहे किसी के इशारे या प्रेरणा से किया हो।

ऊपर जिन दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ वे अनुवाद मात्र हैं। हिन्दी के सौभाग्य से इन प्रान्तों में एक ऐसे भी उपन्यास-लेखक प्रकाश में आ रहे हैं जिनके उपन्यास, सुनते हैं, उन्हीं की उपज हैं। 'सुनते हैं' इसलिए, क्योंकि हमको उनकी उपज का स्वतः कुछ भी ज्ञान नहीं। उनके जिन दो उपन्यासों की आलोचनाओं और विज्ञापनों में धूम, कुछ समय से है, वे हमारे देखने में नहीं आए। उसका नाम 'सेवाश्रम', या कुछ इसी तरह का है। इन उपन्यासों की जहाँ और अनेक लेखकों ने स्तुति और प्रशंसा की है वहाँ एक आध ने पिछले उपन्यास में बहुत-से दोष भी ढूँढ निकाले हैं और व्याख्या सहित उन्हें दिखाया भी है। दोषोद्भावना करने में दोषदर्शक ने उपन्यास लेखक के कानूनी अज्ञान, मनःशास्त्रविषयक अज्ञान, सामाजिक नियम-संबंधी अज्ञान आदि दिखाने का प्रयत्न किया है। यह अज्ञान-परम्परा उपन्यास लेखक के किसी पक्षपाती को मान्य नहीं हुई; और, सम्भव है, खुद लेखक को भी मान्य न हो। इसी से कृताक्षेपों का खण्डनात्मक उत्तर भी कहीं हमने पढ़ा है। स्मरण तो यही कहता है।<sup>1</sup>

अच्छा तो उपन्यासों के गुण-दोषों की परख क्या है? इसके उत्तर में हम अपनी तरफ से अधिक नहीं लिख सकते और लिखना भी नहीं चाहते, क्योंकि हम इस विषय के ज्ञाता नहीं। अतएव हम उपन्यास-रहस्य के कुछ ज्ञाताओं के कथन के आधार पर ही कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

मनुष्य जो काम करता है, मन की प्रेरणा से करता है। और मन से संबंध रखनेवाला एक शास्त्र ही जुदा है। वह मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान कहलाता है। उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों, और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे संबंध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसा काम होता है। अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उनके कार्यकारण-संबंध का ज्ञान हो। अतएव उपन्यास-लेखक के लिए मनोविज्ञान के कम-से-कम स्थूल नियमों का जानना अनिवार्य होना चाहिए। उपन्यास लिखने वाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किए उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिए। उसके घटना-निवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषता और अतिरंजन न होना चाहिए। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखकों को मनःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अन्यथा भाव-विश्लेषण ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

1. यहाँ द्विवेदी जी ने प्रेमचंद के 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' उपन्यासों के संदर्भ में बातें कही हैं। इन दोनों उपन्यासों का एक नाम 'सेवाश्रम' से उल्लेख किया है। (सं.)

उपन्यास-रहस्य के ज्ञाताओं के दो दल हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया वह पहले दल की सम्मति है। इस सम्मति का सारांश यह है कि मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र के नियम जहाँ-जहाँ ले जाएँ उपन्यासकार को वहीं वहीं जाना चाहिए और तदनुसार ही घटनावलियों और चरित्रों की सृष्टि करनी चाहिए। अनिष्ट-प्राप्ति से, मनुष्य का मन विचलित हो उठता है और वह विलाप करने लगता है। यह मानसिक नियम है। पहले दल के कायल लेखक इसी का अनुगमन करके घटना-निर्माण करेंगे। यदि किसी पक्के वेदान्ती या विरागी को अनिष्ट लाभ से कुछ भी दुःख न हो तो उसे अपवाद नियम विरुद्ध बात समझेंगे।

दूसरे दल के अनुयायियों का कहना है कि मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो जरूर मानना चाहिए, पर सदा ही उनसे विचार-परम्परा को जकड़ लेना ठीक नहीं। सभी घटनाओं और सभी भावों के संबंध में मनःशास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी रोचक और स्वाभाविक नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखण्ड सत्ता नहीं देखी जाती। मनःशास्त्र में जिस कारण से जैसे कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य नहीं उत्पन्न होता। अतएव जैसी घटनाएँ लोक में हुआ करती हैं और मनुष्य-समाज में जैसे कार्य-कारण-भाव देखने में प्रायः आया करते हैं तदनुकूल ही उपन्यास-रचना होनी चाहिए। मनुष्य का मानसिक भाव उसे जिस अवस्था में ले जाए उसी का वर्णन करना चाहिए; इस बात की परवा न करनी चाहिए कि मनोविज्ञान के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती; अतएव इसका वर्णन त्याज्य है। घटनावली के निदर्शन और भावों के चित्रण की जड़ में मनोविज्ञान रहे जरूर, पर वह छिपा हुआ रहे। शरीर के भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रहकर शरीर संगठन में सहायता देता है। वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा-भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिए। जो इस खूबी को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियमों के पचड़े को गुप्त रखकर चरित्र-चित्रण करते हैं। उन्हीं के उपन्यासों का अधिक आदर होता है।

मानसिक नियमों का पालन दृढ़तापूर्वक करके कोई किसी अन्य पुरुष या स्त्री के भावों का ठीक-ठीक विश्लेषण कर भी नहीं सकता। बात यह है कि सबके मन एक से नहीं होते। सबकी ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एक सी नहीं होती। किसी अवस्था-विशेष में पड़ने पर राम जिस प्रकार का व्यवहार करता है श्याम उस प्रकार का नहीं करता, यह बात हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। इस दशा में पद-पद पर मनोविज्ञान की दुहाई देना और राम और श्याम के कार्यों का वैज्ञानिक कारण ढूँढना भ्रम के गर्त में गिरने और घटनावैचित्र्य में नीरसता लाने का द्वार खोल देना है। हर मनुष्य के संस्कार जुदा-जुदा होते हैं। उनके अनुसार ही उनके कार्य-कारण हुआ करते हैं। वे किसी नियमावली के पाबन्द नहीं। आपके पास यदि कोई धूर्त आवे तथा चेष्टा तथा वाणी से अपनी निर्धनता का झूठा भाव प्रकट करके आपसे 5 रुपये ले जाए तो बताइए, आप धोखा खा जाएंगे या नहीं। सो, संसार में मनोभाव के यथार्थ ज्ञापक कार्य सदा होते भी तो नहीं।

इसके सिवा एक बात और भी है। ये जितने अच्छे-अच्छे उपन्यास आजकल विद्यमान हैं उनके कुंद, इन्दु और मल्लिका, मदयन्तिका आदि पात्रों के हृदयों में उपन्यास-लेखकों को ही आप बैठा समझिए। इन पात्रों के भाव-विश्लेषण के जो चित्र आप देखते हैं, वे उनके निज के मन के प्रतिबिम्ब कदापि नहीं। वे तो उपन्यास लेखकों ही के मन के प्रतिबिम्ब हैं। मनोभावों और संस्कारों के अनेकत्व में लेखक उनका यथार्थ और सम्पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। वह करता क्या है कि अपने मन की माप से और के मन की माप-तौल करता है। वह देखता

है कि अमुक अवस्था या अमुक अवसर यदि आ जाए तो मैं इस प्रकार का व्यवहार करूँगा। बस, वह समझता है कि सारी दुनिया उसी में अर्न्तभुक्त है; अवस्था-विशेष में जो वह करेगा या कहेगा वही सब लोग करेंगे या कहेंगे। पर इस प्रकार की धारणा कोरी भ्रान्ति है।

अच्छा तो मनोविज्ञान के शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रान्त नहीं हो सकता वैसे ही अपने मन को माप-दण्ड समझकर उसी से औरों के मन की माप करना भी भ्रान्ति-रहित नहीं हो सकता। इस 'उभयतो पाशांरज्जुः' की दशा में क्या करना चाहिए। क्या उपन्यास लिखना बन्द ही कर देना चाहिए? नहीं, बन्द कदापि नहीं कर देना चाहिए। उपन्यास तो साहित्य की एक बड़ी महत्वपूर्ण शाखा है।

घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार जरूर लेना चाहिए। पर उतना ही जितने से मानवी मन की स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिराने से बचाव हो सके। मनोभावों के कुछ स्थूल नियम हैंभय उपस्थित देख भीत होना, इष्ट-नाश से दुःखित होना, आदि। इन नियमों का अतिक्रमण न करना चाहिए। जिससे मनुष्य मनुष्य ही न रहे; वह पशु, देव या दानव आदि हो जाए। बस। फिर दूसरे के मनोगत भावों की विवृति करते समय अपने ही मन को उसके स्थान पर न बिठा देना चाहिए। अमुक अवसर आने पर मैं यह कहता, मैं यह करता, मैं मार बैठता, मैं उत्तेजित हो जाताइस प्रकार की भावनाओं की प्रेरणा से बहुत करके सत्य का अपलाप हो जाता है। अतएव जिसके मन के मानसिक भावों का विकास करना है उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आसपास की व्यवस्था कीसारांश यह है कि उसकी सम्पूर्ण परिस्थितियों की आलोचना करनी चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय ओर ऐसी परिस्थिति में ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार होंगे। तदनुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। बात यह है कि दुनिया में दूसरे के मन के भाव जानने का और कोई उपाय ही नहीं। परिस्थिति और बहिर्दर्शन ही के द्वारा, अनुमान की सहायता से, दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है। मन का भाव-भाव प्रवाह बाहरी लक्षणों या चिन्हों से जाना जा सकता है। यह मानसशास्त्री भी स्वीकार करते हैं। हर्ष, शोक, विराग, अनुराग, क्रोध, भय आदि भावों या विकारों का मानसिक उदय होने पर शरीर और मुख पर कुछ ऐसे चिन्ह प्रकट हो जाते हैं जिनसे उन-उन विकारों का पता लग जाता है। अतएव दूसरे के मनोगत भावों का चित्रण करने में परिस्थिति के साथ-साथ इन चिन्हों के उदयास्त का भी खूब विचार करके लेखनी-संचालन करना चाहिए। शरीर, भाषा, चित्र, कला, कारीगरी आदि पर भावों की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। इन भावों का विकास कल्पना द्वारा करना चाहिए। परन्तु कल्पना को असंयत न होने देना चाहिए। उसकी गति अबाध हो जाने से वह कुपथ में चली जा सकती है। कभी-कभी शरीर पर आन्तरिक भावों के कृत्रिम चिह्न भी उदित हो जाते हैं। उस समय देखने वाले की इन्द्रियों को धोखा होता है। अतएव कृत्रिम लक्षणों और इन्द्रिय-प्रवंचनों से भी बचना चाहिए। सामाजिक नियमों का, कानून का, धर्म का, देश-काल और पात्र का भी ख्याल रखना चाहिए। उनके प्रतिकूल लिख मारना उपन्यास-लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता का बोधक होता है। ऊपर, एक लेखक के दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ है। उनमें से एक की आलोचना में किसी समालोचक ने कोई कानूनी भूल बताई। लेखक ने या उनके किसी पक्ष समर्थक ने युक्ति-प्रपंच द्वारा उसके खंडन की चेष्टा कर डाली। पर इस तरह की चेष्टाओं से उपन्यास-लेखक की भूल पर धूल नहीं डाली जा सकती। जब तक पुस्तक विद्यमान है तब तक वह भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहेगी। जिस जुर्म के लिए आजकल के कानून जो सजा निर्दिष्ट है उसके सिवा और कोई सजा-चाहे वह उससे थोड़ी हो या बहुत-दिलाने

वाला उपन्यासकार स्वयं ही प्रतिकूल आलोचनारूप सजा का पात्र समझा जाएगा।

सो इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सबका काम नहीं। उपन्यासकार को कल्पना के बल पर नहीं, पर सर्वदा स्वाभाविक, सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन काम को आजकल कोड़ियों जैद और कोड़ियों बक धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव बना दिया जाता है और कहीं कीट-पतंग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर-ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विवृति में संयमशीलता और स्वाभाविकता का कहीं पता, और न उनकी कहानी में चावल भर भी सदुपदेश देने का सामर्थ्य। अनेक उपन्यासों का उद्देश्य अच्छा होने पर भी, बीच-बीच, घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण से संबंध रखने वाली ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं। जिनके कारण विवेकशील पाठक के हृदय में विरक्ति हुए बिना नहीं रहती।

उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में, हिन्दी में तो, अभी कूड़े-कचरे ही का जमाना है। और, आरम्भ में प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में यह बात होती है। अंग्रेजी भाषा में तो अब तक चरित्र-नाशक उपन्यासों की रचना होती जाती है। पर उपन्यास कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं। वह समय गया जब उपन्यास दो घण्टे दिल-बहलाव मात्र का साधन समझा जाता था। निकम्मे हुए बैठे हैं; लाओ कुछ पढ़ें। वक्त नहीं कटता; लाओ 'चपला' या 'चंचला' को ही देख जाएं। उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्याएँ, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म, कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाए जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है, उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं। स्त्रियों और बच्चों के भी वे शिक्षक बन सकते हैं। मेहनत-मजदूरी करने वालों को भी वे घण्टे भर सदुपदेश दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याणकारक है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि सच्चा सामाजिक चित्र दिखाने में उपन्यासकार को संकोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है कि जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की जरूरत हो। फिर उसमें चोरों, डाकुओं, व्याभिकारियों, दुराचारियों आदि के चित्र दिखाने की क्या जरूरत? प्रसंग आ ही जाए तो इस तरह के चित्रों की विवृति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़ने वालों पर बुरा न पड़े। दोष समझकर उसकी विवृति करनी चाहिए। जो उपन्यास-लेखक अश्लील दृश्य दिखाकर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करता है, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है। यदि वह इस तरह के उपन्यास केवल इस इरादे से लिखता और प्रकाशित करता है कि उनकी अधिक बिक्री से वह मालदार हो जाए तो वह गवर्नमेण्ट के न सही, समाज के द्वारा तो अवश्य ही बहुत बड़े दण्ड का पात्र है।

उपन्यास-रचना अब तो पश्चिमी देशों की कला की सीमा को पहुँच गई है। तो उपन्यासकार ऐसे उपन्यास की सृष्टि करता है जिसके पात्रों के चरित्र चिरकाल तक सदुपदेशक और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। वह चाहे तो राजा से लेकर रंक तक को और मजदूर से लेकर करोड़पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो

बड़े-बड़े दुराचारों और कुसंस्कारों की जड़ें हिला दे। वह चाहे तो देश में अद्भुत जाग्रति उत्पन्न करके दुःशासन की भुजाओं को बेकार कर दे। जिस उपन्यासकार की रचना से समाज के किसी अल्प ही समुदाय को कुछ लाभ पहुँच सकता है, सो भी कुछ ही समय तक, वह मध्यम श्रेणी का लेखक है। निकृष्ट वह है जो अपनी कुरुचिदर्द्धक कृतियों से सामाजिक बन्धनों को शिथिल और दुर्वासनाओं को और भी उच्छृंखल कर देता है। दुकानदारी ही की कुत्सित कामना से जो लोग पाठकों को पशुवत् समझकर, घास-पात सदृश अपनी बेसिर-पैर की कहानियाँ उनके सामने फेंकते हैंते के न जानीमहे।

(साहित्य-सन्दर्भ, अक्टूबर 1922 से)



## उपन्यास

---

प्रेमचन्द

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं, उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई परिभाषा ऐसी नहीं है, जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भाँति, सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व और भिन्नत्व, और भिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।

संतान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी संतान प्यारी न हो? लेकिन इस संतान प्रेम की मात्राएँ हैं उसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, लेकिन उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन संचय नहीं करना, उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता जिस तरह भी हो, कुछ धन संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है, जहाँ

संतान का चरित्र प्रधान कारण होता हैजबकि पिता संतान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता हैउसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी संतान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणों को भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी संतान-प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान प्रेम भी देखने में आता है, जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है, उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिएउसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए? यहीं से उपन्यासों के दो गरोह हो गए हैं : एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छाउसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता; बल्कि इसके विपरीत हुआ करता हैनेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैंउनको नेकी का फल उल्टा मिलता है, बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैंउनको बदी का फल उल्टा मिलता है, (प्रकृति का नियम विचित्र है!) यथार्थवादी अनुभवों की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता हैयहाँ तक कि उज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।

इसमें सदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्त को उससे कहीं अधिक काला दिखाएँ, जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़ कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से निजात मिलेवह भूल जाए कि मैं चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो जिसके दिल में ख्याल होता है कि जब हम किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों?

अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तो इच्छा होती है किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और

वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है; लेकिन काँइयापन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे प्राणियों को ऐसे सरल, व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इन बातों की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र होंजिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष होमहान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती, बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरो का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र 'पॉजिटिव' हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, बल्कि उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेना-पति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें, ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धांत पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वही साहित्य चिरायु हो सकता है, जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जाये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है इसमें कोई संदेह नहीं। केवल आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े वह उनसे आंदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान भी रचना द्वारा किसी 'वाद'

का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे उनकी रचना जीवित रहेगी या नहीं, अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाता है, उसका महत्त्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ला मिजरेवुल', टालस्टाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेंस की कितनी ही रचनाएँ, विचार प्रधान होते हुए भी उच्चकोटि की और साहित्यिक हैं, और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुंदरता से करे, जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है, जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसे विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए; अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंग्लैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकार गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेशसबकी रचना हो गई। 'साइलस मार्नर' भी अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं ने लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे की पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गए, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रंगभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला, जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम. ऐंड्रूज हिम' राडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इंजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों से मिले। वह घंटों तक अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, 'मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी, जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हालकेन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिंदी अनुवाद हाल ही में 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। 'मेटरलिक' बेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियन शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोमबोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से।

शेक्सपीयर के नाटकों का मूल स्थान खोज-खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डॉक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपीयर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डॉक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक बृहत् पोथा है, जिसके रचयिता अकबर के दरबार के दरबार वाले फैंजी कहे जाते हैं। हालाँकि हमें यह मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम से कम 20,000 पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व. बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं, जिन पर हजारों वर्षों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आए हैं और शायद हजारों वर्षों तक लिखते जाएँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाईयों के कथा', जिसका पता पहले मिश्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है।

किंतु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नए कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता, जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी बहुत सभी प्रणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहतीकलम उठायी और लिखने लगे; लेकिन नए लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है, मानों वे दरिया कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण सेकिसी को नए, सुरम्य स्थान की सैर से, इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जागृत होती हैं।

ईश्वर-दत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी, उपदेश, शिक्षा, अभ्यास, सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक नए पत्र-सम्पादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निराला है। दल के दल युवकों में से रत्न हैं और कौन पाषाण? वह कागज के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मीदवार को वह टुकड़ा देकर उसका नाम के सम्बन्ध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता हैउसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहता है? उसका बाप क्या करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हें अयोग्य समझकर विदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है, पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए नोटबुक का रखना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक

ने कभी नोटबुक नहीं रखी; पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूत्र, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है, जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीजों को वे अलग-अलग खानों में संगृहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद वह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें संदेह नहीं, लेकिन आरम्भ-काल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना

‘अगस्त 21, 12 बजे दिन; एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सुफेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछें ऐंठी हुई।

‘सितम्बर 1, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब काला, हरा, चमकीला; लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई।’

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों से प्लाट कहाँ मिलते हैं? तो उन्होंने कहा, ‘चारों तरफ।’ अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखे, तो उसे हवा से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हजारों जगहों में सुंदर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छँट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बातों में यह चर्चा छिड़ गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो? इस अंकुर से मैंने कई सुंदर कहानियाँ सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वालटर बेसेंट अपनी ‘उपन्यास-कला’ नामक पुस्तक में लिखते हैं

‘उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए, जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे, वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है; लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कजूस, उड़ाऊ युवक, जुआधारी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नए चरित्र न मिलें; पर जीवन में नवीनता का अभाव नहीं रहा।’

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, वह भी देखिए

‘अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उनसे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अँग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ, जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्रखींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला? (फ्रांस रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई पड़ते)। मालूम हुआ कि उसने एक बार,

केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक बार का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया, जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी, जो एक इंच से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है।’

मिस्टर जी. के. चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण थे। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं

‘कहानी में जो रहस्य हो, उसे कई भागों में बाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में रहस्य खुल जाए! लेकिन हर एक भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए, जिसमें पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाए। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाए। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मजा है, जबकि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूलकर भी संदेह न कर सकता था।’

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है। इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसंद नहीं करता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है, जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो, उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है, तो कहानी आशयहीन हो जाती है; ज्यादा बतलाता है, तो कहानी में मजा नहीं आता। किसी चरित्र की रूपरेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरंत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें ‘राम’ और ‘श्याम’ कहेंगे।

रामगुड ईवनिंग श्याम, कहो आनंद तो है?

श्यामहलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े?

रामकहो क्या रंग ढंग हैं? तुम तो भले ईद के चाँद हो गए।

श्याममैं तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गए।

रामचलते हो संगीतालय की तरफ?

श्यामहाँ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है, जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है, तो वह केवल इतना ही लिख देगा

‘अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।’

(यह आलेख पहले समालोचक : जनवरी, 1925 में प्रकाशित हुआ था,

इसी का संशोधित रूप ‘कुछ विचार’ संकलन में दिया गया है।)

## उपन्यास के विषय

---

प्रेमचन्द

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज से, दूसरी ललित कलाओं से कहीं ज्यादा विस्तृत है। 'वाल्टर बेसेंट' ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किए हैं

‘उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनके देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।’

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार-साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे ऐतिहासिक तत्त्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आपमें कवित्व-शक्ति है, तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुंजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व, आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बंधन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलनेवालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लम्बे-चौड़े मार्गहीन मैदान में चलने-वालों के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में कभी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों; पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है, तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की कमी है, तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह



कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने लेखक हैं, जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक, सूक्ष्म और प्रभाव डालने वाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है; लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर सकते, जीती-जागती तस्वीरें नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओं को पढ़कर हमें यह ख्याल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाठ-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम ख्याल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय; किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है, जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाए; लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की सी हो जायेगी, जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है, तो वह पाठक के आनन्द में बाधक हो जाता है, जो उसके कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार लाना चाहिए, जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लॉट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं में लेखक का उद्देश्य घटना वैचित्र्य दिखाना होता था, इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। साम्प्रतकालीन उपन्यासों में लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों को खोलना होता है, अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाए। ऐसे उपन्यास में उपकथाओं की गुंजाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर पहलू, जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है, तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है। लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए, जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागृत कर दे, जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में जब तक जागृत नहीं होती, जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय। हमारे हृदय के अंतरतम भाव साधारण

दशाओं में आन्दोलित नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओं की कल्पना करनी होती है, जो हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावों की गहराई तक पहुँच जाएँ। अगर किसी अबला की पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो घटना से ज्यादा प्रभाव डालने वाली और कौन घटना हो सकती है। और राजा उसे न पहचानकर उसकी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकल के उपन्यासों में गहरे भावों को स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचंड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आए-दिन की साधारण बातों में ही उलझकर रह जाते हैं।

इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं का और अपकीर्तियों का विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं। मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है, वह कभी कलाविद की महानता को नहीं पा सकता, जो जीवन-संग्राम में एक मनुष्य की आंतरिक दशा को, सत् और असत् के में और अन्त में सत्य की विजय को, मार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियाँ लेना यहाँ तक कि नशतर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता है, लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नशतर से दूर हो जाये, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शांत हो सकती है। किसी को नीचे समझ कर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते; बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर कहने से बहादुर न हो जायेगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुंदर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासों की जैसे बाढ़-सी आ गई है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न था, जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो। जासूसी उपन्यासों में क्यों इतना आनंद आता है? क्या इसका कारण यह है कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गए हैं? जिस समय लोगों को यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा पतन समाज की ओर जा रहा है? शायद इसका कारण हो कि इस व्यावसायिक शांति के युग में ऐसी घटनाओं का अभाव हो गया है, जो मनुष्य के कौतूहल-प्रेम को संतुष्ट कर सकें जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन-लिप्सा उपन्यास के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासों में यही होता है कि कोई आदमी लोभवश किसी धनाढ्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकट में फँसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते हैं वकील आते हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओं में आनन्द नहीं आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई; लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गई। अगर मेरा अनुमान गलत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश में भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास-लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है, जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे तो यह स्पष्ट ही है कि मनुष्य में पशु प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावों के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा, उतना ही पढ़नेवालों पर उसका असर पड़ेगा, और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस

तरह किसी मनुष्य को हम देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, इसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते; बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता है। यह विकास इतने गुप्त, अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़ने वालों को किसी तब्दीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में से किसी का विकास रूक जाए तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योंकि चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे, जैसा वह पहले था उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिंदी के वर्तमान उपन्यासों को देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे, जो काम तो बहुतेरे करते हैं; लेकिन जैसे जो काम वे आदि में करते, उसी तरह, वही अन्त में भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें, तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी। यह कहने की जरूरत नहीं है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्पाठक और लेखक दोनों इस विषय में सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि वह इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था, तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अंकित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार में कोई समान व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भाँति उपन्यास में भी न होना चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शकल सूरत से विशेषता उत्पन्न कर देते हैं; लेकिन असली अन्तर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुंदर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को जो किसी चरित्र के मुँह से निकले उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का पूर्ण रूप से स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासकारों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है, मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उनका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो इंडियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिंदी बोलते पाए जाते हैं; लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं। यह ग्रामीण बातचीत कभी-कभी हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आसपास का आदमी समझ न सकेगा।

वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देश की लगन है, उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग में रंगी नजर आएँगी। लहरी आनंदी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे। जिन्हें जगत-गति नहीं व्यापती। वे जासूसी, तिलिस्मी चीजें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता छलकती रहेगी। अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी वह अपने चरित्रों को जिंदादिल न बना सकेगा। 'आजाद-कथा' को उठा लीजिए, तुरंत मालूम हो जाएगा कि लेखक हँसने हँसानेवाले जीवन हैं, जो जीवन को गम्भीर विचार के योग्य नहीं समझता। जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है, वहाँ शैली शिथिल हो गई है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे,

उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर हैं जो जीवन में बद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराईयों में डूबा है, जिसने जिंदगी के ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति सबका सामाना किया है, जिसकी मखमली गद्दों पर से नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है, जिसमें प्रकाश, जीवन और आनंद प्रदान करने की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठकों की रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हें केवल लेखक की कल्पनाओं से संतोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकता है, जिसमें प्रकाश, जीवन और आनंद प्रदान करने की सामर्थ्य होगी।

इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा, हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है, पर बहुधा हम परिस्थितियों का ऐसा क्रम बाँधते हैं कि अंत स्वाभाविक होने पर भी वह होता है, जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वाँग जितनी खूबसूरती से कर सकें, उतने ही सफल होते हैं, लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वाँग से संतुष्ट न होगा।

यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा; चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देशभक्त का, या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है; क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त होगा।

(‘कुछ विचार’ नामक पुस्तक से)

## उपन्यास-रचना

---

प्रेमचन्द

भारत-निवासियों ने यूरोपियन साहित्य के किसी अंग को इतना ग्रहण नहीं किया जितना उपन्यास को। यहाँ तक कि उपन्यास अब हमारे साहित्य का एक अविच्छेद्य अंग हो गया है। उपन्यास का जन्म चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों की रचना इटालियन उपन्यासों के ही आधार पर की है। यह शैली इतनी प्रिय हुई कि आज समस्त संसार में साहित्य पर उपन्यास ही का आधिपत्य है। गत पचास वर्षों में भारत की साहित्यिक शक्ति का जितना उपयोग उपन्यास-रचना में हुआ उतना शायद साहित्य के किसी भाग में नहीं हुआ। बंगला ने बंकिम पैदा किया, गुजराती के गोविन्ददास, मराठी ने आप्टे, उर्दू ने रतननाथ और शरर, जो संसार के किसी उपन्यासकार से घटकर नहीं है, हिन्दी ने पहले अद्भुत रस के उपन्यासकार पैदा किए पर अब धीरे-धीरे उसमें चरित्र-चित्रण, मनोभाव और जासूसी के उपन्यास भी प्रकाशित होने लगे हैं, और आशा है कि वह थोड़े दिनों में इस विषय में किसी प्रान्तिक-भाषा से दबकर नहीं रहेगी। वास्तव में उपन्यास-रचना को सरल साहित्य (Light literature) कहा जाता है, इसलिए कि इससे पाठकों का मनोरंजन होता है। पर उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है, जितना किसी दार्शनिक को दर्शनशास्त्र के ग्रंथ लिखने में। उसे सबसे पहले उपन्यास का विषय खोजना पड़ता है। क्या लिखे? भौतिक वैभव की असारता दिखावे, या मनोभावों का पारस्परिक संग्राम? कोई गुप्त रहस्य चुने या किसी ऐतिहासिक घटना का चित्रण करे? लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल ही इनमें से कोई विषय पसंद कर लेता है। विषय निर्धारित हो जाने के पश्चात् उसे प्लॉट की चिंता होती है। वह सोता या जागता, चलता हो या बैठा, इसी चिंता में डूबा रहता है। कभी-कभी उसे सोच-विचार में महीना, बरसों लग जाते हैं। इस चिंता में लेखक जितना ही व्यस्त होगा उतनी ही उत्तम उसकी रचना होगी :

उपन्यास की बुनियाद पड़ गयी। अब हमें अपने भवन खड़ा करने के लिए मसाले की आवश्यकता होती है। उसके मुख्य साधन ये हैं :

(1) अवलोकन (2) अनुभव (3) स्वाध्याय (4) अंतर्दृष्टि (5) जिज्ञासा (6) विचार-आकलन ।

कहते हैं, अमरीका के सुविख्यात साहित्यकार मार्क ट्वेन ने इस बात का अनुभव प्राप्त करने के लिए कि बिना टिकट रेल-ट्राम में सफर करने वालों के चित्त की क्या दशा होती है, कई बार बिना टिकट सफर किया। ऐसे ही एक सज्जन ने पेरिस की चकलों की तस्वीर खींचने के लिए महीनों शोहदों और गुंडों की संगति की। एक तीसरे महाशय ने चोर के हृदय के भावों को जानने के लिए स्वयं संध तक मारी। इसका कारण यह जान पड़ता है कि पाश्चात्य देश के लेखक कल्पना-शून्य होते हैं। उपन्यासकार को ऐसी दशाओं और मनोभावों के वर्णन करने में अपनी कल्पना-शक्ति ही सबसे बड़ी मददगार है। ऐसा बिरला ही कोई प्राणी होगा जिसने बचपन में पैसे या मिठाई न चुराई हो, या चोरी से मेला या दंगल देखने न गया हो, अथवा पाठशाला में अध्यापक से बहाने न किए हों। यदि कल्पना-शक्ति तीव्र हो तो इतने अनुभव को चोरों और डकैतों के मनोभाव चित्रित करने में कृतकार्य कर सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कृत्रिम अवस्थाओं में जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे स्वाभाविक नहीं हो सकते। फिर भी उपन्यास की सफलता के लिए अनुभव सर्वप्रधान मंत्र है। उपन्यास-लेखक को यथासाध्य नये-नये दृश्यों को देखने और नये-नये अनुभवों को प्राप्त करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए।

प्राणियों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए दूसरा साधन अपने भावों को टटोलना है। सर फिलिप सिडनी का कहना था कि 'अपनी निगाह अपने हृदय में डालो और जो कुछ देखो, लिखो।' लेखक को अपने कल्पना के द्वारा जितनी ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख सकता है, उतना ही सफल-मनोरथ होता है। तुलसीदास ने पुत्र-शोक कितनी सफलता से दिखाया है। विदित ही है कि उन्हें इस शोक का प्रत्यक्ष अनुभव न था। अपने को शोकातुर वियोगी पिता के स्थान में रखकर ही उन्होंने उन भावों का अनुभव किया होगा।

स्वाध्याय से भी उपन्यासकार को बड़ी मदद मिलती है। एक ऋषि का कथन है कि स्वाध्याय मनुष्य को सम्पूर्ण बना देता है। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास लेखक को पढ़ना न चाहिए, इससे उसकी मौलिकता मारी जाती है। पर स्वर्गीय डी. एल. राय ने कहा है जिस लेखक की मौलिकता पुस्तकावलोकन से मारी जाती है, उसमें मौलिकता है ही नहीं। स्वाध्याय का उद्देश्य यह न होना चाहिए कि किसी कुशल लेखक के भाव और विचार उड़ाए जाएँ, बल्कि अपने भावों और विचारों की अन्य लेखकों से तुलना की जाए और उससे अच्छी रचना करने के लिए अपने को प्रोत्साहित किया जाए। अगर हमें किसी लेखक की रचना में ऐसा कोई स्थान दिखायी दे जहाँ उसकी कल्पना शिथिल पड़ गई है तो हम प्रयत्न करें कि उसी के अनुरूप स्थान पर उससे अच्छा लिख सकें। लेखक को और विशेष कर उपन्यास-लेखक को विविध साहित्य का भलीभाँति अध्ययन किए बिना कलम न उठाना चाहिए। यह बात नहीं है कि बिना बहुत पढ़े कोई अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकता। जिन्हें ईश्वर ने प्रतिभा दी है, उनके लिए बहुत पढ़ना अनिवार्य नहीं है। लेकिन जिस प्रकार बिना व्याकरण पढ़े हुए हम चाहे शुद्ध लिखें, पर अशुद्धियों से बचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रहता, उसी प्रकार तुलना और स्वाध्याय से हमें अपनी त्रुटियों का बोध होता है, हमारी बुद्धि विकसित होती है और उन साधनों की झलक मिल जाती है जिनके द्वारा किसी बड़े लेखक ने सफलता प्राप्त की।

कुछ लोगों को भ्रम है कि अपनी रचनाओं के विषय में किसी से कुछ पूछने या राय लेने से उनका अपमान होता है। पर वास्तव में लेखक को जिज्ञासा की उतनी ही जरूरत है, जितनी कि किसी विद्यार्थी को। फ्रान्सिस बेकन के विषय में कहा जाता है कि वह सदैव ऐसे

पुरुषों से जिज्ञासा करता रहता था, जो किसी विषय में उससे अधिक ज्ञान रखते थे। कोई आदमी चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, सब विधाओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। उसे अगर किसी से कुछ पूछना पड़े तो संकोच क्यों करे? डी. एल. राय महोदय जब कोई ड्रामा लिखते थे, तो उसे अपने रसिक मित्रों को सुनाते थे, उनकी आलोचना का उत्तर देते थे और जहाँ कहीं कायल हो जाते थे, अपनी रचना में काट-छाँट कर देते थे। कभी उन्हें अध्याय के अध्याय और सीन के सीन बदलने पड़ जाते थे। लेखक को सदैव अपना आदर्श ऊँचा रखना चाहिए। उसके मन में यह धारणा होनी चाहिए कि या तो कुछ लिखूँगा ही नहीं, या लिखूँगा तो कोई अच्छी चीज जिससे बढ़कर उसी विषय पर फिर जल्द कोई न लिख सके।

कभी-कभी ऐसा होता है कि रास्ता चलते-चलते कोई नयी बात सूझ जाती है अथवा कोई नया दृश्य आँखों के सामने से गुजर जाता है। लेखक में ऐसा गुण होना चाहिए कि वह ऐसे भावों और दृश्यों को स्मृति-पट पर अंकित कर ले और आवश्यकता पड़ने पर उनका व्यवहार करे। कुछ लेखकों की आदत होती है कि वे अपने साथ नोटबुक रखते हैं और ऐसी बातें उसमें तुरन्त टाँक लेते हैं। जिस लेखक को अपनी स्मरण-शक्ति पर विश्वास न हो उसे अपने साथ नोटबुक अवश्य रखनी चाहिए। डायरी लिखना भी अपने विचारों को लेख-बद्ध करने की आदत डालना है।

प्लाट उन घटनाओं को कहते हैं जो उपन्यास के चरित्रों पर घटित हों। लेकिन केवल घटनाओं का वर्णन करने से ही कहानी में मनोरंजकता का गुण पैदा नहीं हो सकता। उन घटनाओं को कल्पना द्वारा ऐसा सजीव बनाना चाहिए कि उनमें वास्तविकता झलकने लगे। एक उपन्यासकार ने लिखा है कियूक्लेडिस की भाँति हम लोगों को अपनी कथा सामने रख देनी चाहिए और तब तक हल करने में प्रस्तुत हो जाना चाहिए। यूक्लेडिस की विचार-शृंखला में कोई ऐसी युक्ति प्रविष्ट नहीं हो सकती, जिसके लिए वहाँ अनिवार्य रूप से स्थान हो। हम भी उसी का उच्चारण करके उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना कर सकते हैं। साधारणतः प्लाट वह कथा है, जो उपन्यास पढ़ने के बाद साधारण पाठक के हृदय-पट पर अंकित हो जाती है। पुराने ढंग के कथाओं में बस प्लाट ही प्लाट होता था। उसमें रंग और रोगन की मात्रा न रहती थी, इसलिए वह चित्र इतना भड़कीला न होता था। आजकल पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास की कथा दस-पाँच पंक्तियों में ही समाप्त हो जाती है। लेकिन इन्हीं पाँच दस पंक्तियों के सोचने में उपन्यासकार को जितना मनन और चिंतन करना पड़ता है, उतना सारा उपन्यास लिखने में भी नहीं करना पड़ता। वास्तव में प्लाट सोच लेने के बाद फिर लिखना बहुत आसान हो जाता है। लेकिन प्लाट सोचने के साथ ही चरित्रों की कल्पना भी करनी पड़ती है, जिनके द्वारा यह प्लाट प्रदर्शित किया जाए।

चार्ल्स डिकेन्स के विषय में लिखा गया है कि जब यह किसी नए उपन्यास की कल्पना करते थे, तो महीनों तक अपने कमरे में बंद कर विचार-मग्न पड़े रहते थे, न किसी से मिलते थे, न कहीं सैर करने ही जाते थे। जब दो-तीन महीने के बाद उनके किवाड़ खुलते थे, तो उनकी दशा किसी रोगी से अच्छी न होती थी, मुख पीला, आँखें भीतर को धँसी हुई, शरीर दुर्बल। थैकरे के विषय में लिखा हुआ है कि वह संध्या किसी समय नदी के तट पर बैठकर अपने प्लाट सोचा करता था। पर प्लाट को जल्द या देर में कल्पित कर लेना लेखक की बुद्धि-सामर्थ्य पर निर्भर है। जार्ज सैन्ड फ्रान्स की सुविख्यात लेखिका है। उसने सौ से कम उपन्यास नहीं लिखे। पर उसे प्लाट सोचने में बुद्धि नहीं लड़ानी पड़ती थी। वह कलम हाथ में लेकर बैठ जाती थी और लिखने के साथ ही प्लाट भी बनता चला जाता था। सर वाल्टर

स्काट के बारे में यह मशहूर है कि वह प्लाट सोचने से मस्तिष्क नहीं लड़ाते थे। कुछ कहानियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें कोई प्लाट ही नहीं होता। मार्क ट्वेन का *Innocents Abroad* इसी ढंग का उपन्यास है।

प्लाटों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। साधारणतः उसके छः भेद माने गए हैं:

1. कोई अद्भुत घटना।
2. कोई गुप्त रहस्य।
3. मनोभाव चित्रण।
4. चरित्रों का विश्लेषण और तुलना।
5. जीवन के अनुभवों को प्रकट करना।
6. कोई सामाजिक या राजनीतिक सुधार।

**1. अद्भुत :** कहानी वही अद्भुत होती है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो। प्राचीन कथाएँ बहुधा इसी किस्म की होती थी। ऐसी कहानी का उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन है, पढ़ने से कल्पना की वृद्धि होने के कारण बहुधा बालकोपयोगी कहानियों में यह प्रणाली बहुत उपयुक्त समझी जाती है। प्रौढ़ावस्था में ऐसी कहानियों में जी नहीं लगता। बहुधा नैतिक और आचरण-संबंधी उपदेश भी ऐसी कहानियों द्वारा दिए जाते हैं। इंग्लैंड के विख्यात लेखक स्विफ्ट ने 'गुलीवर की यात्रा' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक में समाज पर व्यंग्य किया। वह भी अद्भुत घटनाओं का ही सहारा लेता है। बहुधा दृष्टान्तों या 'एलीगरी' में अद्भुत घटनाओं द्वारा जीवन के गूढ़ तत्त्व हल किए जाते हैं। इंग्लैंड में जान बनियान का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' अद्वितीय ऐलीगरी है। हमारे यहाँ प्राचीन ऋषियों ने बहुधा दृष्टान्तों द्वारा ही जन-साधारण को उपदेश दिए हैं। महाभारत, पुराण, उपनिषद् आदि में ऐसे दृष्टान्त भरे पड़े हैं। वर्तमान समय में टालस्टाय और 'हॉथर्न ने बहुत ही शिक्षाप्रद और अनूठे दृष्टान्त रचे हैं। अतएव अप्राकृतिक घटना-प्रधान उपन्यासों की रचना यदि बहुत सरल है तो उसके साथ ही अत्यन्त कठिन भी है।

**2. गुप्त रहस्य :** जासूसी के उपन्यास सब इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के उपन्यास लिखने में लेखक को दो बड़ी शंकाओं का सामना करना पड़ता है। संभव है रहस्य आरम्भ से ही खुल जाए अथवा लेखक की रहस्योद्घाटना पाठक को संतोषप्रद न हो। भारतवर्ष में पहले ऐसी कहानियों की प्रथा न थी। योरोप में ऐसी कहानियों को लोग बड़े शौक से पढ़ते हैं। इधर कुछ दिनों से पेशाचिक घटनाएँ भी रहस्यों द्वारा प्रकट की जाने लगी हैं। इंग्लैंड में कॉनन डायल इस श्रेणी के उपन्यासकारों में बहुत सिद्धहस्त हैं, फ्रांस में मार्स लेब्लांक और अमेरिका में (एडगर एलन) पो। कॉनन डायल अभी जीवित हैं। और अब अपराधिक विषयों की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति है। जासूसी उपन्यासों में लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना जाहिरा असंभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों न सूझी, यह तो बिल्कुल साधारण बात थी। इसके साथ, पाठक उस रहस्य को किसी दूसरी रीति से खोलने में असमर्थ हो। लेखक का कौशल इस बात में है कि जिस चरित्र को पाठक और लेखक स्वयं दोषी समझते हों वह अंत में निरपराध सिद्ध हो जाए। ऐसे उपन्यास बहुत ही रोचक होते हैं। और उनके पढ़ने से बहुत तीव्र बुद्धि होती है। कठिन समस्याओं में दिमाग लड़ाने की शक्ति पैदा होती है। मगर उनका लिखना इतना कठिन है कि अब तक हिंदी में सिवा कॉनन डायल या अन्य लेखकों की कहानियों के अनुवाद के सिवा किसी ने स्वतंत्र कल्पना नहीं की।



**3. मनोभावों का चित्रण :** ऐसे उपन्यासों में लेखकों का ध्यान घटना-वैचित्र्य की ओर बहुत कम रहता है। वह ऐसी ही घटनाओं की आयोजना करता है। जिनमें उसके चरित्रों को अपने मनोभावों के प्रकट करने का अवसर मिले। घटनाएँ कम होती हैं, पात्रों के विचार अधिक। टाल्सटाय के उपन्यासों में यही गुण प्रधान है। ऐसे उपन्यासों को रचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने को विभिन्न अवस्थाओं में रख सके। इस प्रकार की कहानियों में लेखक को पाठकों के सामने अनिवार्य रूप से अधिकतर अपना ही हृदय खोलकर रखना पड़ता है। दूसरों के मनोगत भावों को जानने का उसके पास और क्या साधन हो सकता है। अपने मन का भाव किसी से नहीं कहता, बल्कि और छिपाता है। अगर किसी ने किसी मित्र के मनोभावों का ज्ञान भी हो सकता है, तो बहुत कम। इसलिए ऐसे उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाना है। उपन्यासकार को नित्य अपने अंतर की ओर ध्यान रखना पड़ता है। जार्ज इलियट के उपन्यास अधिकतर इसी श्रेणी के हैं।

**4. चरित्रों का विश्लेषण और 5. जीवन के अनुभवों को प्रकट करना :** इन दोनों प्रकार के उपन्यास लिखने के लिए जरूरी है कि लेखक में दिव्य-कल्पना-शक्ति के साथ अवलोकन और निरीक्षण की भी प्रचुर मात्रा हो। इसीलिए कहा गया है कि उपन्यासकार को सभी श्रेणी के मनुष्यों से मिलना-जुलना आवश्यक है। उसे अपनी आँखें और कान सदैव खुले रखने चाहिए। एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न विचारों के व्यक्ति क्या करते हैं, एक ही घटना दोनों को किस प्रकार प्रभावित करती है, इसका निरूपण सहज नहीं है। अनुभव बाह्य जगत्-संबंधी भी होते हैं और अंतर जगत्-संबंधी भी। लेखक को प्राकृतिक दृश्यों का, विचित्र घटनाओं का बड़े ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। प्रातः समीर के झोंकों से नदी की तरंगों की कैसी छटा होती है, आकाश-कौन-कौन से रूप धारण करता है, ऐसे अगणित दृश्य सफलता के साथ वही लिख सकता है जिसने स्वयं उनको गौर से देखा हो। केवल कल्पना यहाँ काम नहीं दे सकती। लाजिम है कि लेखक वही दृश्य दिखावे, उन्हीं चरित्रों की तुलना करे, जिनका उसने स्वयं अनुभव किया हो। जिसने समुद्र नहीं देखा, वह किसी बंदर का दृश्य क्यों कर लिखेगा? जिसने ग्रामीणों की संगति नहीं की, वह ग्रामीण जीवन का चित्र क्योंकर खींच सकता है? यही सफलता प्राप्त करने के लिए योरोप के कई विख्यात उपन्यासकारों ने वेश बदलकर उन स्थितियों का अध्ययन किया है, जिनके आधार पर वे अपना उपन्यास लिखना चाहते थे।

**6. कोई सामाजिक या राजनैतिक सुधार :** किसी उद्देश्य विशेष से लिखे गए उपन्यासों की संख्या आजकल सभी भाषाओं में बहुत अधिक है। उर्दू में भी ऐसे कितने ही उपन्यास हैं, मुख्य भाषाओं का तो कहना ही क्या? आजकल 'सुधार-सुधार' के घोर नाद से सारा वायुमंडल निनादित हो रहा है। कहीं पुलिस के सुधार की चर्चा है, कहीं कारागारों की, कहीं न्यायालयों की, कहीं सामाजिक प्रथाओं की, कहीं शिक्षा-पद्धति की। यह विवादास्पद विषय है कि उपन्यास किसी उद्देश्य से लिखना चाहिए या नहीं। प्रवीण समालोचकगण की राय में साहित्य का उद्देश्य केवल भाव-चित्रण ही होना चाहिए। उद्देश्य से लिखी हुई कहानियों में बहुधा लेखक को विवश होकर असंगत बातें कहलानी पड़ती है, अनावश्यक घटनाओं की आयोजना करनी पड़ती है, और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे उपदेशक का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। मगर रसिक समाज किसी से उपदेश लेना नहीं चाहता, उसे उपदेशों से अरुचि है और उपदेशकों से घृणा। वह केवल मनोरंजन और मनोदर्शन चाहता है। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि गत शताब्दी में पाश्चात्य देशों में जितने भी सुधार हुए हैं, उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों के ही द्वारा किया गया था।

डिकेंस के प्रायः सभी उपन्यास, टाल्सटाय के कई उत्तम उपन्यास, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव,

बाल्जाक, ह्यूगो, मेरी करेली, जोला आदि प्रधान उपन्यासकारों ने सुधारों ही के उद्देश्य से अपने ग्रंथ रचे हैं। हाँ, कुशल लेखक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह सुधार के जोश में कथा की रोचकता को कम न होने दे। वह उपन्यास और अपने चरित्रों को उन्हीं परिस्थितियों में रखे जिनको वह सुधारना चाहता है। यह भी परमावश्यक है कि वह सुधार के विषय को खूब सोच ले, और अत्युक्ति से काम न ले, नहीं तो उसका प्रयास कभी सफल न हो सकेगा। लेखक वृन्द प्रायः अपने काल के विधाता होते हैं उनमें अपने देश को, अपने समाज को दुःख, अन्याय तथा मिथ्यावाद से मुक्त करने की प्रबल आकांक्षा होती है। ऐसी दशा में असंभव है कि वह समाज को अपने मनमाने मार्ग पर चलने दे और स्वयं खड़ा हाथ पर हाथ रखे देखता रहे। अगर वह कुछ नहीं कर सकता, तो कलम तो चला ही सकता है। शेक्सपियर और कालिदास के समय में सुधार की आवश्यकता आज से कम न थी, लेकिन उस समय राजनीतिक ज्ञान का इतना प्रसार न था। रईस लोग भोग-विलास करते थे। प्रजा पर क्या गुजरती है, इधर किसी का ध्यान न था, यह समय जीवन-संग्राम का है। आज हम जो शिक्षित कहलाते थे, तटस्थ होकर अन्याय होते नहीं देख सकते।

प्लाट का महत्त्व जानने के बाद अब हम यह जानना चाहेंगे कि अच्छे प्लाट में कौन-कौन सी बातें होनी चाहिए। समालोचकों के अनुसार वे ये हैं सरलता, मौलिकता, रोचकता।

प्लाट सरल होना चाहिए। बहुत उलझा हुआ, पेचीदा, शैतान की आँत, पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाए, ऐसे उपन्यासों को पाठक ऊबकर छोड़ देता है। एक प्रसंग अभी पूरा नहीं होने पाया कि दूसरा आ गया, वह अभी अधूरा ही था कि तीसरा प्रसंग आ गया, इससे पाठक का चित्त चकरा जाता है। पेचीदा प्लाट की कल्पना इतनी मुश्किल नहीं है, जितनी किसी सरल प्लाट की।

सरल प्लाट में बहुत-से चरित्रों की कल्पना नहीं करनी पड़ती, इसीलिए लेखक को अल्पसंख्यक चरित्रों के भाव-विचार, गुण-दोष, आचार-व्यवहार को सूक्ष्म रूप से दिखाने का अवसर मिल जाता है, इससे उसके चरित्रों में सजीवता आ जाती है और वह पाठक के हृदय पर अपना अच्छा या बुरा असर छोड़ जाते हैं। यह बात बहुसंख्यक चरित्रों के साथ नहीं प्राप्त हो सकती। प्लाट में मौलिकता का होना भी जरूरी है। जिस बात या विषय को अन्य लेखकों ने लिख डाला हो, उसे कुछ हेर-फेर करके अपना प्लाट बनाने की चेष्टा करना अनुपयुक्त है।

प्रेम, वियोग आदि विषय पर लिखे जा चुके हैं कि उनमें कोई नवीनता नहीं बाकी रही। अब तो पाठक कहानियों में नये भावों का, नये विचारों का नये चरित्रों का दिग्दर्शन चाहते हैं। अतः 'शुकबहत्तरी' से पाठकों को तस्कीन नहीं होती। प्लाट में कुछ-न-कुछ ताजगी, कुछ-न-कुछ अनोखापन अवश्य होना चाहिए। रही रोचकता, वह मौलिकता की सहगामिनी है। मौलिक प्लाट है तो वह रोचक भी जरूर ही होगा। लेकिन कहानी की रोचकता किसी एक बात पर निर्भर नहीं है। प्लाट की सुंदरता, चरित्रों का चित्रण, घटना का वैचित्र्य, सभी सम्मिश्रित हो जाते हैं। तो रोचकता आप ही आप आ जाती है। हाँ, उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि उसका प्रधान कर्तव्य पाठकों का गम गलत करना, उनका मनोरंजन करना है! और सभी बातें इसके आधीन हैं। जब पाठक का जी ही कहानी में न लगा तो वह क्या लेखक के भावों को समझेगा? क्या उसके अनुभवों का लाभ उठायेगा? वह घृणा के साथ किताब को पटक देगा और सदा के लिए उपन्यासों का निंदक हो जाएगा। आज भी कितने व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जिन्हें उपन्यासों से चिढ़ है। उन्होंने व्रत कर लिया है कि उपन्यास कदापि न पढ़ेंगे। कारण यही है कि हिंदी के वर्तमान उपन्यासों ने उन्हें निराश किया है। नये उपन्यास-लेखकों का कर्तव्य है कि वे उपन्यास-साहित्य के मुख को उज्ज्वल करें, इस बदनामी के दाग को मिटा दें।

(माधुरी : 23 अक्टूबर, 1922 से)

## हिन्दी-उपन्यास लेखकों को उलहाना

काशी प्रसाद जायसवाल

सम्प्रति हिन्दी भाषा में उपन्यासों की बड़ी भरती देख पड़ती हैइनमें से अधिकांश बंग भाषा के उपन्यासों के अनुवाद हैंहिन्दी के मूल उपन्यासों की गणना बहुत थोड़ी है बल्कि यों कहा जाए कि मूल उपन्यास का अभाव है तो फब सकता हैउन अनुवादित उपन्यासों में भी कुछ ऐसे धिनौने हैं कि उनका गंगाजी में प्रवाह कर देना ही श्रेय हैकेवल नागरी अक्षरों में उपन्यास (या कोई पुस्तक) लिखे जाने से वह 'हिन्दी उपन्यास' या 'हिन्दी पुस्तक' नहीं कहा जा सकताएकाध हिन्दी उपन्यास लेखक विद्वान रेनाल्डस साहेब की बराबरी करना चाहते हैं और उन्हीं के पुस्तकों से खींच-खींच कर चोरी/चमारी कर बड़े-बड़े पोथे रंग डालते हैं किन्तु उनका करतब ही उनको रेनाल्डसउपन्यासों का समझने वाला बतला देता है!!!

हमारे देश का कूड़ा-करकट रेनाल्डस अनुकरणशील लेखकों के भ्रष्टचरित्रकारक नष्ट उपन्यासों से देश का वैसा ही बिगाड़ है जैसा पारसी थिएटर तथा उर्दू के किस्सों की किताबों से है बरन में समझता हूँ उससे भी बढ़कर अपकार हो रहा हैहिन्दी के मूल उपन्यासों की तो यह दशा हैअब बंग भाषा से अनुवादित उपन्यासों की ओर ध्यान दीजिएइन उपन्यासों की भाषा तो निःसन्देह अच्छी होती है और किसी-किसी के विषय और रचना भी सराहनीय हैंकिन्तु ऐसे ग्रन्थ गिने गिनाए चार ही पाँच होंगे ! शेष में से विषय निकृष्ट होने के कारण कितने तो ऐसे नष्ट हैं कि 'रद्दी' से कुछ ही भले कहे जा सकते हैं।

बंगदेशीय लेखक अपने उपन्यासों में भारतवर्षीय पात्र और स्थान रखते हैं और उनमें विलायती रीति नीति भर कर हिमालय और सहरा के दृश्यों को एक में मिला एक अद्भुत अपूर्व दृश्य रच डालते हैं और जब उन्हीं पुस्तकों पर हमारे हिन्दी लेखकों की लेखनी फिरती है तो फिर क्या पूछना है एक और भी अनोखी छवि खिंच जाती है। "एक तो तित लौकी दूसरे चढ़ी नीम।"

दो-चार को छोड़कर प्रायः सभी बंग भाषा से अनुवादित उपन्यासों में एक प्रायिक या

सामान्य दोष हैं और उसी दोष के लिए हमारा उलाहना है। वह महादोष यह है मुसलमानों के चरित्र का ऐसा चित्र खींचना कि जिससे यह भाव होने लगे कि संसार के मनुष्य जाति भर में सबसे नीच, दुष्ट, अत्याचारी, विश्वासघातक ये ही होते हैं सभी अवगुण और पापों के मुसलमान अवतार हैं!! पृथ्वी तल पर किसी/विशेष जाति व सम्प्रदाय के जनमात्र या दुष्ट या पापी नहीं हो सकते सबों में अच्छे और बुरे होते हैं।

हिन्दू-मुसलमानों में मेल कराना तो दूर रहा, इस प्रकार दिन-दिन दोनों में परस्पर घृणा और द्वेष बढ़ाया जा रहा है! देश के अहित करने वालों में यों उपन्यास लेखकों का भी साझा है!

हमारे उपन्यास लेखक जी! आप समझते होंगे कि बुझे-बुझाए हिन्दुओं में आप जोश डालकर बड़ा उपकार कर रहे हैं! किन्तु तनिक ध्यान देने से आप जान जाएँगे कि आप कैसा बड़ा उपकार कर रहे हैं। आपके जोश दिलाने से कुछ भी लाभ है? लाभ होना तो दूर रहे उलटी हानि है! जोश दिलाइए और हिन्दू अपना ही लोहूँ पिया करें!!! इसके अतिरिक्त वे कर ही क्या सकते हैं? दोनों दलों में बड़े परिश्रम से यदि प्रीति भाव जमाया भी जाय तो आप उसे लवण सदृश हो फाड़कर अलग कर देते हैं। शाबाश! देश के हितैषियों शाबाश! साधु विचारशील उपन्यास लेखको साधु!! तुम धन्य, हम भी धन्य हैं क्योंकि हम आपके देश भाई कहलाने का 'गौरव रखते हैं'

भाइयो! यदि एक दल के लोग अपने दूसरे दल के प्रति घृणा करने की बुरी प्रकृति छोड़ दें तो कुछ दिनों में दूसरे दल वाले भी उनके तरफ स्वच्छ हृदय हो जाएँ एक हाथ से ताली नहीं बजती

प्रशंसा! "निस्सहाय हिन्दू" के लेखक की है जिसने 15-16 वर्ष की छोटी अवस्था में अपने उपन्यास में एक ऐसा उत्कृष्ट पात्र मुसलमान का रखा कि जिसके सृहृदयता, सौजन्य, सद्गुण और हिन्दी मित्र पर प्रेम का वृत्तान्त पढ़ कर अश्रुधारा नहीं रुक सकती!

हमारे देश हितैषी उपन्यास लेखको! आपसे यह हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि ऐसी चेष्टा किया कीजिए जिससे हिन्दू मुसलमान दोनों दिल से मिल जाएँ आपकी लेखनी में बड़ी शक्ति है आप जो चाहें कर सकते हैं।

उपन्यास लिखना कोई बुरी बात नहीं है यदि "उपन्यास" लिखा जाए तो उपन्यास से संसार में जितना हित और उपकार साधन हो सकता है उतना और किसी प्रकार की पुस्तक से होना कठिन है इससे मनुष्य घोर पापी से देवता में परिणत हो सकता है और तुरा यह कि बिना कोई कठिन परिश्रम के ही।

(‘हिन्दी प्रदीप’ जनवरी-1899 में प्रकाशित यह लेख का. प्र. मिर्जापुर के नाम छपा था। इस लेख के लेखक काशी प्रसाद जायसवाल हैं जो मिर्जापुर के रहने वाले थे।)

## उपन्यास

---

रामचन्द्र शुक्ल

आजकल उपन्यास लिखने में बहुत लोगों की धड़क खुल गई है। इनमें यदि थोड़े ऐसे हैं जिन्हें अपनी कल्पना और अनुभव का सहारा है तो बहुत से ऐसे भी हैं जिनका अन्य भाषाओं की विख्यात पुस्तकों पर ही गुजारा है। उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग है। मानव प्रकृति पर इसका प्रभाव बहुत पड़ता है। अतः अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है जिससे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर हैं। बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है, न कि केवल कल्पना। तोता-मैना का किस्सा और तिलस्म ऐयारी की कहानियाँ निस्सन्देह कल्पना की क्रीड़ा है और असत्य है, पर स्वर्णलता, दुर्गेश नन्दिनी, बंगविजेता, जीवन-सन्ध्या, बड़ा भाई आदि के ढंग के ग्राहस्थ और ऐतिहासिक उपन्यास अनुमान मूलक और सत्य हैं, उच्च श्रेणी के उपन्यासों में वर्णित छोटी-छोटी घटनाओं पर यदि विचार किया जाए तो जान पड़ेगा कि वे यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरिमित व्यापारों से छँटे हुए नमूने हैं।

संसार में मनुष्य जीवन संबंधी बहुत-सी ऐसी बातें नित्य होती रहती हैं जिनका इतिहास लेखा नहीं रख सकता पर जो बड़े महत्त्व की होती हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन इन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं का जोड़ है। पर बड़े-से-बड़े इतिहास और बड़े-से-बड़े जीवन-चरित्र में भी इन घटनाओं का समावेश नहीं हो सकता। जब इन सूक्ष्म घटनाओं के संयोग में कोई उग्र घटना उमड़ पड़ती है तब जाकर इतिहास की दृष्टि उस पर पड़ती है। अपनी असंख्यता और क्षिप्रगति के कारण ऐतिहासिक प्रमाणों की पकड़ में न आनेवाली इन घटनाओं के निदर्शन से निर्मित मनुष्य की अनुमान शक्ति उठ खड़ी होती है जो अनेक व्यापारों के अभ्यास से वैसे

ही किसी एक व्यापार का आरोपण कर सकती है। इस शक्ति को रखने वाले उच्चकोटि के उपन्यास लेखक जिन-जिन बातों का उल्लेख अपनी कथाओं में करते हैं वे सब ऐसी बातें होती हैं जो संसार में बराबर होती रहती हैं और समाज की परिचित गति के अन्तर्भूत होती हैं। जबकि इन घटनाओं का आरोप करने में सृष्टि के व्यापारों के निरीक्षण करने की अपेक्षा हुई तब वे बिल्कुल कल्पना कैसे कही जा सकती हैं? उनका आधार सत्य पर है, उन्हें असत्य नहीं समझना चाहिए।

ऐतिहासिक आख्यानों के वर्णन करने में कविगण इस अनुमान का सहारा लेते हैं। जिन छोटे-छोटे अंशों को इतिहास छलौंग मारता हुआ छोड़ जाता है, कवि अपने सत्यमूलक अनुमान के बल पर उनकी एक लड़ी जोड़कर जीवन का एक चित्र पूरा करके खड़ा करता है। धनुषभंग होने पर परशुराम का राम और लक्ष्मण पर क्रोध करना इतिहास की बात है पर परशुराम और लक्ष्मण के बीच जो-जो बातें हुईं वह कवि का अनुमान है। कवि ने लक्ष्मण और परशुराम के स्वभाव तथा अवसर की ओर ध्यान देकर अनुमान किया कि उनके बीच ये या इसी तरह की बातें अवश्य हुई होंगी। कैकयी का कोपभवन में जाना तो इतिहास ने बतलाया पर उसने जो चुटीली बातें राजा दशरथ को कहीं उन्हें भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने अनुमान के अनुसार जोड़ा है। इन छोटी-छोटी बातों के समावेश के कारण कोई ऐतिहासिक काव्य का आख्यान असत्यमूलक नहीं कहा जा सकता। बिना इन बातों का जोड़ लगाए ऐतिहासिक वृत्त स्वाभाविक मानव व्यापार समझ ही नहीं पड़ते। ऐतिहासिक उपन्यासों के बीच जो पात्र और व्यापार ऊपर से लाए जाते हैं और कल्पित कहे जाते हैं, यदि वे उस समय की सामाजिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल हों तो उन्हें ठीक मान लेना कोई बड़ी भारी भूल नहीं है क्योंकि उनके अनुमान करने का साधन तो हमारे पास है पर खण्डन करने का एक भी नहीं। यदि कोई अनुभवी लेखक महाराणा प्रतापसिंह या शिवाजी की असंख्य सेना में से किसी सैनिक को च्युत कर उसका साहस तब किसी रमणी पर प्रेम तथा उसका गार्हस्थ जीवन आदि दिखलावे तो हमें इन बातों को अघटित और सत्य मानने का कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि हमें तो उस समय का सामाजिक चित्र देखना है, न कि किसी व्यक्ति के विषय में छानबीन करना। इसी प्रकार किसी इतिहास प्रसिद्ध घटना के ऐसे अंगों का वर्णन करना भी उपन्यास लेखक का काम है। जिन पर इतिहास ने ध्यान नहीं दिया। यदि हल्दीघाटी की लड़ाई का दृश्य दिखाने में लिखा जाए कि 'रामसिंह ने भाला मारा, गाजी खाँ की पगड़ी गिरी', राजपूतों को महाराणा ने यह कहकर बढ़ावा दिया, 'अमुक भील ने पत्थर लुढ़काया', तो इन अनुमानित व्यापारों को उस लड़ाई के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं है। ऐसे ही व्यापार की आंशिक व साधारण सूचना पाकर उपन्यासकर्ता विशेष उदाहरण का अनुमान भी कर सकता है। जैसे औरंगजेब के लिए हिन्दुओं को सताना और उनके मन्दिर तोड़ना साधारण प्रसिद्ध बात है। अतः यदि उस समय की कहानी लिखते हुए कोई किसी बस्ती में एक विशेष नाम का मन्दिर अनुमान करते उसका तोड़ा जाना दिखलावे तथा अनुमानित व्यक्ति विशेष की पीठ पर काजी के कट्टरपन के कारण कोड़े पड़ने की बात सुनावे तो वह मिथ्या-भाषण का दोष नहीं।

इतिहास कभी उन बहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिए जिनसे जीवन का तार बंधा है एक सांकेतिक व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है पर उपन्यास का सन्तोष इस प्रकार नहीं हो सकता। इतिहास कहीं यह कहकर छुट्टी पा जाएगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब यह अत्याचार शब्द के अन्तर्गत बहुत से व्यापार आ सकते हैं। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी-किसी को प्रत्यक्ष करने में लग जाएगा।

यहाँ पर यह भी समझ रखना चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यासकर्ताओं के इस अधिकार की भी सीमा है। यह उन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं को ऊपर से ला सकता है जो किसी ऐतिहासिक घटना के अन्तर्गत अनुमान की जा सकें, अथवा संसार की गति और समाज की तत्कालीन अवस्था का अंग समझी जा सकें। न वह किसी विख्यात घटना में उलटफेर कर सकता है और न ऐसी बातों को ठूस सकता है जिनका अनुमान उस समय की अवस्था को देखते नहीं हो सकता। इन ऊपर लिखी बातों पर विचार करने से ही यह विदित हो गया होगा कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के पूरे ज्ञान के साथ-ही-साथ परम्परागत रहन-सहन, बोलचाल की आलोचना शक्ति आदि भी खूब होनी चाहिए।

सामाजिक उपन्यास जिन-जिन चरित्रों को सामने लाते हैं, वे या तो ऐसे हैं जो सामाजिक व्यापारों के औसत हैं अथवा जिनका होना मानव प्रवृत्ति की चरम सीमा पर सम्भव है। कहीं पर ये उपन्यास यह दिखलाते हैं कि समाज क्या है और कहीं पर यह दिखलाते हैं कि समाज को कैसा होना चाहिए। ये कहीं तो उन असंख्य व्यापारों में से जिनसे हम घिरे हैं कुछ एक को ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर देते हैं जहाँ से हम उनका यथार्थ रूप और सृष्टि के बीच उनका संबंध दृष्टि गड़ाकर देख सकते हैं और कहीं उन सम्भावनाओं की सूचना देते हैं जिनसे सब मनुष्य जीवन, देवजीवन और यह धराधाम स्वर्गधाम हो सकता है। सतोगुण की जो मुग्धकारिणी छाया ये प्रतिभासम्पन्न लेखक एक बार डाल देते हैं वह पाठक के हृदय पर से जीवन भर नहीं हिलतीं, मानव अन्तःकरण के सौन्दर्य की जो झलक ये एक बार दिखा देते हैं यह कभी नहीं भूलती। कथा के मिथ से मनुष्य जीवन के बीच भले और बुरे कर्मों की स्थिति दिखाकर जितना ये लेखक आँख खोल सकते हैं उतना अहंकार से भरे हुए नीति के कोरे उपदेश देने वाले नहीं। चाणक्य, स्माइल्स आदि नीति छँटने वाले रूखे लेखक जनसाधारण से अपने को श्रेष्ठ समझ कर जिस ढब से आदेश चलाते हैं वह मनुष्य की आत्माभिमान वृत्ति को अखर सकता है। ये लोग सदाचार का स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं दिखला सकते जिनकी ओर मनुष्य मोहित होकर आपसे आप ढल पड़ता है। अस्तु, चाणक्य नीति और स्माइल्स के 'कैरेक्टर' आदि की अपेक्षा उत्तम श्रेणी के उपन्यासों का पढ़ना आचरण पर कहीं बढ़कर प्रभाव डालता है।

बड़े लोगों के जो जीवनचरित्र लिखे जाते हैं वे भी मानव-जीवन के पूरे और सच्चे चित्र नहीं। उनमें भी बहुत-सी सूक्ष्म घटनाएँ तो असामर्थ्य के कारण छूट जाती हैं और बहुत-सी स्थूल घटनाएँ किसी विशेष अभिप्राय से छिपा दी जाती हैं। उनमें मनुष्य के अन्तःकरण की वृत्तियाँ साफ-साफ नहीं झलकाई जाती। बावेल आदि अंग्रेजी लेखकों ने अपने चरित्र नायकों की बहुत छोटी-छोटी बातें भी दर्ज की हैं पर वे जोड़-सी मालूम होती हैं, उनमें औपन्यासिक पूर्णता नहीं आई। बादशाहों तथा वैभवशाली पुरुषों के जो चरित्र लिखे जाते हैं वे तो और भी कृत्रिम होते हैं। किसी महाराज ने अपनी गाड़ी पर से उतर अस्पताल में जा किसी रोगी से दो बातें पूछ लीं तो उनकी दया और करुणा का ठिकाना नहीं। क्या इन बातों से मानव अन्तःकरण की सच्ची परख हो सकती है। वड्सवर्थ, थैकरे, डिकेंस, और जार्ज एलियट आदि बड़े-बड़े अंग्रेजी कवि और उपन्यास लेखक तथा लेखिकाओं ने दीन से दीन और तुच्छ से तुच्छ लोगों को झोंपड़ियों में जीवन के ऊँचे से ऊँचे आदर्श दिखलाए हैं।

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-14, संख्या 1, 15 जुलाई, 1910 से)

## उपन्यास और नीति

गुलाब राय

वैसे तो उपन्यास और नीति का प्रश्न कला और नीति या आचार के व्यापक प्रश्न का ही अंग हैं, किंतु उपन्यास के सम्बन्ध में यह प्रश्न कुछ उग्र रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश लोग उपन्यास को मनोरंजन की वस्तु समझ लेते हैं। उनके लिए नीति की अपेक्षा मन को रमाने के गुण की अधिक खोज होती है, किन्तु उपन्यास अपने विकास में उस श्रेणी को पार कर चुका है जहाँ वह केवल कौतूहल की तृप्ति और मनोरंजन का साधन था। अब यह विचार के प्रचार में निबन्ध के निकट आता जा रहा है।

हमारे देश में तो साहित्य या काव्य को 'आह्लादैकमयी' और 'नियतिकृत नियम रहिता' कहा अवश्य है, और ये गुण उसमें किसी अंश में घटते भी हैं, किन्तु काव्य के प्रयोजनों में 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् कान्ता का-सा प्रेमपूर्ण उपदेश देना भी काव्य के प्रयोजनों में आता है। जो बातें काव्य के लिए व्यापक रूप से कही जाती हैं वे उपन्यास पर भी काव्य के अंग होने के कारण लागू होती हैं। प्रश्न यह होता है उपदेश और नीति के लिए हम नीति और धर्मशास्त्र के ग्रन्थ ही क्यों न पढ़ें, उपन्यास या काव्य क्यों पढ़ें? इसका उत्तर हमारे यहाँ के साहित्य-शास्त्रियों ने इस प्रकार दिया हैवेदादि का उपदेश तो प्रभु के आदेश-सा होता है, उसमें विधि-निषेध की आज्ञा-मात्र रहती है। पुराणों का उपदेश सुदृढ़ का-सा होता है, उसमें ऊँच-नीच समझाकर बात को उदाहरण द्वारा पुष्ट किया जाता है, किन्तु काव्य का उपदेश स्त्री के उपदेश की भाँति प्रेम का आग्रह और हित-चिन्तन की भावना लेकर आता है। उपन्यास के द्वारा जो बातें कही जाती हैं वे सीधी उपदेश के रूप में नहीं वरन् एक सरस और हृदयग्राही ढंग से कही जाती हैं।

उपन्यास भी एक प्रकार से गद्य का प्रबन्ध-काव्य है। सीधा उपदेश तो प्रबन्ध-काव्य में भी ग्राह्य नहीं होता। वह तभी काव्य होता है जब प्रबन्ध के अन्तर्गत किसी उपयुक्त पात्र द्वारा, जैसे 'रामचरितमानस' में सती अनसूया द्वारा पतिव्रत धर्म का उपदेश दिलाया गया है,



अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। 'परीक्षा गुरु' आदि में नीति का उपदेश कुछ अधिक मात्रा में और प्रायः इसी ढंग से दिया गया है। उसने 'हितोपदेश' का ढंग अपनाया है, जिसमें बीच-बीच में उपदेशात्मक पद्यों का समावेश होता गया है। आजकल का उपन्यासकार गद्य की शक्तियों में अधिक विश्वास करता है और उपन्यास रंगमंच की भाँति विचारों के प्रचार का माध्यम बनता जाता है। हिन्दी उपन्यास के माध्यम से गाँधीवाद (जैसे प्रेमचन्द और सियारामशरण के उपन्यासों में) और मार्क्सवाद (जैसे यशपाल, नागर और राहुल के उपन्यासों में) दोनों ही विचार-धाराओं का प्रचार हुआ है। इन विचारों का प्रचार उपन्यास के उद्देश्य या जीवन-दर्शन के अन्तर्गत आता है।

यद्यपि गाँधीवादी विचार-धारा समाज में प्रतिष्ठित नैतिक मानों में कुछ अधिक अनूकूल पड़ती है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मार्क्सवादी विचार-धारा नितान्त अनैतिक है। उद्देश्य तो उसका भी शोषितों का उद्धार है, जो सर्वथा नैतिक है; किन्तु वह साधनों की नैतिकता की परवाह नहीं करता है और न वह हिंसा-अहिंसा का ही इतना ध्यान रखता है।

नीति के व्यापक अर्थ में हमारे जीवन को आगे बढ़ाने वाली जितनी चीजें हैं वे सब उसके अन्तर्गत आती हैं। मालिक-नौकर, अधिकारी-अधिकृत, अवर्ण-सवर्ण, साहूकार और कर्जदार, पूँजीपति और मजदूर, पिता-पुत्र, पति-पत्नी और सास-बहू आदि के जितने सम्बन्ध हैं वे सब नीति के ही अन्तर्गत आते हैं और प्रेमचन्द, कौशिक एवं सुदर्शन आदि के उपन्यासों में इस मानवता-सम्बन्धी नीति का अच्छा उद्घाटन हुआ है।

नीति का एक संकुचित अर्थ भी है और उसमें अधिकांशतः यौन-सम्बन्ध आते हैं। लोकमत में नीति से मतलब प्रायः यौन-नीति से होता है। किसी वस्तु को नैतिक या अनैतिक कहने का आधार या तो शास्त्र होता है, या अन्तःकरण या लोकमत। आजकल शास्त्र की बात भी लोकमत में ही अभिव्यक्त हुआ करती है। अन्तःकरण का सम्बन्ध व्यक्ति से रहता है और समाज का संबंध अधिकांश में लोकमत से रहता है। लोकमत से यदि कोई वस्तु ऊपर आती है तो वह बौद्धिक विवेचन। श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपनी 'चित्रलेखा' में इसी का आश्रय लिया है। कुछ उपन्यासों में यथार्थवाद के नाम पर मनोविश्लेषण और कुछ में स्वतन्त्रता के नाम पर नीति की अवहेलना की गई है।

उग्र, ऋषभचरण जैन और चतुरसेन शास्त्री आदि के उपन्यासों में वासना के नग्न रूप का चित्रण हुआ है। उनका मुक्त-कण्ठ से यही उद्घोष है वे चुनौती देते हैं कि कोई माई का लाल उनको झूठा प्रमाणित कर दे। यदि समाज बुरा है तो उसकी उपन्यासों में जो छाया पड़ेगी बुरी ही पड़ेगी। यह तो हम मानते हैं संसार सितासित तन्तुओं के ताने-बाने से बुना हुआ है, 'गुणदोषमय विश्व कीन्ह कर्तार। लेकिन गुण और दोष, पाप और पुण्य का भी एक अनुपात होता है। यदि उपन्यासकार पाठकों की इन्द्रिय-लोलुप मनोवृत्ति की उत्तेजना और तुष्टि के लिए पाप-पक्ष को अतिरंजित करके दिखावे तो यह उसका ही उत्तरदायित्व है। मनुष्य भलाई की अपेक्षा बुराई को जल्दी ग्रहण करता है, क्योंकि उसको प्रलोभनों का एक काल्पनिक सुख मिलता है। पहले तो काल्पनिक सुख कल्पना में ही सीमित रहता है, किन्तु जब मनुष्य उस कल्पना को वास्तविकता में परिणत करने का प्रयत्न करता है तब या तो नैराश्रय का सामना करना पड़ता है और मनुष्य मानसिक विकृतियों का शिकार बनता है या वह घर-फूँक तमाशा देखकर अभावों और दारिद्र्य का भागीदार बनता है। यथार्थवाद के नाम पर विलास और वासनामय जीवन के अतिरंजन चित्र अंकित किये जाते हैं। नारकीय जीवन को उभार में लाया जाता है और कल्पना के निर्बाध और निरावरण नृत्य के लिए निमन्त्रण दिया जाता है। तथाकथित

यथार्थवादी उपन्यासकारों की दूसरी युक्ति यह है कि वे समाज को उन गहन गर्तों से बचाते हैं जिनमें वे लोग प्रायः पड़ जाते हैं। इसके बहाने वे वास्तव में उन गहन गर्तों और भीषण अन्धकारमय कन्दराओं का पथ प्रदर्शन कर देते हैं।

उपन्यासकारों का एक दूसरा वर्ग वह है कि जो लोक-प्रतिष्ठित आचार-सम्बन्धी विचारों की सापेक्षता दिखाकर उनकी निस्सारता व्यञ्जित करते हैं और सिद्धान्तों का व्यावहारिक असंयम या उनकी दुर्बलता को दिखाकर इस व्यञ्जना को पुष्ट करते हैं। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' इसी कोटि में आती है। लेखक परिस्थितियों के वात्या-चक्र में डालकर सिद्धान्ती कुमारगिरि का पतन करा देता है। अपने सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति वर्मा जी रत्नाम्बर जी महाराज द्वारा कराते हैं,....“जो मनुष्य कुछ करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है। वह कर्ता नहीं है, केवल साधन है, फिर पुण्य और पाप कैसा?”

यह दृष्टिकोण एक प्रकार से मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य (Freedom of will) का विरोधी है। मनुष्य किसी अंश तक परिस्थितियों का दास अवश्य है, किन्तु उसकी मनुष्यता और पुरुषार्थ परिस्थितियों से ऊँचा उठाने में है। परिस्थितियों का शिकार बनते हुए या किसी अंश में मनुष्य का सहयोग नहीं तो निष्क्रिय सहयोग अवश्य रहता है। इसी निष्क्रिय सहयोग के लिए मनुष्य उत्तरदायी ठहराया जाता है। मनुष्य प्रकृति के ऊपर जाता है...“प्रकृतिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलाः।” प्रकृति को गीता में बलवती कहा है, किन्तु मनुष्य का संकल्प उसको प्रकृति से ऊँचा उठाता रहा है। यही मनुष्य और पशु का भेद है, प्रकृति से ऊँचे उठने के प्रयत्न ही सभ्यता की श्रेणियाँ हैं।

वर्माजी का यह विवेचन नितान्त निष्फल नहीं है। यह पापी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने में सहायक होगा, किन्तु प्रकृति की सीमाएँ स्वीकार करनी होंगी। पतित के प्रति सहानुभूति करना धर्म है किन्तु प्रकृति का सहारा लेकर गिरना मानव-श्रेष्ठता का तिरस्कार है। मनोविश्लेषण के नाम पर नीति की अवहेलना करने वालों में इलाचन्द्र जोशी, नरोत्तम नागर एवं वात्स्यायन प्रभृति मुख्य हैं।

मनोविश्लेषण भी परिस्थिति और प्रकृतिवाद का एक मनोवैज्ञानिक रूप है। इनके उपन्यासों से मनोविज्ञान के सिद्धान्त के उदाहरण तो उपस्थित कर दिए जाते हैं किन्तु कहीं-कहीं तो रीतिकाल की भाँति उदाहरण के लिए ही होते हैं। हर एक देश की परम्पराएँ और नैतिक मान्यताएँ अलग-अलग होती हैं। यूरोप द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त शुद्ध विज्ञान के सिद्धान्तों की भाँति मनुष्य-मात्र पर लागू नहीं होते। मानव-विज्ञानों में मनुष्य की स्वतंत्रता का एक बड़ा अंश रहता है। इसलिए कार्य-कारण श्रृंखला भी पूरी तौर से नहीं लग सकती। अभी फ्रायड के सिद्धान्तों को भारतीय जीवन की कसौटी पर कसने की आवश्यकता है तब उनका उपन्यास में उतारना वांछनीय होगा। अस्तु, उन सिद्धान्तों का प्रवृत्ति-मात्र का मूल्य हो सकता है किन्तु दुनिया के लोग पाप-प्रवृत्ति को ही सिद्धान्त मान बैठते हैं। हमारे नवीन उपन्यासों में उन्नयन (Syblimation) के मार्गों पर कम प्रकाश डाला गया है। फ्रायड भी अनैतिक नहीं है। उसने उन्नयन को माना है। मनोविश्लेषण-सम्बन्धी उपन्यास मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्तों को उदाहृत तो करते ही हैं उनका नैतिक मूल्य भी होता है। (यद्यपि मैं भी इलाचन्द्र जोशी से इस बात में सहमत नहीं हूँ कि मनोविश्लेषण अमृतधारा की भाँति सब समस्याओं का हल है।) जोशी जी के 'प्रेत और छाया' में एक नैतिक तथ्य है, वह यह कि यदि किसी में अपने जन्म आदि के सम्बन्ध में झूठी भी हीनता-ग्रन्थि उत्पन्न हो जाय तो कभी-कभी वह अपने नीच जन्म को सार्थक करने के लिए

बड़े-बड़े नीचता के काम कर बैठता है। इसीलिए हमें दूसरे में हीनता के भाव उत्पन्न करने में अत्यन्त सचेत रहना चाहिए। इसका नायक पारसनाथ ऐसी ही ग्रन्थि का शिकार हुआ है, किन्तु इसमें कहीं-कहीं पतन के चित्र अधिक वासनामय और आकर्षक हैं। 'मैं भूखा हूँ, तुम भी भूखी होगी' की व्यञ्जना विशेष परिस्थितियों के कारण स्पष्ट से ही अधिक स्पष्ट है।

श्री जैनेन्द्र जी ने तो अपनी 'सुनीता' में गाँधीवाद के एक चरम सीमा वाले प्रयोग में सुनीता को निरावरण करा दिया है। इसका फल बुरा नहीं हुआ, किन्तु ऐसे अतिमानवीय उदाहरण संसार में मिलते ही कम हैं और उनके उज्ज्वल पक्ष की ओर सहज में निगाह भी नहीं जा सकती। जैनेन्द्र जी ने इसमें जो घर और बाहर का साम्य उपस्थित कराया है वह भी ठीक नहीं। हरिप्रसन्न भी श्रीकान्त जी का मित्र होने के कारण पूर्णतया 'पर' नहीं है। इसको 'स्व' और 'पर' का समझौता नहीं कह सकते। हरिप्रसन्न सुनीता के लिए 'पर' हो सकता है, किन्तु श्रीकान्त के नाते वह 'स्व' बन जाता है।

सामाजिक अत्याचार के उद्घाटन और कभी-कभी स्वतन्त्रता के नाम पर अश्लीलता को प्रश्रय दिया जाता है। ऐसे लोगों के बन्धनों के सामाजिक मूल्य पर भी ध्यान रखना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि सामाजिक बन्धन लचीले न बनाये जाएँ, किन्तु वे केवल स्वतन्त्रता के प्रदर्शन के लिए तोड़े न जायँ। उपन्यास-लेखकों का उत्तरदायित्व महान है। जहाँ उनका कर्तव्य है कि वे जीवन के शुक्ल और कृष्ण पक्ष दोनों पक्षों का चित्रण करें, क्योंकि जीवन की पूर्णता दोनों में है, वहाँ उनका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि कृष्ण-पक्ष की आकर्षक अतिरंजना न करें। दूसरी बात यह है कि यह मानते हुए भी कि उपन्यास सामाजिक प्रयोगशाला है। प्रयोगों को सिद्धान्त का मूल्य न दे दें, वे वकील न बनें, कम से कम संदिग्ध मामलों में। अपनी वकालत में न्यायाधीश के लिए भी स्थान रखें। वे स्वयं न्यायधीश न बन जायँ। पाठकों को भी यह चाहिए कि प्रवृत्तियों को सिद्धान्त न समझें। उपन्यासकार जहाँ तक हो असाधारणता की ओर न जायँ। वे स्वस्थ जीवन का चित्रण करें और ऐसे समाज के निर्माण का प्रयत्न करें जिसमें विविधता में एकता और साम्य हो। पाठकों को चाहिए कि वे उपन्यास के आलोक से जीवन को समझने की कोशिश अवश्य करें, किन्तु उपन्यासों द्वारा चित्रित जीवन को सत्य की चरम स्थिति को न समझें। उसे एक सामाजिक प्रयोग का ही महत्त्व दें।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)

## ऐतिहासिक उपन्यास

राहुल सांकृत्यायन

सरस ललित गद्य बृहत्कथाएँ ऐतिहासिक आधार लेकर हमारे देश में पहले भी लिखी जाती रहीं, पर उन्हें यथार्थवादी ढंग से लिखने की प्रणाली आधुनिक काल की एक विशेष देन है। आधुनिक दृष्टिकोण ने यथार्थवादी कथानक को फीका बना दिया और पाठक अपने मनोरंजन की चीज भी अलौकिक नहीं, लौकिक रूप में देखना चाहने लगे। यही कारण है, जो आज सारे भूमंडल में नए ढंग के कथा-साहित्य, (उपन्यासों और कहानियों) को लिखने-पढ़ने का रिवाज चल पड़ा है। हमारे अधिकांश कथानक वर्तमान काल से सम्बन्ध रखते हैं। यथार्थता का पूरी तौर से अनुसरण करने के लिए यह सुगम भी है, क्योंकि उसके पात्र हमारे सामने मौजूद हैं। हम स्वयं उन्हें में से एक हैं, इसलिए उनके अन्तर-बाह्य से पूर्णतया परिचित हैं। यदि अपने देश काल-पात्र के अनौचित्य के भागी नहीं हो सकते। भविष्य-सम्बन्धी कहानी या उपन्यास बहुत कम लिखे जाते हैं और वह अधिकतर किसी आदर्श को साकार रूप में दिखलाने के लिए ही। काल के अनुसार दूसरी श्रेणी के उपन्यास या कहानी अतीत-सम्बन्धी होते हैं, जिनके लिए यह जरूरी नहीं है कि वह ऐतिहासिक ही हों; पर तो भी कथाकार को किसी-देश-काल को तो रखना ही पड़ेगा और उसे देश-काल तथा उसके सम्बन्धी पात्रों को उनके अनुरूप ही चित्रण करना होगा। हर हालात में यथार्थवाद हमारे ऊपर कुछ जिम्मेवारियाँ, कुछ नियमों की पाबन्दी रखता है।

यह पाबन्दी ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों को निर्वाहित करनी ही होगी। उपन्यास का कलेवर बड़ा होता है, इसलिए उसका हर जगह निर्वाह करना कष्टसाध्य है। उपन्यास प्राग्-इतिहास के सम्बन्ध में भी लिखे जा सकते हैं, पर तब हमारे पात्र ऐतिहासिक नहीं होंगे। प्रागैतिहासिक-काल व्यक्ति-प्रधान नहीं, समाज-प्रधान था, इसलिए तत्सम्बन्धी कथा में एक नहीं अनेक व्यक्ति नायक का पार्ट अदा करेंगे। पर, प्रागैतिहासिक काल को लेकर उपन्यास अभी हमारे यहाँ तो लिखे ही नहीं गये, कहानियाँ जरूर लिखी गई हैं और उनमें भी ऐतिहासिक यथार्थवाद की कसौटी

पर उतरने वाले और भी कम हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है। किन्तु उसके पदचिन्ह कुछ जरूर छोड़े हैं, जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पदचिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों पर पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें? हम देखते हैं, कम-से-कम हमारे देश में, समर्थ कथाकार भी ऐसी गलती कर बैठते हैं और बिना तैयारी के ही कलम उठा लेते हैं। इसमें शक नहीं, यदि उनकी लेखनी चमत्कारिक है, तो साधारण पाठक उसे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ेंगे और हमारे समालोचकों में बहुत ही कम ऐसे हैं जो ऐतिहासिक यथार्थवाद की परख रखते हैं, इसलिए इतिहास के जानकारों और प्रेमियों के लिए सिर में दर्द पैदा करने वाले उपन्यासों पर खूब अच्छी समालोचना या सम्मति भी प्राप्त हो सकती है, लेकिन ऐसे लेखक की कृति पर राय देने का अधिकार आज की के पाठक नहीं रखते, समानधर्मा लोगों की अनेक पीढ़ियाँ उन्हें देखेंगी और वह ऐसे लेखक को तुच्छ दृष्टि से देखेंगे जिन्हें नज्जों की राय की कोई परवाह नहीं, ऐसे वीरों के लिए कुछ कहना नहीं है, उनकी कलम को कोई रोक नहीं सकता और उनके पाठक भी मिल सकते हैं। एक लेखक ऐतिहासिक सामग्री के अवगाहन में अपने परिमित साधनों के कारण अक्षम हो सकता है, पर लाखों रुपए खर्च करके बनने वाले फिल्मों को बनाने वालों को हम साधनहीन नहीं कह सकते, वहाँ तो इस विषय में और भी अँधेर मचा हुआ है। रेडियो पर एक बार अशोक-सम्बन्धी एक कहानी प्रसारित हुई थी, जिसमें बारूद का धमाका करवाया गया था। जहाँ अर्थशास्त्र, साइंस के विलायती यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएट प्रभु और महाप्रभु बनने के सबसे योग्य पात्र समझे जाते हों, वहाँ ऐसा अँधेरखाता क्यों न हो?

जिस समय की कुछ भी प्रमाणित समकालीन लिखित सामग्री प्राप्य है, उसे कथा-साहित्य के लिए ऐतिहासिक मान सकते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ ऐसा काल तीन-चार हजार वर्ष तक का हो सकता है। हरेक ऐतिहासिक कथाकार के लिए आवश्यक नहीं है कि वह सारे काल की प्राप्य सामग्री का समवगाहन करे; यह सम्भव भी नहीं है। ऐतिहासिक सामग्री का हल्के दिल से अध्ययन करना लाभदायक नहीं है। इससे लेखक आधा तीतर आधा बटेर पैदा करने में समर्थ होगा, जो कि और भी उपहासास्पद बात होगी। ऐतिहासिक कथाकार को हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हमारा एक-एक पाँति पर एक बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ-समूह पैनी दृष्टि से देख रहा है। हमारी जरा भी गलती बर्दाश्त नहीं करेगा, वह हमारी भद्द कराएगा। फिर उसके देश और काल के बारे में जितनी ज्ञातव्य बातें हैं, उन्हें जमा करने में लग जाइए। किसी यूनिवर्सिटी के लिए लिखी जाने वाली अच्छी थीसिस से इस सामग्री संचय में कम मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। पकी पकाई सामग्री आपके लिए तैयार शायद ही मिले। वह कुछ मात्रा में मिल भी सकती है, यदि उसी काल और समाज पर किसी अधिकारी लेखक ने कोई उपन्यास लिख डाला हो। उससे आप खुशी से सहायता ले सकते हैं। वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाले उपन्यासों में वर्तमान समाज के चित्रण बहुत कुछ एक जैसे होते हैं, पर उसके कारण हम किसी लेखक को दोषी नहीं ठहरा सकते। साहित्यिक चोरी दूसरी चीज है, जिससे बचना अवश्य चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यासकार का विवेक वैसा ही होना चाहिए जैसा कि इतिहासकार का होता है। उसे समझाना चाहिए कि कौन-सी सामग्री का मूल्य अधिक और किसका कम है। लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जाएगी जिसे उसी समय लिपिबद्ध किया गया हो। ग्रन्थों को बराबर नई प्रतियों के रूप में उतारा जाता रहता है। सभी प्रतिलिपि करने वाले अपने

सफाई देते हैं; 'यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखतं मया। यदि शुद्धमशुद्ध या मम दोषो दीयताम्।' पर जब हम नई प्रतियों में बराबर घटाव-बढ़ाव होता देखते हैं, तो दोष क्यों न देंगे? 'महाभारत' का जो नया संस्करण पूना से निकल रहा है, उससे मालूम होता है कि कितने भारी परिमाण में नए श्लोकों को रचकर उसमें मिलाया गया। 'रामचरितमानस' में कितने अधिक क्षेपक हैं यह आसानी से देखा जा सकता है। इसीलिए समकालीन लिपिबद्ध सामग्री सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। सिक्के, शिलालेख और ताम्र-पत्र उसी समय के लिखे होते हैं, इसीलिए उनका मूल्य अधिक है। वास्तु, मूर्तियाँ, और चित्र अपने समय के समाज के जीवन पर बहुत प्रकाश डालते हैं। अजन्ता की चित्रशालाएँ पाँचवीं से सातवीं सदी के भारत के समाज का बड़ा ही सच्चा चित्र उपस्थित करती हैं। साँची और भरहुत की मूर्तियों को अच्छी तरह अध्ययन किये बिना हम मौर्य और शुंग-काल पर अच्छे उपन्यास नहीं लिख सकते। हरेक ऐतिहासिक उपन्यासकार को जैसे तत्कालीन इतिहासों को पढ़कर नोट कर लेना चाहिए, उसी तरह संग्रहालयों को भी अच्छी तरह से देखना चाहिए। हर तीन-चार शताब्दी के बाद लोगों की वेशभूषा में कितने ही अन्तर आ जाते हैं, जिनका ध्यान रखना जरूरी है। आज जिस तरह हमारे देश में प्रदेश के अनुसार लोगों के वस्त्र आभूषणों में फर्क मालूम होता है, उसी तरह कुछ-न-कुछ पहले भी थायह अध्ययन से मालूम होगा।

ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिए जिस तरह तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। यह तो बल्कि समसामयिक उपन्यास और कहानी-लेखकों के लिए भी जरूरी है। जिस तरह ऐतिहासिक मानदण्ड स्थापित करने के लिए तत्कालीन राजाओं के राज्य और शासन-काल की पहले ही से तालिका बनाकर उसमें वर्णनीय घटनाओं के अध्याय-क्रम को टाँक लेना जरूरी है, उसी तरह भौगोलिक स्थानों, उनकी दिशाओं और दूरियों का ठीक-ठीक अंदाज रहने के लिए तत्सम्बन्धी नक्शे का खाका हर वक्त सामने रखना चाहिए। नक्शा तो हमारे मानस पटल पर अंकित हो जाना चाहिए। ऐसा न करने पर अक्षन्तव्य गलती हो जाती है। नन्दलाल डे ने प्राचीन भूगोल का कोश लिखा है। उसमें नक्शे का ख्याल न रहने के कारण उन्होंने कुमाऊँ को काली और अलीगढ़, एटा जिलों की काली को एक समझ लिया। उन्हें यह ख्याल नहीं आया कि ऐसा होने के लिए दोनों कालियों को गंगा के ऊपर से गुजर कर एक होना पड़ेगा।

मानव के ऐतिहासिक विकास में एक चीज का एक समय अभाव रहता है और दूसरे समय उसका आविष्कार हो जाता है। जो चीज जिस समय अभी आविष्कृत नहीं हुई, उसे उस समय रखना भारी दोष है, उदाहरण के लिए बारूद और बारूदी हथियारों को ले लीजिए। चीन में यद्यपि आतिशबाजी के छोटे-छोटे खिलवाड़ों के लिए बारूद का उपयोग कुछ पहले भी होता था, पर उसे हथियार के तौर पर सबसे पहले चंगेज (1227 ई.) की सेना ने इस्तेमाल किया। अभी भी धातु की तोपें नहीं बन सकी थीं। धातु की तोपें मंगोलों की चमड़े की तोपों को देखकर यूरोप वालों ने निकाले। यही बारूदी तोपें और बन्दूकें थीं जिन्होंने युद्ध में यूरोपियों के पल्ले को भारी कर दिया और उन्होंने सारे विश्व पर अपना अधिकार स्थापित किया। भारत में सबसे पहले बारूदी तोपों का इस्तेमाल बाबर ने पानीपत के मैदान (11 अप्रैल, 1526 ई.) में किया।

उसकी सात सौ यूरोपीय तोपों ने चार-पाँच घंटे में दिल्ली (इब्राहीम लोदी) की सेना को घास-मूली की तरह काटकर रख दिया। 21 अप्रैल 1526 ई. से पहले बारूदी तोपों और हथियारों को अपने उपन्यासों और कहानियों में लाना अनुचित है।

कहा जा सकता है, हमारे यहाँ पहले से ही सारे हथियार मौजूद थे। आपके यहाँ पुष्पक विमान मौजूद थे, बारूदी तोप क्याअणु-बम भी मौजूद थे, पर यह आपके घर की मान्यता है जिसे विचारशील वैज्ञानिक दुनिया नहीं मानती। आप जैसे अपने ओझाओं-सयानों और कथा-पुराणों की 'सच्चाईयों' को अपने कथानकों में नहीं ला सकते, वैसे ही इन पुरानी मान्यताओं या भ्रमों को भी अपने ऐतिहासिक वर्णनों में सम्मिलित नहीं कर सकते।

ऊपर की पंक्तियों को पढ़कर आप कह उठेंगे तब तो ऐतिहासिक उपन्यास और कहानी लिखने के लिए नौ मन तेल वाली शर्त पूरी करनी पड़ेगी। शर्त जरूर पूरी करनी होगी यदि आप गम्भीरतापूर्वक इस क्षेत्र में कदम रखना चाहते हैं, नहीं तो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतिकी' वाला रास्ता आपके लिए खुला है ही।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)

## हिन्दी-साहित्य में उपन्यास

### सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

हिन्दी में भाषा और भावों के बाग में, अभी पतझड़ का ही समय है, जिन डालियों में नए पल्लव, नवीन बसन्त की सूचना के रूप में निकले भी हैं, उन्हें सत्समालोचन के अभाव में कुहरे ने अन्धकार में डाल रक्खा है और यह भी निस्सन्देह है कि अभी साहित्य की पृथ्वी पर उषा की अस्पष्ट छाया ही पड़ी है प्रभात का स्नेहप्रकाश नहीं फैला; अर्थात् यह अभी हिन्दी के उपन्यास साहित्य का बाल्यकाल है, जहाँ असंयत प्रलाप ही शृंखलित परिचय तथा अलाप की जगह, सुन पड़ता है। बाल-हाथों की अधूरी रचनाएँ ही हैं जो रचयिता की मानसिक स्थिति का बयान करती हैं; अभी प्रकृति के विशाल बाग के खुले हुए विविध रंगों के पुष्पों की तरह, समाज तथा परिस्थिति के अम्लान, कला-कान्ति की परकाष्ठा तक पहुँचे हुए, अपने समय तथा ऋतु के गौरव के रूप से दिगन्त को सुरभित करने वाले प्रसून नहीं खिले, उन चित्रों में बाल्य की अस्पष्टता ही अधिक है, सफलता का प्रकाश कम।

सृष्टि का सबसे बड़ा कारण परिस्थितियों का रूपान्तरण है अथवा युग का प्रवर्तन। हिन्दी के युग में प्रवर्तन को अपनी तमाम शक्तियों से इष्टमंत्र की तरह जपकर बुलानेवाले, उसकी प्रतिष्ठा करने वाले उपन्यासकार हैं ही नहीं। उपन्यास की पृथ्वी पर पतझड़ के पश्चात् जो बसन्त की हवा बहती है, उसका स्पर्श ही अभी नहीं मिल रहा है, फिर नए रंग, नए चित्र, नई भरी-पूरी पुष्प पल्लवमयी शोभा तो बड़ी दूर की बात है। समाज जिस धारा में पहले से बहता हुआ आ रहा था, उपन्यासकार उसी धारा में बहते हुए समाज की अवस्था का अपने अधूरे प्रयत्नों से, अधूरी भाषा से, चित्रण करते आए, फल यह हुआ कि हर जगह चित्रकारों से उनके चित्रों की ही शक्ति महान रही है, अतः डरे हुए दुर्बल चित्रकारों के प्रयत्न प्रायः असफल ही रहे हैं; कारण, पूर्व आदर्श की महत्ता तक न वर्तमान समाज ही पहुँचा हुआ है और न ही उसके चित्रित करने वाले चित्रकार। स्वप्न की अस्पष्ट रेखा की तरह उसके खींचे हुए प्राचीन बड़े आदर्श के चित्र वर्तमान जागृति के प्रकाश में छाया-मूर्तियों में ही रह गए हैं,



जिनके साहित्यिक अस्तित्व से अस्तित्व ही प्रबल है। जब तक किसी बहते प्रवाह के प्रतिकूल किसी सत्य की बुनियाद पर ठहरकर कोई उपन्यास नई-नई रचनाओं के चित्र नहीं दिखलाता, तब तक न तो उसे साहित्यिक-शक्ति ही प्राप्त होती है और न समाज को नवीन प्रवहमान जीवन; तभी रचना विशेष शक्ति तथा सौन्दर्य से पुष्ट होकर नवीनता का आवाहन करती है, कला भी साहित्य को नवीन ऐश्वर्य से अलंकृत करती है, कलाकार कला से अधिक महत्त्व प्राप्त करता है, अथवा वह कला का अधिकार समझा जाता है, न कि किसी प्रवाह के साथ बहने वाला, केवल एक अनुसरणकारी। हिन्दी में एक तो नवीन परिवर्तन कोई ऐसा हुआ ही नहीं, दूसरे शिक्षा के अभाव के कारण खेत भी ऊसर ही पड़ा रहा, यद्यपि प्रकृति उस पर नियमानुसार ही वर्षा करती रही। वहाँ अधिकांश जंगली वृक्षों तक बबूलों की ही उपज हुई, कुछ प्रसून भी खिले, जिन्हें जंगली काँटो ने ही रुंध रक्खा।

प्रेमचन्द हिन्दी के सबसे बड़े औपन्यासिक हैं; पर पूर्वकथन के अनुसार, युग को नए साँचे में ढाल देनेवाली रचनाएँ उन्होंने नहीं दीं, युग के अनुकूल रचनाएँ की हैं। प्रायः आदर्श को नहीं छोड़ा। यद्यपि उनके पात्र कभी-कभी प्राकृतिक सत्य की पुष्टि अपने उल्लंघनों तथा उच्छृंखलताओं के भीतर से कर जाते हैं, तथापि रचना में उनके आदर्शवाद की ही विजय रहती है, उनके सितार में वही बोल विशेष रूप से स्पष्ट सुन पड़ता है। हिन्दी के और-और उपन्यासकारों की में कोई चर्चा नहीं करूँगा; कारण उनमें खूबियों की जगह कमजोरियों के ही बीमार चित्र अधिक मिलते हैं। कहीं भाषा रो रही है तो कहीं अन्धे भाव को रास्ता नहीं सूझता; कहीं अकारण ही सफे-के-सफे रंग डाले गए हैं तो कहीं कर्कशता की छुरी से चित्रों की नाक ही काट ली है, किसी किसी महालेखक की भाषा तो ऐसी स्थूलांगी है कि जगह से हिलना भी नहीं चाहती “चलना हराम इसे उठना कसम है” और वहीं से, दूसरों को रिझाने के लिए अपने उपले-से मुँह की मक्खियों-सी आँखों के इशारे करती है। तारीफ यह है कि उस पर मर-मिटनेवालों की भी हिन्दी में कमी नहीं। इस रुचि से हिन्दी के अधिकांश मनुष्यों की रुचि भी मालूम पड़ जाती है। सफल उपन्यासकार यदि कोई निकल जाए तो प्रेमचन्द जी ही देख पड़ते हैं, बहुत अंशों में कहा जाए या कुछ अंशों में, समाज की पूर्वोक्ति रुचि के भीतर पलने के कारण प्रेमचन्दजी को एक ही जगह सफलता मिली है ग्राम्य चित्रों को खींचने में, ग्रामीणों के साधारण चित्रों को असाधारण स्वाभाविकता के साथ खोलने में और मनुष्य-मन की छानबीन में भी। समाज की अनुकूल धारा में रहकर जो कुछ रत्न उन्होंने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य को दिए, वे यही हैं। इनमें उनकी लेखनी से, हिन्दी-संसार की स्थिति और भारतीय मनों के विभिन्न परिचय साहित्य के पृष्ठों में सफलता के साथ अंकित हुए हैं।

पर यह समाज के ऊँचे अंग का चित्रण नहीं। जब तक चित्रकार स्वयं उसकी उच्चता के शिखर पर पहुँचकर उसकी श्री तथा शोभा में स्वयं आत्म-विस्मृत नहीं हो जाता, अपने वायुमण्डल को तदनुकूल ही नहीं बना लेता, उसकी आत्मा में अपने को डुबा नहीं देता, केवल दर्शक की तरह दूर रहकर एक-दूसरे वायुमण्डल में साँस लेकर, तटस्थ रहकर उसके चित्रों को सफलता से खींचना चाहता है, तब तक प्रायः वह असफल ही होता है। भीतर एक दूसरी ही सभ्यता रहेगी, तो साहित्य में एक दूसरी सभ्यता की पराकाष्ठा पर पहुँचकर, प्राणों तक पहुँचकर उत्कर्ष प्राप्त करना आकाश पर दीवार उठाना है। इसीलिए, हिन्दी के उपन्यासों में और प्रायः सब जगह, नवीन सभ्यता और नवीन प्रकाश के प्रदर्शन में अधिकांश चित्र ‘प्रांशुलभ्येफले, मोहादुदबाहुरिव वामनः’, रह गए हैं। अंग्रेजी में अनेक भारतीय लेखक, जिन्हें विलायत में ही शिक्षा मिली है, अंग्रेजी में कविता तथा उपन्यासों के लिखने के प्रयत्न में प्रायः

असफल ही रहे। इसका कारण यही है, उनके हृदय के स्वर में अंग्रेजी सभ्यता का स्वर नहीं मिला। कृत्रिमता जाति के प्राणों को नहीं हिला सकी।

जिस वृहत्तर भारत की आवाज उठाई जा रही है, खासकर बंगाल के ब्राह्म समाज में, उसका नक्शा वहाँ के लोगों के दिलों में इसी आधार पर खिंचा हुआ है। जो लोग कुछ तह तक पहुँचकर चरित्रों को तौल सकते हैं, वे जानते हैं कि इस आवाज के अनुकूल चलना अभी भारत के अधिकांश जनों के लिए असम्भव है; पर है यह एक बड़ी बात, जिसमें भारत के उठने की ओर ही इशारा किया गया है और सत्य के आश्रय पर प्रतिष्ठित है। अवश्य भारत के लिए यह नई बात नहीं। कारण यहाँ समाज के बृहत्तम चित्र मिलते हैं, साथ ही भाषा की शक्ति ललित मधुरता। शकुन्तला जंगल में रहती है पर कालिदास की लेखनी से उससे जिस स्वरूप की छटा निकलती है, वह सभ्य-से-सभ्य मनुष्य के हृदय को अधिकृत कर लेती है। कारण यह कि कालिदास भारत के स्वतंत्र काल के कवि थे और भारतीय आदर्श के अनुकूल ही उनकी भाषा मंजी हुई थी और वृहत् चित्र के ध्यान में वे अपने को मिला सकते थे, आज हिन्दुस्तान के गौरव के दिन नहीं रहे, इसलिए सिर उठाते वक्त लेखकों को सदियों की दासता का भार दबा लेता है और ये शक्ति के अभाव के कारण शक्तिवालों से मुकाबला नहीं कर सकते शक्ति संयुक्त भाषा नहीं लिख सकते पुरुष चित्र नहीं खोल सकते। उनकी रचना उन्हीं की तरह सिर के दुर्व्यवहार की सूचना देती है। हमारे उपन्यास-साहित्य का यही हाल है। समाज की तरह रचनाओं की निगाह भी अधोमुख हो रही है। आँख उठाकर देखने के असामर्थ्य के कारण उनके चित्र भी नेत्रहीन, लक्ष्यभ्रष्ट और पतित हो रहे हैं। राजनीतिक मैदान में जिस तरह बड़ी-बड़ी लड़ाइयों के लिए सिर उठाना आवश्यक है, उसी तरह साहित्य के मैदान में भी है, और चूँकि अभी इस लड़ाई के, हमारे साहित्य की यह दुर्दशा है। नई सृष्टि कोई मामूली बात नहीं। राजनीति के महात्याग से वह कम महत्त्व नहीं रखती। कारण, इस सृष्टि में भी बाहर की तमाम जिन्दगी से संग्राम कर हृदय के एक प्रस्फुट चित्र निकालने में वैसी ही अड़चनें आती हैं और सफलता से वैसा ही सुख भी प्राप्त होता है जैसा कि बाह्य स्वतंत्रता द्वारा। “वह रोटी पकाती थी, इधर उसका बच्चा रोने लगा”। यह सब समाज के ऊँचे अंग के चित्रण नहीं। चित्रों तथा मनोभावों को तमाम अंगों से लाकर एक मनोहर समाप्ति में विराम देना ऊँचे अंग की सृष्टि है, देवियों के वर्तमान चित्रण में अपार भारतीयता का प्रदर्शन कर, आदर्श की पराकाष्ठा पर काष्ठ की तरह बैठे हुए हिन्दू-समाज को हिला देना मेरा उद्देश्य नहीं; कारण, मैं किसी का घोंसला नहीं छीनता, इतना ही कहूँगा, घोंसलेवाले ही हैं और उनके चित्र, चित्रण, चरित्र वर्तमान उन्नत समाजों के मुकाबले में वैसे ही अधम।

(‘प्रबन्ध-प्रतिमा’ नामक पुस्तक से)

## उपन्यास में वास्तविकता

जैनेन्द्र कुमार

कलकत्ते में गुजराती भाषा-भाषियों का एक सहित्य-समाज है। हर पखवाड़े वे लोग मिलते हैं। इधर एक उपन्यास मिल-जुलकर पूरा किया जा रहा है। उसका आरम्भ एक सदस्य ने किया, अगला खण्ड दूसरे ने लिखा और सुनाया, इस तरह सात या आठ बार में वह उपन्यास पूरा होगा। और उतने ही व्यक्ति क्रमशः उसे आगे बढ़ाएँगे।

यह संवाद मुझे बहुत रुचिकर हुआ। देखा कि इससे सजीवता रहती है। ऐसे एक ही सूत्र के सहारे सब अलग रहकर भी एकत्र और अनुबद्ध होने का रस पाते हैं।

उस समाज में एक सदस्य ने पूछा कि उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिए? यह सवाल इस ढंग से पहले सामने नहीं आया था इससे अपने को टटोलने की जरूरत हुई।

वास्तविकता से मतलब इन्द्रियगम्य तथ्य ही न? जो हमें आँखों से देखता है, स्पर्शादि से जान पड़ता है, और तर्क बुद्धि से मान्य होता है, उतना ही हमारे लिए वास्तविक है।

स्पष्ट है कि हमारे वास्तव से आगे और परे भी कुछ तो है ही। उसे हम अवास्तव कह सकते हैं पर क्या उसे असत्य भी कह सकते हैं? असत्य कहे तो जिन्दगी हारे लिए व्यर्थ हो जानी चाहिए और भविष्य कुछ न रहना चाहिए। भविष्य, व्यतीत, उन्नति, विकास इत्यादि शब्द हैं तो इसका यही मतलब है कि वास्तव पर सत्य की सीमा नहीं है। वास्तव से परे भी सत्य है। इसलिए हमारे वास्तव की सीमा असल में हमारी ही सीमा है, सत्य तो असीम है।

अक्सर दो शब्द एक-दूसरे के सामने यहाँ तक कि विरोध में रखकर देखे जाते हैं। वे हैं यथार्थ और आदर्श (The real & the ideal)। आदर्श यथार्थ में नहीं है, वह उससे बाहर होकर ही है। और यथार्थ आदर्श का निषेधक होने को लाचार है, क्योंकि उसके पास कोई साधन नहीं है कि अपने से परे किसी अस्तित्व को वह जाने अथवा मान सके।

इस द्वैत के आधार पर दो दर्शन बने। एक वह जिसके लिए ब्रह्म ही सत्य और संसार सब माया है। वास्तव जो है झूठ है, और जिसका कोई प्रमाण नहीं, जो सब युक्तियों और

साक्षियों से अतीत है, परब्रह्म ही सत्य है। यह आध्यात्मिक दर्शन है।

दूसरा भौतिक दर्शन है। उसके लिए यह रूपाकारमय जगत् न केवल है, बल्कि वही है। इसके अतिरिक्त और भिन्न होकर किसी अज्ञेय तत्व को मानना वहाँ कोरा भ्रम और जड़ता है।

पहले के लिए जगत् स्वप्न है और ब्रह्म ही सत्य है। दूसरे के लिए जगत् सत्य है और आत्मा-परमात्मा वहम है।

इन दोनों के बीच की सच्चाई आँकने की ओर जाने की मेरी वृत्ति नहीं है। वह मेरा वश भी नहीं व्यक्ति स्वभावानुसार बरतता है। मौखिक चर्चा-विवाद से अदलता-बदलता कोई बिरला ही होगा। अक्सर चर्चाएँ आवर्त-चक्र ही रचती हैं और हर पहर को अपने माने हुए सत्य के आचरण से दूर डालती हैं।

भक्त अपनी भक्ति से अपनी मूर्ति बना लेता है। मूर्ति का सत्य भक्त का आत्मार्पण है। उपासक के स्वार्पण से अलग होकर मूर्ति पत्थर है। इसीलिए नास्तिक को दृढ़ता से मानने वाला नास्तिक परम आस्तिक की भाँति व्यवहार करता दीखता है। और जिनके जीवन में तत्परता नहीं ऐसे अनेक आस्तिक जन नास्तिक आचरण करते देखे जाते हैं। नास्तिक शहीद हो गए हैं और आस्तिक कलदार बटोरने में लगे हुए हैं। इससे प्रश्न यह मानने अथवा वह न मानने का नहीं, बल्कि जो माने तो उसे पूरी सच्चाई और तत्परता से मानने का ही है। सच्चा भक्त शून्य की उपासना से भी फल पा जाएगा। जबकि उपासना ही शक्ति हो तो कोई उपास्य उपासक को तार नहीं सकेगा।

इसलिए केवल बौद्धिक धारणाओं को छोड़ दिया जाय। बौद्धिक प्रयोजन ही उनसे सध सकता है, जीवन का कुछ काम नहीं निकल सकता। एक धारणा दूसरी धारणा से अपने आपमें गलत या सही नहीं होती। उसे मानने वाले के जीवन की सच्चाई अथवा झुठाई की अपेक्षा ही उन धारणाओं में सत्यता या मिथ्यात्व आता है।

पर हमें तो यहाँ उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिएइसी बात से मतलब है।

इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास से हम क्या चाहते हैंयह जानें। उपन्यास से क्या हम गति चाहते हैं? उत्कर्ष चाहते हैं? क्या हमें उसे व्यक्तिगत और लोक-जीवन के विकास का साधन बनाना चाहते हैं?

या यह हम उससे नहीं चाहते? तो क्या सामाजिक धरातल की स्थिति पोषक वस्तु बनाना चाहते हैं? यानी खबरें चाहते हैं? अनुरंजन चाहते हैं? अपरे परिचय की विस्तृति चाहते हैं?

उपन्यास के बारे में मेरी अपनी धारणा यह है कि वह जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य। गति धक्के की तरह नहीं। पीठ की ओर से धक्का दीजिए तो उसमें व्यक्ति आगे की ओर बढ़ता तो जरूर है, पर बिगड़ता भी बहुत है। तीव्र और आकस्मिक धक्के हों तो औंधे गिरने की सम्भावना है। इसलिए गति को चैतन्य के अर्थ में कहा। अर्थात् आगे के रास्ते को साफ-साफ आँखों में उँगली डालकर बताने वाला उपन्यास उपन्यास नहीं और साहित्य साहित्य नहीं। गति की सेवा उपन्यास इस पद्धति ने नहीं करता। जिसे इस ओर लोभ हो उसको फिर प्रचारवादी साहित्य (Propagandist literature) कहना होगा। प्रोपेगंडा बढ़ाता है, गति देता है, लेकिन परिणाम में उससे प्रतिक्रिया भी होती है। इसी से सत्साहित्य से प्रचार-साहित्य कहीं गर्वीला होता है। अधिक प्रभविष्णु और कुछ अधिक स्पष्ट भी मालूम होता है क्योंकि तरह-तरह की मान्यताओं के बीच सबको गिराकर किसी एक को प्रतिष्ठित करने की चुनौती की चमक उसमें है। सत्साहित्य में वह आवेश नहीं। उसमें नम्रता की लचक है।

उसे तो समभाव और सहानुभूति का प्रसार करना है न। अतः, विग्रह में जो एक गर्मी और तेजी होती है, वह उसे नहीं चाहिए। विग्रही भाव गमक और चमक ले आता हो और प्रभाव को तात्कालिक भी बना देता हो, फिर भी साहित्य उससे लाभ नहीं उठाता। क्योंकि सच पूछिए तो यह प्रभाव एक के अहंकार के उत्तेजन से आने के कारण स्थायी नहीं होता।

तब रह जाती है वह गति जो आदमी उत्तेजनावश नहीं बल्कि स्वतः स्फूर्ति से करता है। उस गति का वह स्वयं स्वामी होता है। साहित्य को वही गति इष्ट है अर्थात् साहित्य चैतन्य को ही उद्बोधन पहुँचाता है। उस उद्बोधन के प्रकाश में, अपनी परिस्थितियों की अपेक्षा, व्यक्ति फिर स्वयं अपना मार्ग पाता और उस पर बढ़ चलता है। सबके लिए एक रास्ता तो नहीं है; क्योंकि सब एक जगह नहीं है। पर साहित्य सबके लिए है। अतः साहित्य उन दिशाओं से सम्बन्ध नहीं रखता जो परस्पर विपरीत हो सकती हैं, बल्कि उसका उन चैतन्य के विकास से सम्बन्ध है जो किसी भी दिशा में गति करने की सामर्थ्य को समृद्ध करता है। इसी से बाहरी बातों में साहित्य की रुचि-अरुचि तनिक भी बंटी हुई नहीं देखी जाती।

जीवन की गति को इस प्रकार चहुँओर प्रवृत्त करने का काम साहित्य से अनायास सम्पन्न होता है। कारण वह व्यक्ति के अन्तश्चैतन्य को तीव्र करता है। दृष्टि-गोचर होने वाले सब जगद्-व्यापार वास्तव में उसी भीतरी प्राणों की अभिव्यक्ति होने के कारण स्वयमेव साहित्य के बल से मुखरित और उद्भासित होते हैं।

यही कारण है कि साहित्य गति देते हुए भी स्थिति को भंग नहीं करता। उससे गति को वेग मिलता है तब स्थिति को समर्थन भी प्राप्त होता है। दुनिया में स्थिति पालक और सुधारक नाम के दो पक्ष परस्पर समक्ष खड़े होकर एक-दूसरे को ललकारते देखे जाते हैं। साहित्य दोनों के लिए सहारा है। देखा जाता है कि जिन शास्त्रों को लेकर पुराणवादी अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं, अधुनातनवादी भी अपने समर्थक में उन्हीं शास्त्रों का प्रमाण देते हैं बेशक उन दोनों के हाथों शास्त्र का अपलाप होता है। तो यह भी शास्त्र का गुण है कि उसमें दोनों को अपना-अपना अभिमत समर्थित दिखाई दे। इस विशेषता के कारण शास्त्र को निकम्मा ठहरा सकते हो, तो भी वह एकान्तिक नहीं है। एक वर्ग या एक पक्ष को दूसरे की तुलना में नीचा या गलत बतलाने का सीधा काम शास्त्र या साहित्य नहीं करेगा।

कर्म-पक्ष के लोगों में साहित्य तथा शास्त्र के लिए जो उपेक्षा और अवहेलना देखी जाती है उसका कारण भी यही है। राजनीति भेद पर चलती है। एक की विजय वहाँ दूसरे की पराजय पर ही होती है। शक्ति-सम्पादन की पद्धति ही कुछ ऐसी है। पड़ोसी अपेक्षाकृत निर्धन न हो, तब तक धन में सुख कहाँ? दाएँ-बाएँ करोड़पति हों तो अपने लाख में संतोष किसी तरह न हो सकेगा। कर्म-संकुल सतह पर जो एक फेन दिखाई देता है, वह यही है। अहंकारों का एक घमासान चल रहा है। सब बढ़ा-बढ़ी में लगे हैं। नौ को पीछे डाल जो दसवाँ आगे दीख सकता है, वही कुछ है। पर चूँकि कोई ग्यारहवाँ उससे आगे है इससे नौ की पराजय में उसे संतोष नहीं रहता। सांसारिक गति इसी परस्पर की स्पर्धा से उत्तेजना पाकर आवेगमयी दीखती है।

पर वह भ्रमित गति है। वह कहीं पहुँचती नहीं, भरमाती ही है। मुक्ति उससे पास नहीं आती, जगजाल ही बढ़ता है। यद्यपि इस तरह संसार में चकराता प्राणी प्रतिक्षण अपने को चलता हुआ अनुभव करता है पर जारा सोचे तो देख पाए कि वह कोल्हू के बैल की तरह से चलता हुआ भी वहीं का वहीं है।

इसी कारण यह कहकर कि उपन्यास का इष्ट गति है, यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि इस गति का सम्बन्ध बाहरी किसी दिशा से नहीं है। स्थूल दृष्टि से कहें तो उपन्यास का

लक्ष्य बाह्य गतियों को मन्द करना भी कहा जा सकता है। वासनाओं के वशीभूत होकर जो अहंकृत दौड़-धूप की जा रही है, उपन्यास उसकी तो व्यर्थता ही प्रगटाता है। एक आदमी ने जिन्दगी में तीस-चालीस बरस बिताकर इस दुनिया में खूब रुपया बनाया और इज्जत बनाई। आस-पास के लोग उसकी उन्नति पर चकित हैं। पर उपन्यास तो उसे इन्सानियत की तराजू पर ही तौलकर बतलाएगा। तब बिल्कुल सम्भव है कि जगत् में जो लखपति होने के कारण अपनी आकांक्षा का विषय था, उपन्यास में इंसानियत में दिलचस्पी होने के कारण वही आपकी करुणा का पात्र बन जाता है।

फिर भी यह स्पष्ट रहे कि गति-विरोधी स्थिति का समर्थन भी उपन्यास में नहीं है। मात्र स्थिति जड़ता है। पत्थर, सौ दो सौ पाँच सौ वर्ष हो जाएँगे, वैसा का वैसा ही पत्थर रहेगा। इसी से तो वह पत्थर यानी जड़ है। आदमी पैदा होगा और बढ़ेगा। वह क्षण-क्षण बदलेगा। यहाँ तक कि गिनती के पचास-साठ सौ सालों के निरन्तर परिणमन के बाद उसकी चरम परिणति होगी, मृत्यु। इस मृत्यु के कारण ही वह सजीव है। जो मर नहीं सकता, वह जीवित भी नहीं है। फूल आज खिला है, कल मुझा जाएगा। वह मुझाने की शक्ति की फूल की असलियत है। नहीं तो दो साल से कागजी फूलों का गुलदस्ता ज्यों का त्यों मेरे आले में रखा है। जो है उससे वह कुछ भी नहीं हो सकता। इसी से वह फूल नहीं है, छल है, सच्चाई उसमें नहीं है, सिर्फ कला उसमें है।

इस ढंग से देख सकते हैं कि मात्र स्थिति सदोष है। चैतन्य को प्रबुद्ध और ग्रहन करने की वृत्ति जिस उपन्यास में नहीं है और जो सिर्फ मनोरंजन करता है, वह स्थिति-तुष्टि देता है। स्थिति, तुष्टि तामसिक है। इसलिए स्थिति के प्रति एक प्रकार का असंतोष तो साहित्य के फलस्वरूप व्यक्ति में जागना ही चाहिए। केवल मनोरंजन से असन्तोष उल्टे सोता है। अनुरंजन साहित्य की शर्त तो है क्योंकि नीरस कोई वस्तु हमारी वृत्तियों की जड़ों तक नहीं पहुँच सकती। नीरस तत्त्व-शास्त्र से हमारी चेतना का संस्कार नहीं होगा। हमारी सद्वृत्तियों को चेताने वाला कोई प्रभाव होगा तो वह हमें थकाने और उकताने वाला नहीं हो सकता। वह जरूर प्रभाव बौद्धिक से गहरे तल पर जानेवाला होना चाहिए। रस वह है जो बुद्धि के स्तर पर चुक नहीं जाता। वह उससे नीचे के स्तरों को भी छूता और भिगोता है। इसी से शास्त्र निरे प्रतिपादन नहीं हैं, वरन् उनमें प्रसाद है, ऋत है, ऋजुमा है और वर्णन का सौन्दर्य भी है।

इस प्रकार उपन्यास स्थिति से परिबद्ध नहीं होना चाहिए। स्थिति का भंग उसमें इष्ट हो सो नहीं। समाज की रीति-नीति को ध्वस्त करने का कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य उपन्यास अथवा साहित्य नहीं हो सकता। क्योंकि स्थिति उखड़ी तो गति ही औंधी गिरी। क्रान्ति इस तरह साहित्य के निकट एक आलंकारिक (Romantic) शब्द से अधिक नहीं है, उसके पीछे चलना मृग-तृष्णा के पीछे भागना है। उसमें उपलब्धि नहीं सिर्फ तृष्णा है। पर आज की प्रचलित रीति-नीति में बन्द होकर बैठना भी नहीं हो सकता। उसके प्रति आलोचना और अतृप्ति की वृत्ति जरूरी है। जिसमें यह नहीं वह उपन्यास अपना दायित्व पूरा नहीं करता।

इस जगह आरम्भ के प्रश्न को लिया जा सकता है। अगर उपन्यास जीवन के विकास-साधन के लिए है, तो वास्तविकता उसकी मर्यादा नहीं हो सकती। वास्तविकता का धरातल उठेगा उससे जो स्वयं उससे ऊँचा होगा। इससे उपन्यास को वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊँचे पर होना होगा। मैं मानता हूँ कि यह आवश्यक है। उपन्यास वास्तविक होने के लिए नहीं है। वह वास्तविक नहीं होना चाहिए। वास्तविक होने की कोशिश करते वह अपने को निरर्थक ही कर सकता है। उपन्यास के पात्र यदि हम-आप की तरह डेढ़-डेढ़ दो-दो मन के होने लगेंगे

तो इससे दुनिया का कुछ नहीं होगा। उनसे सच्चे अर्थ में हमें लाभ तो तभी कुछ होगा जब वे हमसे कम माँसल और अधिक मानसिक होंगे। उनमें आत्मा अधिक होगी और पंचभूत कम होगा। उसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास के पीछे एक आदर्श की प्रेरणा हो। आदर्श की प्रेरणा को कोई रोमांटिक कहे तो मुझे आपत्ति नहीं आसानी से यह मान लूँगा कि उपन्यास के लिए रोमांटिक-वृत्ति आवश्यक है। यानी वास्तविकता से परे, अलग, ऊँचे जाने वाली वृत्ति भी उपन्यासकार में नितान्त आवश्यक है। जो एकदम वास्तविकता में लिप्त है फिर चाहे वह कितना भी बड़ा आदमी माना जाता हो सफल उपन्यास नहीं लिख सकता। एकदम जरूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, मिस्टिक हो। ज्ञात और वास्तविक के प्रति किंचित उपेक्षाशील वह हो सके और अज्ञात के प्रति उन्मुख। कर्तव्य के साथ वह कुछ स्वप्न भी रखता हो। जरूरी है कि स्वप्न के लिए वह वास्तव को बलिदान कर सकता हो। ऐसा नहीं, तो उपन्यास चित्र-विचित्र घटनाओं या पात्रों का आकलन भर हो जायेगा। यह स्वप्न-शील आदर्श-प्रणता न होने पर कितनी भी तत्त्व-चिन्ता अथवा मनः समीक्षा का चातुर्य उपन्यास में डाला जाय, वह लोगों के मन को नहीं जीत सकेगा, न कोई उत्कर्ष-साधन कर सकेगा।

इस दृष्टि से मैंने उन भाई को खुले कह दिया कि उपन्यास में वास्तविकता नहीं चाहिए। अब यह व्यक्ति के ऊपर है कि वह वास्तव से किस हद तक छुड़ी पा सकता है। असमर्थ व्यक्ति देवताओं की कथा नहीं लिख सकता। ऐसे असमर्थ को वास्तविकता की धरती नहीं छोड़नी चाहिए, पर जिसमें सामर्थ्य है और अपनी कल्पना के जोर से देवताओं को मनुष्य से भी अधिक प्रबल और प्रभावक रूप में चित्रित कर सकता है, वास्तविकता के नाम पर उसे इस काम से रोका जा सकेगा। हमको जानना चाहिए कि हमसे अधिक हमारे देवता जीते हैं। उनकी आयु अधिक है, उनकी शक्ति अधिक है। केवल उनमें शरीर कम है। वे आदर्शप्राण और भावनामय होने के कारण ही क्या अधिक सत्य नहीं हैं? तुलसी से तुलसी के राम कहीं अधिक सत्य हैं। क्योंकि तुलसी इतिहास द्वारा खोजे और पहचाने जा सकते हैं, पर उनके राम के सम्बन्ध में तो ऐसा मालूम होता है कि उनके पिता दशरथ, माता कौशल्या और पत्नी सीता लोक-कथा के ही प्राण हैं, स्थूल जगत् के ही नहीं। राम अनैतिहासिक, अनाधिभौतिक हैं। लगभग वे पूर्णतया आध्यात्मिक हैं। तभी तो वे इतने अधिक सत्य हैं कि आज हिन्दुस्तान का जीवन उनके नाम के बिना चल ही नहीं सकता।

यहाँ वास्तव और सत्य के अन्तर को चीन्हना होगा। वास्तव में Fact और सत्य Truth। उपन्यास सत्य की शोध है। उसकी लगन सत्य दिशा में है। वास्तव (Factual) से उपन्यास आगे (Truth) की ओर गति करता है। अर्थात् वास्तव पर केवल उपन्यास के पैर चाहिए। उसकी अभिलाषा वास्तव में नहीं हो सकती। उपन्यास का हार्द सत्य है, केवल उसका शरीर वास्तव है। जीने के लिए बेशक शरीर चाहिए, पर वह आत्मा के मन्दिर के रूप में हो। अर्थात् शरीर आत्माभिव्यक्ति के साधन रूप में ही सद्द है। यों वह अपने-आप में बाधा है। शरीर की अधिकता जीवन के उत्कर्ष को रोकती है। शरीर को जिसने लाड़ लड़ाया, वह जीवन में महत्त्व सम्पादन नहीं कर सका। इसी तरह वह उपन्यास जिसने जगत् को यथार्थ और वास्तव के आगे माथा झुकाया, उसी कारण हीन रह गया। सिर तो हवा में ही रहता है, हाँ, पैर जरूर धरती पर चाहिए।

इसलिए मैंने वहाँ उन भाई से कहा कि उपन्यास में वास्तविकता यथावश्यक से अधिक बिल्कुल न होनी चाहिए। यथावश्यकता का कोई परिमाण नहीं, जितनी न्यून हो उतना भला। वह तो सिर्फ सत्य-प्रतीति को पाठक तक वहन करने के लिए है। वह वाहन है, उसकी पीठ

पर अधिष्ठित होना चाहिए सत्य। उदाहरण और रूपक से नीति-शिक्षा और आध्यात्म-सार लोगों के हृदयों में डालना है। वह उदाहरण जितना अधिक आडम्बर से हीन ही हो और अपने समूचेपन में उस सार को ही व्यक्त करता हो, उतना ही श्रेष्ठ है। रूपक की अपनी सत्ता ही नहीं है। जो पात्र वहाँ सामने आते हैं, वे व्यक्ति नहीं व्यक्तिकरण हैं। वे प्रतीक-भर हैं। सामाजिक मनुष्य के निकट सत्य-तत्त्व की प्रतीति पहुँचाने में सुविधा सामाजिक पात्रों को वाहन बनाकर कथा रचने से होती है, इसलिए उसके चारों ओर सामाजिकता का वातावरण भी रचा जाता है। ताकि पाठक को ऐसा न लगे कि कुछ बताने के लिए मेरे आगे गढ़न्त गढ़ा जा रहा है। उसे ऐसा लगे कि यह सब कुछ उसके सामने किया नहीं जा रहा है, बल्कि सचमुच हो ही रहा है।

इसी में से यह परिणाम हाथ आता है कि रचनाकार को अपनी रचना के पीछे एकदम लुप्त रहना चाहिए। उसे अपनी ओर से कुछ नहीं कहना है। सारे पात्र उसी को तो कह रहे हैं। उनसे अलग होकर उपन्यास में यदि और कुछ कहा जाता है तो वह उपन्यास की श्रेष्ठता को नहीं बढ़ाता, किञ्चित् उसको ऋण ही करता है। पात्रों का कार्यकलाप ही बस है। उस द्वार के अतिरिक्त जैसे लेखक स्वयं पाठक के हाथ में जाने को उद्यत नहीं। कला की इस आवश्यकता के कारण सामाजिक उपन्यास के बाह्य रूप को बेशक अत्यन्त वास्तविक होकर सामने आना चाहिए। ध्यान रहे कि वास्तविक होने की आवश्यकता कला की आवश्यकता ही है। वह स्वयं वास्तविकता की आवश्यकता नहीं। शरीर स्वच्छ, नीरोग और पुष्ट चाहिए। इसलिए नहीं कि वह पंचभौतिक है, अथवा उसे सुन्दर दिखना है, बल्कि केवल इसलिए कि आत्मा उसमें स्वस्थ रहे। एक तरह से देह धारण करके देही को अलक्ष्य रहने में सुविधा होती है। शरीर है, इसी से उसके भीतर हृदय प्रकट होकर भी छिपा रह सकता है। माया की यही सार्थकता है कि वह ईश्वर को छिपाकर धारण करे।

जैसे अंगूर पर छिलका होता है, वैसे ही उपन्यास पर वास्तविकता का परिधान चाहिए। छिलका केवल रस की सुरक्षा के लिए है। जिसे रस चाहिए वह छिलके को देखेगा भी नहीं। रस पीना है तो उसे छानकर छिलका फेंकने के लिए तैयार होना होगा। यह सही है कि छिलका न होने पर रस एकत्र होने का अवसर ही न पाएगा। लेकिन बस, इससे अधिक उस छिलके का प्रयोजन नहीं है। वास्तविकता का प्रयोजन भी इससे अधिक नहीं है।

यह भी मुझे जान पड़ता है कि कार्य के पीछे के कारण को घटना के पीछे के हेतु को पकड़ने के लिए बाहरी बहुत कुछ छोड़ते जाना होगा। अशर्फी के लिए कौड़ी छोड़नी होगी। अमरता के लिए शरीर को मरने देना होगा। इसी तरह जो ऐक्य इस तमाम अनेकता को धारण कर रहा है उसको पाने के लिए एक-एक को छोड़ते भी जाना होगा।

तभी तो है कि नित्य-नैमित्तिक जीवन की स्थूल घटनाओं का लेखा उपन्यास में नहीं मिलता। उपन्यास के पात्र रोज सबेरे सात बजे ही स्नान करते नहीं दिखाए जाते, न उनके दाँतुन करने और भोजन करने आदि का जिक्र है। उपन्यास अपने चरित्र को जानने और जतलाने के लिए इन सब स्थूल व्यापारों के पार देखेगा। इन सब व्यापारों की सम्भावना और उद्भावना को धारण करनेवाली जो उस चरित्र की मानसिकता है, उसके व्यक्तित्व की भीतरी व्यथा और सत्यता है, उसे दिखलाने का उपन्यास प्रयासी होगा।

पत्तों की गिनती में वृक्ष का सत्य निहित नहीं है। उसके शोध में गहरे जाना हो तो, उसका रस लेना होगा। उस रस की बूँद में ऊपर से यह भी पता न चलेगा कि यह किस वृक्ष का है और इसके कैसे पत्ते रहे होंगे। रस की बूँद में पेड़ की लम्बाई-चौड़ाई और उसकी विविधता का कुछ भी प्रभाव नहीं रह जाता। उस रस के पृथक्करण से इसीलिए वृक्ष का अधिक



सत्य प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ उसकी रूपाकारमय बृहत्ता एकदम गौण वस्तु रह जाती है।

उपन्यास में वास्तविकता का यही स्थान है। सुधी पाठक के लिए वह वाहन-भर है। रसोपलब्धि की दृष्टि से वह परिहार्य तक ठहरती है। धरती पर का आदमी जिन तरह-तरह की लाचारियों के कारण उभर नहीं सकता, क्या उन लाचारियों में उपन्यास के नायक को भी बाँधना होगा? मैं मानता हूँ कि उपन्यास के नायक हमारे भीतर की सम्भावनाओं के चित्र अधिक हैं। वे हमारी अपूर्णता की पूर्तियाँ हैं। वे हमारे फोटोग्राफ नहीं हैं, उससे अधिक हैं। चित्र फोटोग्राफ से अधिक होता है। उपन्यास लेखक भी फोटोग्राफर नहीं है वह चित्रकार है, यानी उसमें विवेक है। उस विवेक द्वारा वास्तव के पर्याप्त अंश को वह छोड़ देता है।

जानता हूँ कि आजकल यथार्थ का एक बाद भी है तो भी मैं नहीं मानता कि आदर्श को हक नहीं है कि यथार्थ को अस्वीकार करे। उपन्यास वास्तव में उस आदर्श की ओर उठने के प्रयास में ही बनना चाहिए। यथार्थ से उठना और यथार्थ को उठाना नहीं है तो उपन्यास का प्रयोजन ही क्या? हाँ, प्रयोजन खोज ला सकते हैं और उन पर उपन्यास लिखे भी जा सकते हैं, पर क्या सचमुच उनको उपन्यास कहना ही होगा?

(‘हिन्दी साहित्य शास्त्र’ नामक पुस्तक से)

## कथा-आख्यायिका और उपन्यास

हजारीप्रसाद द्विवेदी

123 लाखों वर्ग मील में फैले हुए हजारों वर्ष के वृद्ध इस भारतवर्ष की साहित्यिक साधना इतनी विराट, इतनी जटिल और इतनी गंभीर है कि उसको प्राचीन और नवीन चिन्ताओं पर संक्षेप में फैसला सुना देना हिमाकत भर है। फिर भी मैं आपके सामने जो यह साहस करने के लिये खड़ा हूँ इसके लिए क्षमा माँगने की जरूरत नहीं समझता। हम जिस भीड़-भम्भड़ और वैयक्तिक-स्वाधीनता के युग में पैदा हुए हैं उसमें इससे कहीं अधिक हिमाकत की बातें क्षम्य ही समझ ली जाती हैं। प्राचीन और नवीन चिन्ता की तुलना, या एक साथ एक आसन पर बैठाना भी कुछ अजीब-सा लगता है। एक तरफ लगभग 6 हजार वर्षों की सुचिन्तित साधना और दूसरी तरफ हर साल रंग बदलने वाली 100 वर्ष की आधुनिक जिज्ञासादोनों में कुछ ऐसा असादृश्य, ऐसा अनैक्य और ऐसा प्रकृतिवयोऽनुभूतिभेद है कि दोनों का ऐक्य साथ बैठाना नितान्त अनुचित जान पड़ता है। फिर भी यह सादृश्य-अनैक्य और प्रकृति भेद वास्तविक है, और वह वास्तविकता उपेक्षणीय नहीं है। नवीन चिन्ता जितनी भी कच्ची, जितनी भी अल्पव्यस्क और जितनी भी अस्थिर स्वभाववाली क्यों न हो उसमें नवीन प्राण हैं और प्राणवत्ता सबसे बड़ा गुण है। और केवल इसी कारण से हम प्राचीन और नवीन को एक नजर देख लेने का प्रयास करते हैं। यह तो मेरे लिये असंभव ही है कि भारतवर्ष की विराट चिन्ताराशि के सभी अंशों की आलोचना करूँवह किसी के लिए भी असंभव ही हैपरंतु अपनी सुविधा के लिये मैंने निश्चय किया है कि सारे भारतीय इतिहास की ओर ने देखकर आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व काल तक के इतिहास को ही सामने रख के काम चलाऊँ। परन्तु यह भी असंभव कार्य है। इसलिए इसमें से भी एक ही अंश हमने लिया हैगद्य-काव्य, तत्रापि कथा आख्यायिका और उपन्यास। इतनी परिमिति पर भी मुझे भरोसा नहीं है। इसलिये भगवान् की ओर से संयोगवश प्राप्त दो और परिमिति सीमाओं पर मैं भरोसा करके अपना कार्य निःसंकोच शुरू कर देता हूँ। पहली सीमा स्वयं मेरी विद्या-बुद्धि है, और दूसरी आपका दिया हुआ घण्टे भर का समय।

इसके बाद मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि प्राचीन भारत की बात कहते समय मैं यथासमय एक भी वाक्य अपनी ओर से नहीं कहूँगा। सभी प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों से उद्धृत वाक्यों के अनुवाद होंगे। बीच-बीच में फाँकों या गैपों को भरने की कोशिश करने की छूट ले लेता हूँ।

सबसे पहले मैं आपको यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैंने भारतवर्ष की हजारों वर्ष की पुरानी साधना को एक दम छोड़कर आज से 15 सौ वर्ष पूर्व तक की साहित्यिक साधना को ही क्यों आलोचना के लिए चुना है। सन् ईसवी की पहली शताब्दी में मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन सम्बन्धी ऐतिहासिक चिन्हों का मिलना एकाएक बन्द हो जाता है। इसके बाद के दो-तीन सौ वर्षों का काल भारतीय इतिहास का अन्धकार-युग कहा जाता है। आये दिन विद्वान् इस युग के इतिहास सम्बन्धी नये-नये सिद्धान्त उपस्थित करते रहते हैं, और पुराने सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं। अब तक इस काल का इतिहास लिखने योग्य पर्याप्त सामग्री नहीं उपलब्ध हुई है। किन्तु सन् 220 में मगध का प्रसिद्ध पाटलिपुत्र 400 वर्षों की गाढ़ निद्रा के बाद अचानक जाग उठता है। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसका विवाह सुप्रसिद्ध लिच्छवि वंश में हुआ था और इसीलिए जिसकी ताकत बढ़ गयी थी अचानक प्रबल पराक्रम से उत्तर भारत में स्थित विदेशियों को उखाड़ फेंकता है। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने, जो अपने योग्य पिता का योग्य पुत्र था, इस उन्मूलन-कार्य को और भी आगे बढ़ाया और उसके योग्यतर प्रतापी पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त या सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य ने अपने रास्ते में एक भी काँटा नहीं रहने दिया। उसका सुव्यवस्थित साम्राज्य ब्रह्मदेश से पश्चिम समुद्र तक और हिमालय से नर्मदा तक फैला हुआ था। गुप्त-सम्राटों के इस सुदृढ़ साम्राज्य ने भारतीय जनसमूह में नवीन राष्ट्रीयता और विद्या-प्रेम का संचार किया। इस युग में राजकार्य से लेकर समाज, धर्म तक साहित्य तक में एक अद्भुत क्रान्ति का परिचय मिलता है। ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा एकदम नवीन प्राण लेकर जाग उठे। पुराने क्षेत्रों द्वारा व्यवहृत प्रत्येक शब्द मानों उद्देश्य के साथ बहिष्कार कर दिये गये। कुषाणों द्वारा समर्थक गान्धार शैली की कला एकाएक बन्द हो गई और सम्पूर्णतः स्वदेशी मूर्तिशिल्प और वास्तुशिल्प की प्रतिष्ठा हुई। राजकीय पदों के नाम नये सिरे से एकदम बदल दिए गए। समाज और जाति की व्यवस्था में भी परिवर्तन किया गया था। इस बात का सबूत मिल जाता है। सारा उत्तरी भारत जैसे एक नया जीवन लेकर नई उमंग के साथ प्रकट हुआ। इस काल में भारतीय चिन्ता स्रोत एकदम नई दिशा की ओर मुड़ता है। साहित्य की चर्चा करने वाला कोई भी व्यक्ति इस नये घुमाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। जिन दो-तीन सौ वर्षों की ओर शुरु में इशारा किया गया है उनमें भारतवर्ष में शायद विदेशी जातियों के एकाधिक आक्रमण हुए थे, प्रजा संतप्त थी। नगरियाँ विध्वस्त हो गई थीं, जनपद आग की लपटों के शिकार हुए थे। कालिदास ने अयोध्या की दारुण दीनावस्था दिखाने के बहाने मानों गुप्त सम्राटों के पूर्ववर्ती काल के समृद्ध नागरिकों की जो दुर्दशा हुई थी उसका अत्यन्त हृदयविदारी चित्र खींचा है। शक्तिशाली राजा के अभाव में नगरियों की असंख्य अट्टालिकायें भग्न, जीर्ण और पतित हो चुकी थीं, उनके प्राचीर गिर चुके थे, दिनान्तकालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघपटल की भाँति वे श्रीहीन हो गये थे। नागरिकों को जिन राजपथों पर घनी रात में भी निर्भय विचरण करने वाली अभिसारिकाओं के नूपुरशिंजन का स्वर सुनाई देता था, वे राजपथ श्रृगालों के विकट नाद से भयंकर हो उठे थे। जिन पुष्करिणियों में जलक्रीड़ा-कालीन मृदंगों की मधुर ध्वनि उठा करती थी उनमें जंगली भैंसे लोटा करते थे और अपने शृंग-प्रहार से उन्हें गदला कर रहे थे। मृदंग के ताल पर नाचने के अभ्यस्त सुवर्णयष्टि पर विश्राम करने वाले क्रीड़ा-मयूर अब जंगली हो चुके थे, उनके मुलायम बर्हभार दावाग्नि

से दग्ध हो चुके थे। अट्टालिकाओं की जिन सीढ़ियों पर रमणियों के सराग पद संचरण करते थे उन पर व्याघ्रों के लहलुहान पैर दौड़ा करते थे, बड़े-बड़े राजकीय हाथी जो पञ्चवन में अवतीर्ण होकर मृणालनाओं द्वारा करेणुओं की सम्बर्धना किया करते थे, सिंहों से आक्रान्त हो रहे थे। सौंधस्तम्भों पर लकड़ी की बनी स्त्री मूर्तियों का रंग धूसर हो गया था और उन साँपों की लटकती हुई केंचुल ही उत्तरीय का कार्य कर रही थी। हर्म्यों में के अमल-धवल प्राचीर काले पड़ गये थे, दीवारों के फाँक में से तृणावलियाँ निकल पड़ी थीं, चन्द्र किरणें भी उन्हें पूर्ववत् उद्भासित नहीं कर सकती थीं। जिन उद्यान लताओं से विलासिनियाँ अति सदय भाव से पुष्प चयन करती थीं उन्हीं को वानरों ने बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर डाला था; अट्टालिकाओं के गवाक्ष रात में न तो मांगल्य प्रदीप से और न दिन में गृहलक्ष्मियों की मुखकान्ति से ही उद्भासित हो रहे थे, मानों उनकी लज्जा ढकने के लिए ही मकड़ियों ने उन पर जाला तान दिया था! नदियों के सैकतों पर पूजन सामग्री नहीं पड़ती थी, स्थान की चहल-पहल जाती रही थी; उपान्त देश के वेतसलता-कुंज सूने पड़ गये थे। (रघुवंश 16-12-29)! ऐसे ही विध्वस्त भारतवर्ष को गुप्त सम्राटों ने नया जीवन दिया। कालिदास के शब्दों में उस दुर्दशाग्रसत नगरी को इस प्रकार नई बना दिया जैसे निदाघग्लापित धरित्री को प्रचुर जल वर्षण से मेघगण!

तां शिल्पिसंघा प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनात्वात् ।  
पुरी नवीचक्रुरपां विसगति मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीमू ।

(रघुवंश 16-38)

गुप्त सम्राटों के इस पराक्रम को भारतीय जनता ने भक्ति और प्रेम से देखा। शताब्दियों और सहस्राब्दक बीत गये पर आज भी भारतीय जीवन में गुप्त सम्राट घुले हुए हैं। केवल इसलिए नहीं कि विक्रमादित्य और कालिदास की कहानियाँ भारतीय लोक-जीवन का अविच्छेद्य अंग बन गई हैं, बल्कि इसलिए कि आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार, विचार, क्रिया, काण्ड आदि में सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्य की अमिट छाप है। जो पुराण और स्मृतियाँ, निस्संदिग्ध रूप में आज प्रमाण मानी जाती हैं वे अन्तिम तौर पर गुप्त-काल में रचित हुए थे, वे आज भी भारतीय चिन्तास्रोत को बहुत कुछ गति दे रहे हैं। आज गुप्त-काल के पूर्ववर्ती शास्त्र और साहित्य की भारतवर्ष केवल श्रद्धा और भक्ति से पूजा भर करता है, व्यवहार के लिए उसने इस काल के निर्धारित ग्रंथों को ही स्वीकार किया है। गुप्तयुग के बाद भारतीय मनीषा की मौलिकता भोथी हो गयी। टीकाओं और निबन्धों का युग शुरू हो गया। टीकाओं की टीका उसकी भी टीका, इस प्रकार मूलगन्ध की टीकाओं की छः-छः आठ-आठ पुस्तक चलती रही। आज जब हम किसी विषय की आलोचना करते समय 'हमारे यहाँ' के शास्त्रों की दुहाई देते हैं, तो अधिकतर इसी काल के बने ग्रंथों की ओर इशारा करते हैं। यद्यपि गुप्त सम्राटों का प्रबल पराक्रम छठी शताब्दी में ढीला पड़ा था पर साहित्य के क्षेत्र में उस युग के स्थापित आदर्शों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में ईसा की नवीं शताब्दी तक चलता रहा। मौटे तौर पर इस काल को हम गुप्त-काल ही कहे जायेंगे।

सन् 1883 ई. में मैक्समूलर ने अपना वह प्रसिद्ध मत उपस्थित किया था जिसमें कहा गया था कि यवनों, पार्थियनों और शकों आदि के द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत पर बार-बार आक्रमण होते रहने के कारण कुछ काल के लिए संस्कृत में साहित्य बनना बन्द हो गया था। कालिदास के युग में नये सिरे से संस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसमें एक अभिनव ऐहिकतापरक (सेक्यूलर) स्वर सुनाई देने लगा। (इंडिया 1883, पृ. 281) यह मत बहुत दिनों तक विद्वन्मण्डली में समादृत रहा पर हाल ही में इसमें परिवर्तन हुआ। आजकल यद्यपि यह मूल रूप से नहीं

माना जाता है कि उक्त पुनः प्रतिष्ठा के युग के पहले तक संस्कृत भाषा ऐहिकतापरक भावों के लिए बहुत कम प्रयुक्त होती थी। ऐसे भावों का प्रधान वाहक प्राकृत भाषा थी। प्राकृत की ही पुस्तकें बाद में चलकर ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत में अनूदित हुईं। (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर 1828, पृ. 39)। स्वयं कीथ साहब इस मत को नहीं मानते। उन्होंने वैदिक साहित्य के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया है कि ऐहिकतापरक काव्य का बीज बहुत प्राचीन काल के संस्कृत साहित्य में भी वर्तमान था। राजाओं की प्रशंसा या स्तुतिगान वाले कवि उन दिनों भी थे और इस स्तुति संबंधी गानों को जो अधिकाधिक परिमार्जित रूप देने की चेष्टा की गयी होगी, इस कल्पना में बिल्कुल ही अतिरंजना नहीं है। परन्तु संस्कृत में ऐहिकतापरक रचना होती रही हो या नहीं निर्विवाद बात यह है कि सन् ईसवी के आसपास ऐहिकतापरक रचनाओं का बहुत प्राचुर्य हो गया था। इनका आरम्भ भी निश्चय ही प्राकृत से हुआ था। इस प्रकार की रचनाओं का सबसे प्राचीन और साथ ही सबसे प्रौढ़ संकलन हाल की सतसई में जो ऐतिहासिकतापरक रचनायें हैं उनके भावों का प्रवेश भारतीय साहित्य में किसी विजातीय मूल से हुआ है। वह मूल आभीरों या अहीरों की लोक गाथायें हैं। यहाँ इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह हमारे वक्तव्य के बाहर चला जाता है। हमने अपनी नयी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में इस प्रश्न पर कुछ ज्यादा विस्तार के साथ आलोचना की है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि सन् ईसवी के बाद लगभग तीन सौ वर्ष तक संस्कृत में एक जड़िमा की अवस्था आ गई है और इसके बाद गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में उसमें एकाएक नवीन अज्ञात स्फूर्ति का परिचय मिलता है। इतनी भूमिका के बाद हम अब मूल विषय पर आ सकते हैं।

यद्यपि वैदिक साहित्य में गद्य-पद्य में लिखी हुई कहानियों की कमी नहीं है पर जिसे हम अलंकृत गद्य काव्य कहते हैं, जिसका प्रधान उद्देश्य रससृष्टि है, निश्चित रूप से उसका प्रचार गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में ही हुआ। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस रूप में सुविकसित गद्य का प्रचार इस युग में दिखाई देता है उस रूप को प्राप्त होने में उसे कई शताब्दियाँ लग गई होंगी। सौभाग्यवश हमारे पास कुछ ऐसी प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं जिन पर से अलंकृत गद्य के प्राचीन अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता। गिरनार के महाक्षत्रप रुद्रदामा (साधारणतः 'रुद्रदामन्' नाम से परिचित) का खुदवाया हुआ जो लेख मिला है उससे निस्संदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि सन् 150 ई. के पूर्व संस्कृत में सुन्दर गद्य काव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख गद्य काव्य का एक नमूना है। इसमें महाक्षत्रप ने अपने को 'स्फुटलघु-मधुर-चित्र-कांत-शब्द-समयोदारालंकृत गद्य-पद्य' का मर्मज्ञ बताया है जिससे अलंकृत गद्यों के ही नहीं अलंकार शास्त्र के अस्तित्व का भी प्रमाण पाया जाता है। यह गद्य काव्य क्या थे, यह तो हमें नहीं मालूम, पर उनकी रचना प्रौढ़ और गुम्फ आकर्षण होते होंगे, इस विषय में सदेह की जगह नहीं है। सम्राट समुद्रगुप्त ने प्रयाग के स्तम्भ पर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवायी थी, यह एक दूसरा सबूत है। हरिषेण ने इस प्रशस्ति को सम्भवतः सन् 530 ई. में लिखा होगा। इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है और रचना में काव्य के सभी गुण उपस्थित हैं। सुबन्धु और बाण ने अपने रोमांसों के लिए जिस जाति का गद्य लिखा है। इस प्रशस्ति का गद्य उसी जाति का है। हरिषेण के इस काव्य से निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि इससे पहले भी गद्य-काव्य का अस्तित्व था।

यह गद्य-काव्य क्या है? संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में इसके लक्षण बताए गए हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह कहानी या उपन्यास जरूर है। क्योंकि जब तक कहानी नहीं

है तब तक उसमें आलम्बन आदि विभाव हो ही नहीं सकते। फलतः रस-सृष्टि असंभव हो जायेगी। क्योंकि आखिर रस विभाव-अनुभाव संचारी आदि भावों से ही होता है। इसलिए सभी अलंकारिकों ने तो मान ही लिया है कि गद्य-काव्य एक कहानी है। इसके बाद उसके भेद बताये गये हैं। यह दो प्रकार का होता है, कथा और आख्यायिका। कहा गया है कि एक वक्ता स्वयं नायक होगा और दूसरी का वक्ता नायक भी हो सकता है, और कोई और भी हो सकता है। 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है कि कथा में सरस वस्तु गद्य में कही जायेगी, उसमें कहीं आर्या छन्द भी होंगे कहीं वक्त्र और अपवक्त्र और भी होंगे शुरू में पद्यबद्ध नमस्कार होगा और फिर साधुप्रशंसा ओर दुर्जन-निन्दा होगी।

दण्डी, किन्तु इस प्रकार के भेद को नहीं मानते, उन्होंने ठीक ही कहा है कि यह भेद व्यर्थ का है। क्योंकि कहानी नायक कहे या दूसरा कहे, इसमें क्या बन या बिगड़ गया फिर वक्त्र या अपवक्त्र छंद हों या न हों, किसी में उच्छ्वास नाम देकर अध्याय भेद किये गये हों और किसी में लम्ब नाम देकर तो इन बातों से कहानी का क्या बनता-बिगड़ता है। ये तो नितान्त ऊपरी बातें हैं। इसीलिए वस्तुतः कथा और आख्यायिका ये दो नाम ही भर हैं, दोनों एक ही जाति की चीजें हैं। दण्डी का कहना ठीक है।<sup>1</sup> परन्तु आख्यायिका नाम से प्रचलित ग्रन्थों को देखकर विचार किया जाय तो ऐसा जान पड़ता है कि कथा की कहानी कल्पित हुआ करती थी और आख्यायिका की ऐतिहासिक। 'कादम्बरी' कथा है और 'हर्षचरित' आख्यायिका। इन दो जाति के अतिरिक्त एक और तरह की रचनाएँ संस्कृत में पायी जाती है। जो हमारे आलोच्य विषय के अन्तर्गत हैं। इन्हें चम्पू कहते हैं। 'चम्पू' शब्द का मूल क्या है, यह नहीं मालूम। इसमें गद्य और पद्य दोनों ही मिले होते हैं। प्रायः ऐसे स्थलों पर इनमें पद्य का प्रयोग होता है जहाँ कवि कोई आकर्षक दृश्य अंकित करना चाहता हो, या वक्ता के मुख से कोई मार्मिक उक्ति कहलवाना चाहता हो। चम्पुओं में कई ऐसे हैं जिन्हें हम 'रोमांस' कह सकते हैं।

कथा साहित्य की चर्चा करते समय बृहत्कथा को नहीं भूला जा सकता। रामायण, महाभारत और बृहत्कथा के ये तीन ग्रंथ समस्त संस्कृत काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका और चम्पू के मूल हैं। भारतवर्ष के तीनों बड़े-बड़े गद्य काव्यकार दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट बृहत्कथा के ऋणी हैं। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने

1. अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।  
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तमोराख्यायिका किल।  
नाय केनैव वाच्यान्या नायकेनतरेण वा।  
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः।  
अपि त्वमियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।  
अन्यो वक्ता स्वयं वेति की द्गवा भेदलक्षणम्।  
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छात्वं च भेदकम्।  
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वापि।  
आर्यादिवत्प्रदेशः किं न वक्त्रापरवक्त्र योः?  
भेदश्च दृष्टो लभादिरुच्छवासोवास्तु किं ततः।  
तत्कथा ख्यायिकेत्येव जातिः संशा द्वयाकिता।  
अत्रैवाविभविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।

मूल रूप में प्राप्त नहीं है। सन् ईसवी की आठवीं नवीं शताब्दी तक के भारतीय साहित्य में बृहत्कथा और उसके लेखक गुणाद्वय पंडित की चर्चा प्रायः ही आती रहती है। यहाँ तक कि लगभग 875 ई. में कम्बोडिया की एक संस्कृत प्रशस्ति में गुणाद्वय और उसकी बृहत्कथा की चर्चा आती रहती है। परन्तु आज वह नहीं मिलती। यह ग्रन्थ संस्कृत में नहीं बल्कि प्राकृत में लिखा गया था और प्राकृत भी पैशाची प्राकृत। इसके निर्माण की कहानी बड़ी ही मनोरंजक है। गुणाद्वय पण्डित महाराज सातवाहन के सभा पण्डित थे। एक बार राजा सातवाहन अपनी प्रियाओं के साथ जल-क्रीड़ा करते समय संस्कृत की कम जानकारी के कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि जब तक संस्कृत धारावाहिक रूप से लिखने बोलने नहीं लगेंगे तब तक बाहर मुँह नहीं दिखायेंगे। राज-काज बन्द हो गया। गुणाद्वय पण्डित बुलाये गये। उन्होंने 6 महीने में ही इस असाध्य साधन का संकल्प किया। गुणाद्वय ने इस पर प्रतिज्ञा की कि यदि कोई 6 महीने में संस्कृत सिखा देगा तो वे संस्कृत में लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। 6 महीने बाद तो राजा सचमुच ही धारावाहिक रूप से संस्कृत बोलने लगे पर गुणाद्वय को मौन होकर नगर से बाहर पिशाचों में अध्युषित विन्ध्याटवी में मौन धारण करना पड़ा। उनके दो शिष्य उनके साथ हो लिये। वहीं किसी शापग्रस्त पिशाचयोनि प्राप्त गन्धर्व से कहानी सुनकर गुणाद्वय पण्डित ने इस विशाल ग्रन्थ को पैशाची भाषा में लिखा। कागज का काम सूखे चमड़ों से और स्याही का काम रक्त से लिया गया। पिशाचों की बस्ती में मिल ही क्या सकता था। कथा सम्पूर्ण करके गुणाद्वय अपने शिष्यों सहित राजधानी को लौट आये। स्वयं नगर के उपान्त भाग में ठहरे और शिष्यों से ग्रन्थ राजा के पास स्वीकारार्थ भिजवा दिया। राजा ने अवहेलना पूर्वक इस मौनोन्मत्त लेखक द्वारा रक्त से चमड़े पर लिखे हुए पैशाची ग्रन्थ का तिरस्कार किया। राजा ने कहा कि भला ऐसे ग्रन्थ के वक्तव्य वस्तु में विचार योग्य हो ही क्या सकता है।

**पैशाची वाग् मसी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः ।**

**इति राजाऽब्रवीत का वा वस्तुसारविचारणा ॥**

(बृहत्कथामंजरी 1/87)

शिष्यों से यह समाचार सुनकर गुणाद्वय बड़े व्यथित हुए। चिता में ग्रंथ फेंकने ही जा रहे थे कि शिष्यों ने फिर एक बार सुनने का आग्रह किया। आग जला दी गयी, पण्डित आसन बाँधकर बैठ गये। एक-एक पन्ना पढ़कर सुनाया जाने लगा और समाप्त होते ही आग में डाल दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और मनोरंजक थी कि पशु, पक्षी, मृग, व्याघ्र आदि सभी खाना-पीना छोड़कर तन्मय भाव से सुनने लगे। उसके माँस सूख गये। जब राजा की रंधनशाला में ऐसे ही पशुओं को माँस पहुँचा तो शुष्क माँस के भक्षण से राजा के पेट में दर्द हुआ। वैद्य ने नाड़ी देखकर रोग का निदान किया, कसाईयों से कैफियत तलब की गयी और इस प्रकार अज्ञात पण्डित के कथावाचक की मनोहारिता राजा के कानों तक पहुँची। आश्चर्य चकित होकर स्वयं उपस्थित हुए लेकिन तब तक ग्रंथ के सात भागों में से छः जल चुके थे। राजा पंडित के पैरों में गिरकर सिर्फ एक भाग ही बचा सके। उस भाग की कथा हमारे पास मूल रूप में तो नहीं पर संस्कृत अनुवाद के रूप में अब भी उपलब्ध होती है।

बुद्धस्वामी के बृहत्कथाश्लोक संग्रह, क्षेमेन्द्र के बृहत्कथामंजरी और सोमदेव के कथासरित्सागर में बृहत्कथा (या वस्तुतः 'बड्डकहा', क्योंकि यही उसका मूल नाम था) के उस अवशिष्ट अंग की कहानियाँ संग्रहीत हैं। इनमें पहला ग्रंथ नेपाल और बाकी कश्मीर के पण्डितों की रचना है। पण्डितों में गुणाद्वय के विषय में और उनकी लिखी बृहत्कथा के विषय में कई प्रश्नों को लेकर काफी मतभेद रहा है। पहली बात है कि गुणाद्वय कहाँ के रहने वाले थे। कश्मीरी कथाओं

के अनुसार वे प्रतिष्ठान में उत्पन्न हुए थे और नेपाली कथा के अनुसार कौशाम्बी में। फिर काल को लेकर मतभेद है। कुछ लोग सातवाहन को भी उसके साथ ही गुणाद्वय को सन् ईसवी के पूर्व की पहली शताब्दी में रखते हैं और कुछ बहुत बाद में। दुर्भाग्यवश यह काल सम्बन्धी झगड़ा भारतवर्ष के सभी प्राचीन आचार्यों के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है। हमारे साहित्यालोचकों का अधिकांश श्रम इन काल निर्णय सम्बन्धी कसरतों में ही चला जाता है। ग्रन्थ के मूल वक्तव्य तक पहुँचने के पहले सर्वत्र एक तर्क का दुस्तर फेनिल समुद्र पार करना पड़ता है। यह तीसरा प्रश्न भी बृहत्कथा के सम्बन्ध में उठता है। वह यह कि पैशाची किस देश की भाषा है। इधर ग्रियर्सन जैसे भाषा विशेषज्ञ ने अपना फैसला सुना दिया है। पैशाची भारत वर्ष के उत्तर-पश्चिम सीमांत की बर्बर जातियों की भाषा थी। ये कच्चा माँस खाते थे इसलिए इन्हें पिशाच कहा जाता था। गुणाद्वय की पुस्तकों के सभी संस्कृत संस्करण काश्मीर में (सिर्फ एक नेपाल में) पाये जाते हैं। इस पर से ग्रियर्सन का तर्क प्रबल ही होता है, क्योंकि काश्मीर इन सीमांत प्रदेशों से सटा हुआ है। परन्तु अन्यान्य प्रमाण ग्रियर्सन के विरुद्ध जाते हैं। पाली में पैशाची के लिए बहुत से लक्षण मिल जाते हैं और दर्दिस्तान आदि की वर्तमान भाषाओं में वे विशेषताएँ कभी-कभी नहीं पायी जाती जिन्हें प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची वस्तुतः किसी एक प्रदेश की भाषा नहीं थी। वह अनार्य जातियों द्वारा आर्य भाषा बोलने के प्रयत्नस्वरूप उत्पन्न एक विकृत आर्यभाषा थी। भिन्न-भिन्न स्थानों के अनार्य अपनी सुविधा के अनुसार उसे भिन्न ढाँचों में मोड़ लिया करते हैं। मुझे हार्नले का यह मत सही जान पड़ता है। क्योंकि इस मत को स्वीकार करने से पैशाची सम्बन्धी नाना प्रकार की पुरानी उक्तियों का समाधान हो जाता है।

एक और प्रश्न यह उठाया गया है कि गुणाद्वय ने मूल कहानी गद्य में लिखी थी या पद्य में। श्लोक-संग्रह से तो जान पड़ता है कि वह पद्य में ही लिखी गई होगी पर 'कथा' की परवर्ती परिभाषाओं का देखकर बहुतेरे पंडित उसे गद्य में लिखा ही बताते हैं। ये सभी विवाद जब तक चलते रहेंगे जब तक भारतवर्ष का सौभाग्य उस खोये हुए ग्रन्थ को फिर से न पा ले।

गुणाद्वय की कहानियों का जो रूप संस्कृत की उपर्युक्त पुस्तकों से प्राप्त है उस पर से स्पष्ट ही मालूम होता है कि उनमें भाषागत अलंकरण की ओर उतना ध्यान नहीं है जितना कहानी के वक्तव्य वस्तु की ओर। इन कहानियों में 'कहानीपन' इतना अधिक मात्रा में है कि किसी-किसी यूरोपियन पंडित को यह स्वीकार करने में हिचक हुई है कि इसी ग्रन्थ की शैली का उत्तरकालीन वितास सुबन्धु की वासवदत्ता और बाणभट्ट की कादम्बरी है, जहाँ रूपक और उपमा पंक्तिबद्ध होकर चलते हैं, दीपक और उत्प्रेक्षा उतराये रहते और शब्दश्लेष और अर्थश्लेष हमेशा पाठक के चित्त को ले भागने के लिए आँख फाड़े बैठे रहते हैं; घटनाओं की योजना, पात्रों की कल्पना और रस का परिपाक इतने कौशल के साथ एक दूसरे से उपगूहित है कि एक को दूसरे से अलग करके देखना असम्भव है। यद्यपि कश्मीरी और नेपाली संस्करणों के देखने से स्पष्ट है कि मूल कहानी के संग्रहकारों ने अपनी-अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार बहुत-कुछ काट-छाँट और घटा-बढ़ाकर हमारे सामने रखा है फिर भी इतने हाथों से कट-छँट जाने के बाद भी कहानियों के 'कहानी-रस' में कहीं भी शैथिल्य नहीं आया। केवल शब्द-परिवृत्ति-सहत्व ही कविता का एक बड़ा भारी गुण है, परन्तु अर्थ और गुण की शैली सब कुछ के परिवर्तन को सहकर भी जिस रचना का रस तिलमात्र भी खंडित नहीं हुआ उसको प्रशंसा के लिए क्या कहा जाय? कोई आश्चर्य नहीं कि यह ग्रंथ दो हजार वर्षों तक भारतीय कल्पना को भी अभिभूत



किये रहा है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह उत्तरोत्तर ओर भी आदर और सम्मान प्राप्त करेगा। आज संसार में कई सभ्य भाषाओं में इस ग्रन्थ की कहानियों का अनुवाद हो चुका है और वह जर्मन, अंग्रेजी और अन्य साहित्यों के कहानी साहित्य को प्रभावित करने में समर्थ हुआ है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राचीन आलंकारिक ग्रंथों में आख्यायिका और कथा के जो लक्षण दिये हुए हैं वे बाह्य हैं और उनसे कथा के वक्तव्य वस्तु से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। परवर्ती गद्यकाव्यों में नाना भाँति से अलंकृत करके सुललित गद्यों में कहानी लिखना ही प्रधान हो उठा था। इन काव्यों में कवि को कहानी करने की जल्दी नहीं है। वह रूपक और दीपक श्लेष आदि को अपना प्रधान कृतित्व मान लेता है। उसे कहना है कि विन्ध्याचल पहाड़ पर एक जंगल था और वह बड़े ठाट-बाट से शुरू करेगा “पूर्व समुद्र के तट से पश्चिम सागर के तीर तक विस्तीर्ण, मध्यप्रदेश का अलंकार-स्वरूप, पृथ्वी के मेखला के समान विन्ध्याटवी नामक, एक वन है, जिसमें जंगल हाथियों के मदजल से सिक्त होकर संवर्द्धित और अत्यन्त ऊँचे होने के कारण मस्तक-संलग्न नक्षत्र-समूह के समान श्वेत कुसुमधारी नाना प्रकार के वृक्ष सुशोभित हैं; जिनमें कहीं मदमत्त कुरुर पक्षी अपने चंचुओं से मरीच-पल्लव कुतर रहे हैं, कहीं गजशावकों के शूंड से तमाल वृक्ष के किसलय टूट रहे हैं और इसीलिए उसकी सुगन्धि से धारा वन आमोदित हो रहा है, मधुमद के कारण लाल हो गये हुए केरल-कामिनियों के कोमल कपोल की सी शोभा वाले लाल-लाल पल्लव-समूह विकसित हो रहे हैं, मानों वन-देवताओं के चरणों के अलक्तकरस या महावर से ही रंग कर लाल हो गये हों, जिसमें अनेकानेक ऐसे लतामंडप विराज रहे हैं जिनके तलदेश शुक पक्षियों के कुतरे हुए दाड़िम फल के रस से भीग गये हैं। जिसके भीतर चपल वानरों द्वारा कम्पित या नारंगी के वृक्ष से फल और पल्लव गिरे हुए हैं, जो निरन्तर पुष्परेणु के झड़ते रहने से रेणुमय हो गये हैं, जिनके भीतर पथिकों ने लवंग पल्लवों की शय्या रखी है, जिनके चारों ओर नारिकेल, केतकी और वकुल वृक्ष घिरे हुए हैं जिनकी शोभा ताम्बूली लता से वेष्टित पूग वृक्षों के समूह बढ़ा रहे हैं जो साक्षात् वन-देवताओं के ही मानों आवास-भवन हैं, कहीं मदमत्त हाथियों की गंडस्थल-क्षरित मदधारा से सिक्त होकर ही मानो इलाइची लता का मदगन्धी बन घन भाव से वनभूमि को आच्छादन करके अन्धकार किए हुए हैं, कहीं शबर सेनापतिगण इस लोभ से सौ-सौ केशरियों का निपात कर रहे हैं कि उनके नखों से लग्न गजमुक्तायें पा सकेंगे, इत्यादि-इत्यादि और फिर भी उसे सन्तोष नहीं होगा। वह अब श्लेषों की झड़ी बाँध देगा, विरोधाभासों का ठाठ खड़ा कर देगा, श्लेषपरिपुष्ट उपमाओं का जंगल लगा देगा, तब जाकर कहेगा कि वह विन्ध्याटवी है। वह किसी भी ऐसे अवसर की उपेक्षा नहीं करेगा जहाँ उसे एक उत्प्रेक्षा या दीपक या रूपक पर विरोधाभास या श्लेष करने का अवसर मिल जाय। सुबन्धु ने तो ग्रन्थ के आरम्भ में प्रतीज्ञा ही कर ली थी कि आदि से अन्त तक श्लेष का निर्वाह करेंगे। इन कथाकारों में सबसे श्रेष्ठ बाणभट्ट है। इन्होंने कथा की प्रशंसा करते हुए मानों अपनी ही रचना के लिए कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप से और भाव से नितान्त मनोहारा तथा अनुरागवश स्वयमेव शय्या पर उपस्थित अभिनवा वधू के समान सुगम कला विद्या सम्बन्धी वाक्यविन्यास के कारण सुश्रव्या और रस के अनुकरण के कारण बिना प्रयास शब्द गुम्फ करने वाली कथा किसके हृदय में कौतुक-युक्त प्रेम नहीं उत्पन्न करती? सहज बोध दीपक और उपमा अलंकार से सम्पन्न अपूर्व पदार्थ के समावेश से विरचित और अनवरत श्लेषालंकार से किञ्चिद, दुर्बोध्य, कथा-काव्य, उज्ज्वल प्रदीप के समान उपादेय चम्पक-पुष्प की कली से गूँथे हुए और बीच-बीच में चमेली के पुष्पों से अलंकृत धनसन्निविष्ट

मोहन माला की भाँति किसे आकृष्ट नहीं करता

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्  
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ।  
हरन्ति के नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः;पदार्यैरुपपादिता कथा ।  
निरन्तरश्लेषघना सुजातयो महास्रजशचंपककुड्मलैरिव॥

(कादम्बरी)

सच पूछा जाय तो बाणभट्ट ने इन पंक्तियों में कथा-काव्य का ठीक-ठीक लक्षण दिया है। कथा कलालाप-विलास से कोमल होगी, कृत्रिम पद-संघटना और अलंकारप्रियता के कारण नहीं बल्कि बिना प्रयास के रस के अनुकूल-गुम्फ वाली होगी, उज्ज्वल दीपक और उपमाओं से सुसज्जित रहेगी और निरन्तर श्लेष अलंकार के आते रहने के कारण जरा दुर्बोध्य भी होगीपरन्तु सारी बातें रस की अनुवर्तिनी होंगी। अर्थात् संस्कृत के अलंकारिक जिस रस को काव्य की आत्मा कहते हैं, जो अंगी है, वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है। काव्य में कहानी गौण है, अलंकार योजना गौण है, पद-संघटना भी गौण है। मुख्य है केवल 'रस'। यह रस अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, शब्द से वह अप्रकाश्य है। उसे केवल व्यंग या ध्वनित किया जा सकता है। इस बात में काव्य और कथा-आख्यायिका समान है। विशेषता यह है कि कथा-आख्यायिका में इस रस के अनुकूल कहानी, अलंकार-योजना और पद संघटना सभी महत्त्वपूर्ण हैं, किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती, एक पद्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही गद्य-कवि की जवाबदेही बढ़ जाती है। वह अलंकारों की पद संघटना की उपेक्षा नहीं कर सकता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही है। कहानी के रस को अनुकूल रखकर इन शर्तों का पालन करना सचमुच बहुत कठिन है और इसलिए संस्कृत के आलोचक ने गद्य को कवित्व की कसौटी कहा है 'गद्यं कवीना निकषं वदन्ति'।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि रस सचमुच ही इन कथा-आख्यायिकाओं की आत्मा है तो अलंकारों की इतनी योजना क्यों जरूरी समझी गई। आज के युग में यह बात समझ में नहीं आ सकती। जिन दिनों ये काव्य लिखे गये थे उन दिनों भारतवर्ष की समृद्धि अतुलनीय थी। उन दिनों के समाज की अवस्था और सहृदय की मनोवृत्ति जाने बिना इसका ठीक-ठीक समझना असंभव है। उन दिनों के सहृदयों की शिक्षा आज से बहुत भिन्न थी। उनके मनोविनोदों में काव्यचर्चा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उन दिनों जो राजसभा और सहृदय गोष्ठियों में प्रवेश करता था उसे अपनी विविध कला-मर्मज्ञता प्रमाणित करनी होती थी। कादम्बरी वैशम्पायन नामक तोते को लेकर जब चाण्डाल-कन्या राजा शूद्रक के पास गये तो उसके साथी ने तोते के सभी गुणों का उल्लेख किया जो राजसभा के सदस्य होने की योग्यता प्रमाणित करते थे उसने कहा कि यह तोता सभी शास्त्रार्थों को जानता है; संगीत, काव्य, नाटक, आख्यानक इत्यादि अनेकानेक सुभाषितों का पाठक और कर्ता है, परिहासालाप में चतुर है, वीणा, वेणु, मुरज आदि का अतुलनीय श्रोता है, नृत्य-प्रयोग, और चित्र-कर्म में प्रवीण है, घृतव्यापार से प्रगल्भ है, प्रणयकलह में प्रकोप की मानिनी प्रिया को प्रसन्न करने में निपुण है, और हाथी, घोड़ा, पुरुष और स्त्री के लक्षणों का जानकार है। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में जिन 64 कलाओं के नाम गिनाये हैं उनमें काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका, कथा आदि तो है ही, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक' प्रहेलिका आदि और इन्हीं की जाति के अन्यान्य अलंकारों को भी कलाओं में ही गिना जाता था। उन दिनों सरस्वती-भवन, या कामदेव-भवन में नियमित समय पर काव्य-समाज बैठा करते थे। और गणिकाओं या नागरिकों के गृह पर काव्य-गोष्ठियाँ बैठा करती थीं। जिनमें

नागरिकगण भिन्न-भिन्न काव्यों के पाठ और काव्यगत अलंकारों में नैपुण्य दिखाकर मनोविनोद किया करते थे। वात्स्यायन की गवाही से हम यह भी जान सकते हैं कि उन दिनों नगरों की जो उद्यान यात्रायें या पिकनिक पार्टियाँ हुआ करती थीं उनमें काव्य प्रहेलिकाओं का विशिष्ट स्थान होता था। निश्चित तिथि को सूर्योदय होते ही नागरिकजन स्नानादि से निवृत्त हो घोड़ों पर सवार होकर निश्चित उद्यान या नगर के उपान्तवर्ती वन के लिये रवाना हो जाते थे। साधारणतः उद्यान ऐसे चुने जाते थे जहाँ से एक दिन के भीतर लौट आया जा सके। नागरिकों के साथ पाल्कियों में या बहेलियों में गणिकायें रहा करती थीं जो उन दिनों अपनी शिक्षा, कवित्व और दक्षता के कारण समाज में काफी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। नगर के बाहर निश्चित स्थान पर पहुँचने पर काफी धूम मच जाती थी। भेड़ों मुर्गों और तित्तिरों की लड़ाई होती थी, झूले जग जाते थे और काव्य सम्बन्धी बहुविध क्रीड़ाएँ आरंभ होती थीं। (कामसूत्र प्रथमाधिकरण) इन क्रीड़ाओं में कई बड़ी मजेदार होती थीं। कमल के फूल दिये जाते थे और उनमें यात्रायें (इकार उकार आदि) लगा दी जाती थी और सहृदय नागरिकों से पूरा श्लोक उद्धार कराने का प्रयत्न कराया जाता था। कभी-कभी केवल यात्रायें और अनुस्वार विसर्ग सुना दिये जाते थे और सुनने वाले को अपनी बुद्धि से व्यंजन बिठा कर सार्थक श्लोक तैयार कर लेने पड़ते थे और ऐसी ही और भी बहुतेरी काव्य क्रीड़ाएँ की जाती थीं, जिनका विस्तृत विवरण मैंने अन्यत्र दिया है। इस प्रकार की उद्यान यात्रायें अन्तःपुरिकाओं की भी होती थीं और विशेष करके अविवाहित कन्याओं को इन कलाओं से पारदर्शिता प्राप्त करनी होती थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि अन्तःपुरों में से कलायें और भी अधिक पोषित होती थीं। वहाँ अन्तःपुरिकायें सब प्रकार की बाहरी चिन्ताओं से मुक्त थीं और नाना प्रकार के कला-विलासों में पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक चतुरा होती थीं। संस्कृत नाटिकाओं में और आख्यायिकाओं में प्रायः ही राजाओं के राजमहिषियों के निकट कला-विलास में पराजित होने की कथा पाई जाती है। परन्तु कामसूत्र की गवाही से स्पष्ट है कि रमणियों की उद्यान-यात्रायें सब समय निरापद नहीं हुआ करती थीं। गुण्डे आये दिन उद्यान गोष्ठियों पर छापा मारा करते थे और कुमारियों का हरण कर ले जाया करते थे। ऐसे कलामय और काव्यमय वातावरण की कल्पना करने के बाद कादंबरी- आदि कथाओं को पढ़िये तो आपको इसमें कुछ भी अद्भुत नहीं जँचेगा। आज विदेशी शिक्षा के प्रभाव से जो बात हमें दुरूह जान पड़ती है वह उन दिनों नितान्त स्वाभाविक थीं परन्तु फिर भी मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि हमारी इन बातों का अर्थ आप यह न लगावें कि इन महान काव्यों में ही बात प्रधान हैं। कथा में, यह ठीक है कि अलंकार-योजना और पद संघटना काफी महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं पर उनमें रस सर्वत्र प्रधान है। प्रत्येक उपमा और प्रत्येक रूपक रस को अधिक परिपुष्ट और अलंकृत करने के उद्देश्य से व्यवहृत हुए हैं। यह जरूर है कि ग्रंथकार कभी सफल और कभी असफल भी हुआ। इनमें सबसे सफल कथा-काव्य कादंबरी है। इसके विषय में कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि “एक काल का मधुलोभी यदि अन्य काल से मधुसंग्रह करने की चाह रखता हो तो वह अपने युग के बाँगन में बैठकर उसे नहीं पायेगा, उसे भी उसी काल में प्रवेश करना पड़ेगा। जो सहृदय कादम्बरी का रसास्वादन करना चाहते हैं उन्हें भूल जाना होगा कि दफ्तर जाने का समय हो गया है, उन्हें समझ लेना होगा कि वे काव्य-रस विलासी कोई राजेश्वर हैं और राज सभा में बैठे हुए हैं और ‘समान-विद्या-वयोऽलंकारैः अखिलकला-कलापलोचन-कठोरमतिभिः अति प्रगल्भैः आग्राम्य-परिहास कुशलैः, काव्य-नाटकाख्यायिका लेख्य-व्याख्याना-क्रिया-निपुणैः, विनय-व्यवहरिभिः, आत्मनः, प्रतिविम्बैरिव राजकुमारैः सह रममाण’ हैं। इस प्रकार की रस चर्चा में रसिक-परिवृत्त

होकर हम प्रतिदिन के सुख-दुःख से व्याकुल-धर्मसिक्त, कर्मनिरत, युध्यमान संसार से विच्छिन्न हो जाते हैं।

एक तरफ जहाँ वृहत्कथा की ये संतान ये अलंकृत गद्यकाव्य हैं वहाँ दूसरी तरफ बेतालपञ्चविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशतिका, शुकसप्तति आदि रोमांटिक कहानियाँ हैं जिसमें अलंकरण की अपेक्षा कहानीपन की ओर ही ज्यादा ध्यान दिया गया है। ये कहानियाँ बहुत ही मनोरंजक और आकर्षक हैं, नीति और उपदेश सम्बन्धी कहानियों की चर्चा न करने का तो हमने पहले ही संकल्प कर लिया है। इसलिये यहीं हम इस चर्चा को बन्द करते हैं।

सज्जनों, बड़ी देर तक मैंने आपको प्राचीन युग के खँडहरों में भटका रखा। मुझे अफसोस है कि मैं आपकी प्राचीन साहित्य के रस लोक में नहीं ले जा सका, जहाँ कहीं सूर्योदय होते ही अभिसारिकाओं की जल्दबाजी से गिरे हुए केशों के मंदार-पुष्पों, कान के स्वर्णकमलों और पत्रच्छेदों और वक्षःस्थल-विराजित हार के मोतियों के रमण मार्ग का पता आसानी से लग जाता था

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मंदादपुष्पैः  
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।  
मुक्ताजालै स्तन परिचितच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः  
नैशो मार्गः मवितुरु दये सूच्यते कामिनीनाम्॥

कहीं, जल-क्रीड़ा के समय पानी के भीतर से बजता हुआ मृदंगजो तीर पर चक्कर काटने वाले उत्कलाप मयूरों की केका से अभिनंदित होता रहता था विलासिनियों के श्रवण और कपोल दोनों को लाल कर देता था

तीरस्यलीभिर्वहिरुत्कलापैः प्राग्निधकेकैरभिनंद्यमानम्।  
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्॥

कहीं, कन्दुक-क्रीड़ा के समय अन्तःपुरिकाओं के चरणों में अमन्द मणि-नूपुर क्वणित होते रहते थे, मेखला से झनझनाती रहती हार के तार टूट जाते थे। और सोने की चूड़ियाँ चंचल होकर वाचाल हो उठती थीं

अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारुचारिक्रमं  
झणज्झणितमेखलास्खलितनारहारच्छटम्  
इद् तरलकंकणावलशेषवाचालितं  
मनोहरति सुभ्रुवः किमपि कंदुकक्रीडनम्।

और कहीं, प्रभात होते ही पद्य-मधु से रंगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति चन्द्रमा आकाश गंगा के पुलिन से उदास होकर पश्चिम जलधि के तट पर उतर आते थे; दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पाण्डुर हो उठता था, हाथी के रक्त से रञ्जित सिंह के सटाभार के समान या लोहित वर्ण लाक्षारस के सूत्र के समान सूर्य की किरणें आकाश रूपी वन भूमि से नक्षत्रों के फूलों को इस प्रकार झाड़ देती थीं मानो वे पद्मराग मणि की शलाकाओं रूपी वन भूमि से नक्षत्रों के फूलों को इस प्रकार झाड़ देती थीं मानों वे पद्मराग की शलाकाओं की बनी हुई झाड़ू हों, उत्तर ओर अवस्थित सप्तर्षि मंडल सन्ध्योपासना के लिए मानसरोवर के तट पर उतर जाते थे, पश्चिमी समुद्र के तीर पर सीपियों के उन्मुक्त मुख से बिखरे हुए मुक्तापटल ऐसे लगते थे, मानो मोर जाग पड़ते थे, सिंह जमुहाई लेने लगते थे, करेणुबालाएँ मदस्त्रावी प्रियतम गजों को जगाने लगती थीं, वृक्षगण पल्लवांजलि से भगवान सूर्य को शिशिरसिक्त कुसुमांजलि समर्पित करने लगते थे, वन-देवताओं की अट्टालिकाओं और उन्नत वृक्षों की चोटी पर गर्दभ

लोम धूसर अग्निहोत्र का धूप इस प्रकार सट जाता था मानों कर्बुर वर्ण कपोतों की पंक्ति हो; शिशिर बिंदु को वहन करके पद्म वन को प्रकंपित करके परिश्रान्त शबर-रमणियों के धर्म बिन्दु को विलुप्त करके अन्य महिष के फेनबिंदु से सिंच के, कम्पित पल्लव और लतासमूह के नृत्य की शिक्षा दे करके, प्रस्फूटित पक्षों का मधु बरसा के पुष्प सौरभ के भ्रमरों को सन्तुष्ट करके मन्द-मन्द संचारी प्रभात वायु बहने लगती थीं; कमल वन के मत्त गज के गंडस्थलीय मद के लोभ से स्तुति पाठक भ्रमर रूपी वैतालिक गुंजार करने लगते थे, ऊपर में शयन करने के कारण वन्य-मृगों के निचले रोम धूसर वर्ण हो उठते थे और जब प्रभातिक वायु उनका शरीर स्पर्श करती थी तो उनींदी आँखों की ताराएँ टुलमुला जाती थीं और बरोनियाँ इस प्रकार सटी होतीं थीं मानों उत्तम जतुरस से सटा दी गई हों, वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगते थे, सरोवर में कलहंसों का श्रुति मधुर कोलाहल सुनाई देने लगता था, मयूर गण नाच उठते और वनस्थली एक अपूर्व महिमा से उद्भासित हो उठती थी। (कादम्बरी के प्रभात वर्णन से)। मैं उस जादू भरे रसलोक में आपको नहीं ले गया जहाँ प्रिया के पदाघात से अशोक पुष्पित हो जाता है, क्रीड़ा-पर्वत पर चूड़ियों की झनकार से मयूर नाच उठता है, प्रथम आषाढ़ के मेघ गर्जन से हंस उत्कंठित हो जाता है, कपोल देश की पत्राली आँकते समय प्रियतम के हाथ काँप जाते हैं, चूत मंजरी के स्वाद से काषायित कंठ कोकिल अकारण ही हृदय कुरेद देते हैं। क्रौंच-निनाद से वनस्थली की शस्य राशि अचानक कम्पायमान हो उठती है और मलयानिल के झोंके अनिवर्चनीय रसलोक को जगा देते हैं। इस मनोहर लोक की बात छोड़कर मैंने शुष्क वाग्जाल में आपको फँसा रखने का अपराध किया है। मैं उसका प्रायश्चित्त करने का मौका नहीं पा सकूँगा, परन्तु मित्रों, वह दुनिया कितनी भी रमणीय क्यों न रही हो, कितनी भी आकर्षक क्यों न रही हो उसे हमें छोड़ना ही पड़ेगा। आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न कालिदास का वाग्वैदग्ध्य। यन्त्रों के नितान्त गद्यात्मक युग में हम वास कर रहे हैं। यहाँ कल्पना पद-पद पर वास्तविकता से टकरा कर भोथी हो जाती है। दुनिया बदल गई है, दुनिया का विश्वास बदल गया है। यन्त्रों के आविष्कार ने हमारे अन्दर नई आशा और नई आशंकाएँ पैदा कर दी हैं। यह बेकार की बात है कि हम इस बहस में पड़े रहें कि उस मनोहारी युग में हम फिर से लौट कर जा सकते हैं या नहीं। जमाने की अनिवार्य तरंगों ने हमें जिस किनारे ला पटका है वहीं से हमें यात्रा शुरू करनी होगी। पीछे लौट जाने के प्रयत्न में बहादुरी और उद्भटता जितनी भी हो बुद्धिमाननी बिल्कुल नहीं है। आज जब हमारे सामने नई समस्यायें उपस्थित हैं तो पुरानी कलाओं के लिए हाय-हाय करना बेकार है। नये युग को अत्यन्त संक्षेप में बताना हो तो कहेंगे कि यह युग मानवता का युग है। पुराने काल में लोगों का विश्वास एक अदृश्य नियन्ता शक्ति के ऊपर था। मनुष्य ने आज अपने आपको ही अपने भाग्य का नियन्ता मान लिया है। उसने शास्त्रों और महापुरुषों के उपदेशों को नमस्कार कर दिया है और ईश्वर के हाथ से जगत् की व्यवस्था का चार्ज ले लिया है। उसके अन्दर दोष हैं, गुण हैं, शक्ति है, कमजोरी है। उसने सबको स्वीकार कर लिया है। अपनी इसी पूँजी पर उसने व्यापार शुरू किया है। उसने समस्त गुण-दोषों को शिरसा स्वीकार करके अपने लिए नई दुनिया बनाने की ठानी है। उसके सभी प्रयत्न धीरे-धीरे इस दिशा की ओर नियोजित हो रहे हैं। साहित्य और कला सम्बन्धी प्रयत्नों का इस तरह न जानना ही आश्चर्य होता है। इसीलिए आज यह काव्य और कथा के क्षेत्र में भीउसी ओर अग्रसर हुआ है। मैं इन प्रयत्नों के सम्बन्ध में आलोचना करने का प्रयास नहीं करूँगा। परन्तु आज हमारा वक्तव्य बिल्कुल अधूरा रह जायेगा यदि यन्त्रों के प्रवेश से जो परिवर्तन हुए हैं उसकी ओर संक्षेप में इशारा न कर दूँ।

नये यंत्र युग ने जिन गुण-दोषों को उत्पन्न किया है उन सबको लेकर उपन्यास और कहानियाँ अवतीर्ण हुई हैं। छापे के कल ने ही इनकी माँग बढ़ाई है और छापे के कल ने ही उनकी पूर्ति का साधन बनाया है। यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी सन्तान हैं। एक युग गया है जब कादम्बरी और दशकुमार चरित की रीति पर सभी प्रान्तीय भाषाओं में उपन्यास लिखे गये थे। और कहीं-कहीं तो उपन्यास का और हृदयेश की कहानियाँ उसी रीति पर अर्थात् शब्दों में झंकार देकर गद्य काव्य बनाने का उद्देश्य लेकर लिखी गयी थीं। पर शीघ्र ही सर्वत्र भ्रम टूट गया। झंकार कविता का प्राण हो सकता है पर वह उपन्यास का प्राण नहीं हो सकता, क्योंकि वह विशुद्ध गद्य युग की उपज है और उसकी प्रकृति में गद्य का सहज स्वाभाविक प्रवाह है। इस नवीन साहित्यांग का कथाआख्यायिका आदि से जो मौलिक अन्तर है वह आदर्श गत है। यन्त्र युग की विशेष वैयक्तिक स्वाधीनता उपन्यास का आदर्श है और काव्य काल का पूर्व निर्धारित और परंपरा समर्थित सदाचार कथा आख्यायिका का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसे चित्रित करने का प्रयास रहता है। कुछ थोड़े से ऐतिहासिक और जासूसी आदि श्रेणियों के उपन्यास समाज की वर्तमान अवस्था से दूर हट जाते हैं सही, परन्तु वे इतिहास और जासूसी की वर्तमान पहुँच के आधार पर ही अपनी कल्पना दौड़ाया करते हैं। काव्य और आख्यायिका में कवि कल्पना के बल पर अपनी वास्तविक दुनिया से भिन्न एकदम नई दुनिया बना सकता है। उपन्यास और काव्य में मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा को भूलाकर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता जबकि काव्य वर्तमान परिस्थिति की सम्पूर्णतः उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार वर्तमान पर जमा रहता है; वह कवि की भाँति जमाने के आगे रहने का दावा नहीं करता फिर उपन्यासकार का सबसे महत्वपूर्ण कार्य भी यह है कि वह समाज की स्थिति और गति को ठीक-ठीक चित्रित करता है। प्रेमचन्द्र को पढ़ने का अर्थ है भारतवर्ष के गाँवों को सच्चे रूप में देखना।

फिर भी उपन्यास एक स्थायी साहित्य है, यंत्रयुग की प्रधान साहित्यिक देन। समाचारपत्रों की तरह घण्टे भर में बासी होने वाला साहित्य नहीं तथापि इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अधिकांश छपे हुए उपन्यासों का मूल्य किसी बासी दैनिक पत्र से किसी प्रकार से कम नहीं है। यह विचित्र बात है कि उपन्यासों का वह गुण जो उनके बारे में बार-बार दुहराया जाता है अर्थात् समाज को ठीक-ठीक उपस्थित करना बड़ी आसानी से दैनिक पत्रों से भी सिद्ध हो जाता है। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि अगर अमेरिका को ठीक-ठीक समझना चाहते हो तो किसी लोकप्रिय दैनिक के किसी अंक को देख लो, अमेरिका अपने सब गुण-दोषों के साथ खड़ा हो जायेगा। उसके स्त्री, पुरुष क्या खाते हैं, क्या पहनते हैं, कैसी बातों में रुचि रखते हैं, किन रोगों के शिकार हैं, आदि कोई भी बात अप्रकट नहीं रह जायेगी। यह ठीक है हिन्दी में जो विज्ञापन छपा करते हैं वे उनमें छपी हुई कामकाजी बातों से अधिक नहीं होते। क्योंकि लेखक और सम्पादक लोग जो काम-काज की बातें छापते रहते हैं उनमें उनका कुछ खर्च नहीं होता, परन्तु विज्ञापनदाता जो बातें छापते हैं उसके लिए उन्हें काफी पैसे खर्च करने होते हैं। इसीलिए उनके अध्ययन से समाज को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। अच्छी साहित्यिक पुस्तकों के विज्ञापनों की अपेक्षा शास्त्र-विशेष की पुस्तकों के विज्ञापन न जाने क्यों हिन्दी पत्रों में अधिक छपा करते हैं। तो फिर स्वभावतः ही प्रश्न होता है कि उपन्यास का कार्य यदि समाज को सही ढंग से पाठक के सामने उपस्थित करना है तो दैनिक पत्र क्या बुरे हैं। प्रश्न ठीक है पर उत्तर भी बहुत कठिन नहीं है।

उपन्यास इसलिये स्थायी साहित्य नहीं है कि वह उपन्यास है। बल्कि इसलिये कि उसके लेखक का अपना जबर्दस्त मत है जिसकी सचाई के विषय में उसे पूरा विश्वास है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम रूप है। घासलेटी उपन्यास के लेखक का कोई अपना मत नहीं जो एक ही साथ उसका अपना भी हो और जिस पर उसका अखण्ड विश्वास भी हो। इसीलिए घासलेटी लेखक ललकारे जाने पर या तो भाग खड़ा होता है या विशुद्ध होकर गाली-गलौज पर उतर आता है। वह भीड़ के आदमियों को अपनी नजरों के सामने रख कर लिखता है। अपने प्रचारित मत पर उसे खुद विश्वास नहीं होता। प्रेमचन्द का अपना मत है जिस पर वे पहाड़ के समान अविचलित खड़े हैं। इस एक महागुण के कारण ही हिन्दी में अनेकानेक विरोधों के होते हुए भी जैनेन्द्र ने अपना स्थान बना लिया है। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, उपन्यास यंत्रयुग के समस्त गुण-दोषों के साथ ही लेकर उत्पन्न हुआ है। वैयक्तिक स्वाधीनता की जैसी अधोगति इस क्षेत्र में हुई है वैसी कहीं नहीं हुई और साथ ही उसकी जैसी सुन्दर परिणति इस क्षेत्र में हुई है वैसी अन्यत्र नहीं हो सकी। उपन्यासकार है ही नहीं यदि उसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण न हो और अपनी विशेष दृष्टि पर उसे पूरा विश्वास न हो। और सभी चीजें उसके लिये गौण हैं।

उपन्यास ने मनोरंजन के लिये लिखी जाने वाली कविताओं की ही नहीं; नाटकों की भी कमर तोड़ दी है। क्योंकि पाँच मील दौड़ कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा 5 सौ मील से किताब मँगा लेना आज के जमाने में अधिक सहज है। साथ ही उपन्यास में उन सब टंटों को हटा दिया गया है जो नाटक के लिये रंगमंच सजाने में होते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि इस युग में उपन्यास एक साथ ही शिष्टाचार सम्प्रदाय, बहस का विषय, इतिहास का चित्र और पाकेट का थियेटर हो गया है। इसने कल्पना-प्रसूत साहित्य के अन्य किसी भी साहित्यांग की अपेक्षा अधिक नजदीक ला दिया है। इस साहित्यांग में मशीन की विजय-ध्वजा है।

नाटक निश्चय ही उपन्यास से प्राचीन-वस्तु है। बहुत प्राचीन युग में यह अभिनय प्रधान था। पर साहित्य में घुसते ही यह साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग हो गया। ऐसे नाटक भी संस्कृत में लिखे गये जो कभी खेले नहीं गये। हिन्दी साहित्य के आधुनिक अभ्युत्थान का आरम्भ नाटकों से होता है। ये नाटक अधिकतर संस्कृत से अनुवादित थे। प्रधान मार्गदर्शक बाबू हरिश्चन्द्र थे। ये आधुनिकता से परिचित जरूर थे पर नख से शिख तक हिन्दुस्तानी थे। इन्होंने उपन्यास लिखने का प्रयत्न नहीं के बराबर किया।

शायद वे उपन्यासों की अभारतीय प्रकृति को पहचान गये थे। जो हो, भारतेन्दु ने नाटकों से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ किया पर यह विडम्बना ही है कि हिन्दी भाषा जिसके आधुनिक युग का आरम्भ ही नाटकों से होता है अन्यान्य गिनी जाने योग्य भारतीय भाषाओं की तुलना में आज भी नाटक-निर्माण के क्षेत्र में पिछड़ी हुई है। इसका कारण क्या है? आये दिन नाटकीय अभाव के कारण उद्विग्न साहित्यिक प्रायः ही इस प्रश्न पर विचार करते रहते हैं, पर इन विचारों का कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलता। कभी-कभी अखिल भारतीय सम्मेलनों के मौके पर उत्साहशील साहित्यिक जो नाटकाभिनय का उपहासास्पद अभिनय किया करते हैं वह निश्चय ही बहुत आशाजनक नहीं है।

असल में जिन दिनों हिन्दी में मौलिक साहित्य उत्पन्न करने की प्रेरणा आने लगी थी उन दिनों मशीन ने नाटक के विभाग पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया था। बिजली बत्ती के आविष्कार ने नाटक के सब टेक्निक बदल डाले थे। पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान की विधि में बहुत परिवर्तन हो गया था। पर यह सब हो ही रहा था कि कैमरे का इस क्षेत्र में प्रवेश

हुआ। किताबों के लिए जो काम छोपे की मशीन ने किया वही काम नाटकों के लिए कैमरे ने किया। इसने नाटकों का प्रचार ही नहीं किया उनकी माँग भी बढ़ा दी। आकाश, पाताल, समुद्र, जंगल कोई ऐसी जगह नहीं बच रही जहाँ से कैमरा दृश्य न ले आ दे सके। नतीजा यह हुआ कि नाटकों की पुरानी रूढ़ियाँ तड़ातड़ टूट गयीं। अमुक दृश्य ने रंगमंच पर दिखाया जाय और अमुक न दिखाया जाय इस प्रकार की पुरानी रूढ़ियों में कोई दम नहीं रह गया। सूत्राधार और नटी के संवाद, विष्कंभक और प्रवेशकों की कल्पना सभी भोथी सिद्ध हुई। चलती हुई तस्वीरें सब कुछ करने लगीं। पर अभी तक भी उसमें भाषागत माधुर्य नहीं दिया जा सका था। ऐसी हालत में अगर अपने साहित्य में रंगशाला की स्थापना का उद्योग होता तो कुछ आशा थी। पर हम जब भी सोते रहे। अचानक विज्ञान ने एक और भी अध्याय जोड़ दिया और नाटक को विशुद्ध साहित्य की गोद से एकदम छीन लिया। चलती हुई तस्वीरें बोलने लगीं। जहाँ एक तरफ उसने मशीन को प्राधान्य दे दिया वहाँ सुष्ठुभाषी मनुष्य की सहायता भी उसके लिये आवश्यक हो गयी। अब निश्चित है कि हिन्दी नाटकों की प्राण-प्रतिष्ठा का एक मात्र मार्ग बड़ी पूँजी लगा कर मशीन को अपने वश में करना है। उपन्यासों की भाँति सवाक् चित्रपटों ने भी भीड़ की रुचि को सामने रखा पर साहित्यिक सहायता की उसे जरूरत थी। ऐसा नहीं होने से प्रचार नहीं होने पाता। इस तरह यद्यपि नाटक एकदम छोड़ नहीं दी है। अब जब कि मशीन ने नाटक पर कब्जा जमा लिया है, विशुद्ध नाटक और उपन्यास की प्रतिद्वन्द्विता भी कम हो गयी है। धीरे-धीरे उपन्यास भी मशीन की गोद में जा रहा है। यद्यपि उसकी अपनी कुछ ऐसी विशेषता है जो उसे अन्त तक अभिभूत नहीं होने देगी।

(‘साहित्य-सहचर’ नामक पुस्तक से)



## उपन्यास और कहानी

---

हजारीप्रसाद द्विवेदी

उपन्यास और कहानियाँ हमारे साहित्य में नई चीज हैं। पुराने साहित्य में कथा, आख्यायिका आदि के रूप में इस जाति का साहित्य मिलता है पर उनमें और आधुनिक कथाओं-उपन्यास और कहानियोंमें मौलिक भेद है। मौका पाकर हम इस भेद को समझने का प्रयत्न करेंगे। अभी तो हम आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियों की ही चर्चा करने जा रहे हैं।

उपन्यास इस युग का बहुत ही लोकप्रिय साहित्य है। शायद ही कोई पढ़ा-लिखा नौजवान इस जमाने में ऐसा मिले जिसने दो-चार उपन्यास न पढ़े हों। यह बहुत मनोरंजक साहित्यांग माना जाने लगा है। आजकल जब किसी पुस्तक को बहुत मनोरंजक पाया जाता है तो प्रायः कह दिया जाता है कि इस पुस्तक में उपन्यास-का-सा आनंद मिल रहा है। किसी-किसी यूरोपियन समालोचक ने उपन्यास का एक-मात्र गुण उसकी मनोरंजकता को ही माना है। इस साहित्यांग (उपन्यास) ने मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली कविताओं का ही नहीं, नाटकों का भी रंग फीका कर दिया है; क्योंकि पाँच मील दौड़कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा पाँच सौ मील दूर से ऐसी किताब मँगा लेना कहीं अधिक आसान हो गया है जो अपना रंगमंच अपने पन्नों में ही लिए हुए हो।

उपन्यास में उन टंटों की कोई जरूरत नहीं रह जाती जो रंगमंच सजाने में आ खड़े होते हैं। किसी ने बिल्कुल ठीक कहा है कि आज के जमाने में उपन्यास एक ही साथ शिष्टाचार का सम्प्रदाय, बहस का विषय, इतिहास का चित्र और पाकेट का थियेटर है। मशीन ने ही इस जाति के साहित्य का उत्पादन बढ़ाया है और उसी ने इसके वितरण का पथ प्रशस्त किया है। उपन्यास साहित्य में मशीन की विजय-ध्वजा है। ऐसे लोकप्रिय साहित्य को समझने का प्रयत्न क्या करना भला! किंतु दुनिया में प्रायः ही ऐसा देखा जाता है कि सबसे प्रिय वस्तु को समझने में ही आदमी सबसे अधिक गलती करता है। प्रिय वस्तुओं के प्रति एक प्रकार का मोह हुआ करता है जो ज्ञान की परिपंथी है। उपन्यास के समझने में भी बहुत गलतियाँ

की जाती हैं। सीधी लकीर का खींचना सचमुच टेढ़ा काम है।

परंतु उपन्यास है क्या चीज? हिंदी के श्रेष्ठ औपन्यासिक प्रेमचंद ने लिखा है कि उपन्यास की ऐसी कोई परिभाषा नहीं है जिस पर सब लोग सहमत हों। फिर भी उन्होंने उसे समझाने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं :

‘मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं पर इतनी समानता रहने पर भी विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होते हैं। यही चरित्र-संबंधी समानता और विभिन्नता-अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्वदिखाना उपन्यास का मूल कर्तव्य है।’

‘संतान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी संतान प्यारी न हो। लेकिन इस संतान-प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद है। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेला है, लेकिन धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता और जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। यह तीसरा संतान-प्रेम वह है जहाँ संतान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता उसका कुचरित्र देखकर उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। इसी कारण अन्य मानवी गुणों की भी मात्रायें और भेद हैं। चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म और जितना ही विस्तृत होगा उतनी ही सफलता से चरित्रों का चित्रण हो सकेगा। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है कि जब पिता पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर उसका घातक शत्रु हो जाता है। और वह भी संतान प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। ऐसा संतान-प्रेम भी देखने में आता है, जहाँ शराबी और जुआड़ी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।’

इस प्रकार प्रेमचंद जी उपन्यास को बहु-विचित्र मनुष्य-जीवन का चित्र मात्र मानते हैं। यह चित्र सुंदर हुआ है या नहीं और यदि सुंदर हो सका है तो पाठक की उत्कर्ष-सिद्धि में कहीं तक सहायक हुआ है, यह बात फिर भी विचारणीय रह जाती है।

उपन्यास और कहानियों की हम इस अध्याय में एक साथ विवेचना करने जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि दोनों वस्तुतः एक ही जाति की चीजें हैं। शुरू-शुरू में तो छोटे उपन्यास को ‘कहानी’ कहते थे। परंतु छापे की कल तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार ने छोटी कहानियों का बहुत प्रचार किया और धीरे-धीरे वे उपन्यास से स्वतंत्र हो गयीं। बाद में चलकर यह निश्चय हो गया कि आकार-मात्र ही कहानी की विशेषता नहीं है। कहानी का अपना एक लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कहानी-लेखक कम-से-कम पात्रों और घटना और निमित्त मात्र। इस प्रकार उपन्यास और कहानी का प्रधान अंतर यह होता है कि उपन्यास में चरित्रों और घटनाओं का प्राधान्य रहता है, वे केवल निमित्तमात्र नहीं होते, बल्कि उन्हें स्वच्छन्द रूप से विकसित होने का मौका मिलता है, जबकि ये दोनों ही तत्त्व कहानी में प्रधान न होकर निमित्त मात्र बने रहते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह नहीं कहा जा सकता है कि कहानी में पात्र और घटना गौण होते हैं, बल्कि यह कहा जा सकता है कि वे निमित्त मात्र होते हैं; असली बात लक्ष्य होती है। और उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए पात्र और घटना जितने सहायक होते हैं उतने ही रखे जाते हैं। लेखक का व्यक्तिगत मत इसमें अधिक स्पष्ट होता है। कुछ समालोचकों ने एक उपमा देकर इस बात को समझने की चेष्टा की है। उपन्यास एक शाखा-प्रशाखा वाला विशाल वृक्ष है, जबकि छोटी कहानी एक सुकुमार लता। कुछ दूसरे समालोचकों ने बताया है कि उपन्यास और कहानी एक सुकुमार लता। कुछ दूसरे समालोचकों ने बताया है कि उपन्यास और कहानी का वही संबंध है जो महाकाव्य और गीतिकाव्य का। इन उपमाओं के बहाने जो बात कही गई है उसे स्पष्ट भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है उपन्यास और कहानी दोनों एक ही जाति के सहित्य हैं; परंतु उनकी उपजातियाँ इसलिए भिन्न हो जाती हैं कि उपन्यास में जहाँ पूरे जीवन की नाप-जोख होती है, वहाँ कहानी में उसकी सिर्फ एक झाँकी मिल जाती है। मानव-चरित्र के किसी पहलू पर या उसमें घटित किसी एक घटना पर प्रकाश डालने के लिए छोटी कहानी लिखी जाती है।

देखा गया है कि अच्छे उपन्यासकार सब समय अच्छे कहानी-लेखक नहीं हो सकते हैं, ठीक उसी प्रकार अच्छे महाकाव्य-लेखक सब समय अच्छे गीतिकाव्य-लेखक नहीं हुए हैं। यह तथ्य इस बात का सबूत है कि कहानी और उपन्यास के लिखने में भिन्न-भिन्न कोटि की प्रतिभा आवश्यक होती है। प्रेमचंद जी ने कहा है कि कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। कहानी-लेखक का उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य-जीवन को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र के एक अंग-मात्र को दिखाना होता है।

नये आलोचकों के मत से इधर कहानी की कारीगरी वाले दृष्टीकोण में थोड़ा और परिवर्तन हुआ है। अब प्रतिभा की अपेक्षा चतुरता और कारीगरी का मूल्य ज्यादा आँका जाने लगा है। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ-काल के लेखकों की लिखी हुई अत्यन्त श्रेष्ठ कहानियों को भी कहानी-कला की दृष्टि से फीका समझा जाने लगा है।

“उन्नीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ कहानी-लेखक अपनी रचनाओं में मनोरंजकता रहस्यमय कथानक, मानव-हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, गहरे यथार्थवाद और अनोखी सूझों का समावेश करके कहानियों के क्षेत्र में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते थे। परंतु कहानी कला के वर्तमान आलोचकों की राय में इन सारी बातों की महत्ता बहुत कम रह गई है। इन चीजों को व्यर्थ या निस्सार तो आज का समालोचक भी नहीं कहता, परंतु अब वह कहानी के कलेवर में उसकी आत्मा से भी अधिक महत्त्व देने लगा है” (चंद्रगुप्त विद्यालंकार)

परंतु आज के समालोचक का यह मत केवल सामयिक नवसर्जन-मनोवृत्ति का परिणाम है। इस युग में सबको सब समय कुछ नया गढ़ने का पागलपन ग्रास किये हुए है। कोई आश्चर्य नहीं कि साहित्य के क्षेत्र में इस मनोवृत्ति ने प्रतिभा को कारीगरी के सामने गौण बना दिया है। सही बात, जैसा कि चंद्रगुप्त विद्यालंकार जी ने कहा है, यह है कि प्रतिभा नई-नई कारीगरियों को जन्म देती है; वह सदा प्रधान रहेगी।

उपन्यास हो या कहानी, उसकी आलोचना करते समय हम एक बात भूल नहीं सकते। वह यह कि उपन्यास या कहानी, और कुछ हो या न हो, एक कहानी या कथा जरूर है। कहानी या कथा में जो बातें आवश्यक हैं वे उनमें अवश्य होनी चाहिए। कोई उपन्यास (या छोटी कहानी) सफल है या नहीं, इस बात की प्रथम कसौटी यह है कि कहानी कहने वाले ने कहानी ठीक-ठीक सुनाई है या नहीं अनावश्यक बातों का तूल तो नहीं दिया है, जहाँ-तहाँ कहानी अधिक मर्मस्पर्शी हो सकती थी वहाँ-वहाँ उसने उसे उचित रीति से सम्हाला है या नहीं,

छोटी-छोटी बातों में ही उलझकर तो नहीं रह गया, प्रसंगवश आयी हुई घटना का इतना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा जिसे पाठक का जी ही ऊब जाय और सौ बात की एक बात यह कि वह शुरू से अंत तक सुनने वाले की उत्सुकता को जाग्रत रखने में नाकामयाब तो नहीं रहा। कहानीपन इस साहित्य की प्रथम शर्त है।

सभी कहानी नहीं कह सकते, कुछ लोगों को यह गुण विधाता की ओर से मिला होता है। असल में वे ही लोग अच्छे उपन्यास-लेखक हो सकते हैं जो कहानीपन के जानकार हैं और शुरू से अंत तक श्रोता की उत्सुकता बनाए रखने की कला के उस्ताद हैं।

कोई भी कहानी होयहाँ 'कहानी' नामक साहित्य रचना से मतलब नहीं है, बल्कि लोकप्रचलित मामूली अर्थ में व्यवहार हो रहा है; उसमें छह बातें जरूरी हैं :

(1) कुछ प्राणियों के जीवन की घटना होती है; (2) इन लोगों का संबंध कुछ घटनाओं या व्यापारों से रहता है; (3) जिनके जीवन की कथा सुनाई जा रही है वे आपस में, और कभी खुद से भी, बातचीत जरूर करते हैं, (4) कथा की घटना किसी-न-किसी स्थान और किसी-न-किसी काल में जरूर घटती है; (5) फिर कहने वाले का अपना कोई-न-कोई ढंग जरूर रहता है। कोई भी कहानी हो ये पाँच बातें उसमें रहती हैं, यह तय है।

एक छठी बात भी है जो आजकल उपन्यास में प्रधान हो उठी है। पुराने जमाने में सब समय इसका रहना जरूरी नहीं समझा जाता था। यह (6) छठी बात है उद्देश्य। उपन्यास में ये छः बातें रहती हैं। शास्त्रीय भाषा में इन्हें क्रमशः (1) पात्र, (2) कथा-वस्तु, (3) कथोपकथन, (4) देश-काल, (5) शैली और (6) उद्देश्य कहते हैं।

उपन्यास के इन छह तत्त्वों में से कभी-कभी एक या दो तत्त्व प्रधान हो जाते हैं। उनकी प्रधानता के अनुसार उपन्यासों के भिन्न-भिन्न भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जिन उपन्यासों में पात्रों की प्रधानता होती है वे चरित्रप्रधान और जिनमें घटना की प्रधानता होती है उन्हें घटना प्रधान उपन्यास कहते हैं। अन्यान्य बातों की प्रधानता भी उनके नाम पर ही प्रसिद्ध होती है। यदि हम इन तत्त्वों पर ध्यान देकर विचार करें तो यह मालूम होगा कि घटना इन सबमें स्थूल वस्तु है और उद्देश्य सबसे सूक्ष्म। इन बातों का अलग-अलग सुंदर निर्वाह उपन्यासकार का आवश्यक गुण है परंतु इन सबके सामंजस्य से ही उपन्यास की कथा मनोहर होती है। इनके उचित सन्निवेश से ही उपन्यास का रसास्वाद सुकर होता है।

कथा-वस्तु का ठोस और सुसंबद्ध होना परम आवश्यक है। कथा की गति को अग्रसर करने के लिए और उसके पात्रों की मनोवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए जितना आवश्यक है उससे कुछ भी अधिक होने से घटनागत औचित्य नष्ट हो जाता है। उद्देश्य विशेष की सिद्धि के लिए लेखक कभी-कभी ऐसी घटनाओं की योजना करता है जो कथा-वस्तु के ठोसपन की दृष्टि से एकदम अनावश्यक और अप्रसांगिक होती है। 'प्रेमाश्रम' में सनातन धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन बहुत आवश्यक नहीं था, वह तो सिर्फ जमींदारी प्रथा की कलंक-रेखा को और भी गाढ़ा बना देने के उद्देश्य से लिखा गया था। उसके निकाल देने से मूलकथा का कोई विशेष नुकसान नहीं होता। परंतु लेखक को जमींदारी-प्रथा और वकालत के पेशे को बुरा सिद्ध करने का मोह था और वे इन लम्बे प्रसंगों को छोड़ नहीं सके।

मूलकथा को उज्ज्वल रूप में प्रत्यक्ष करने के लिए कभी-कभी ग्रंथकार अवांतर घटनाओं की सृष्टि करता है। वे अवांतर घटनाएँ दो प्रकार से मूलकथा को उज्ज्वल और गतिशील बनाती हैं। (1) सहायक के रूप में या (2) विरोधी के रूप में। सुग्रीव और बालि का झगड़ा रामायण की मूल-कथा को अग्रसर करने में सहायक है, परंतु 'गोदान' में होरी की कहानी के साथ रायसाहब आदि उच्चतर वर्ग के लोगों का जो समानांतर घटना-प्रवाह चलाया गया है, वह इसलिए कि

किसान के जीवन को उसके एकदम प्रतिकूल जीवन की पृष्ठभूमि में रख कर और भी उज्ज्वल रूप में दिखाया जा सके।

घटनाग्रस्त औचित्य का तकाजा है कि अवांतर घटनाएँ इस प्रकार मूल घटना के साथ बुन दी जाएँ कि पाठक को कहीं भी संदेह न होने पावे कि वह दूसरी कथा भी पढ़ रहा है। 'रंगभूमि' एक तरफ सूरदास आदि ग्रामीण पात्र की कहानी है और दूसरी तरफ राजे और रईस की। परंतु लेखक ने बड़ी मुस्तैदी से दोनों कथा-वस्तुओं को एक-दूसरे से उलझा दिया है। 'गोदान' को कथा-वस्तुओं में इतनी सफाई नहीं है। इस प्रकार यद्यपि उद्देश्य की सिद्धि के लिए लेखक को बहुत-कुछ करने का साधन और अधिकार प्राप्त है, परंतु घटनागत औचित्य का निर्वाह भी कम जवाबदेही का काम नहीं है।

औचित्य उपन्यास की जान है। औचित्य का अभाव सर्वत्र खटकता है, पर उपन्यास में उसका अभाव तो बहुत अधिक खटकने वाला होता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में, उनकी बातचीत में, उनके वस्त्रालंकारों के वर्णन में, उन रीति-नीति के उपस्थापन में सर्वत्र औचित्य की आवश्यकता होती है। सर्वत्र यह आवश्यक है कि उपन्यासकार पूरी ईमानदारी और सच्चाई से काम ले। इन सब बातों में देश, काल और पात्र ज्ञान की आवश्यकता रहती है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाला लेखक उस काल के वातावरण से बँधा होता है। वह कोई भी ऐसी बात अगर लिख दे, जो उस जमाने में संभव नहीं थी तो बात खटक जाएगी और सहृदय पाठक के रसास्वादन में बाधा उपस्थित होगी।

एक प्रसिद्ध उपन्यासकार ने पठानकाल की एक घटना को आश्रय करके उपन्यास लिखा है। उसमें अमरूद के पेड़ों का वर्णन है। यह बात काल-विरुद्ध है; क्योंकि अमरूद का पेड़ पोर्तुगीजों का ले आया हुआ है। उनसे पहले वह इस देश में था ही नहीं। उपन्यास का एक पात्र खाट पर लेटे-लेटे पुस्तक पढ़ता है, यह भी काल-विरुद्ध बात है। उन दिनों न तो छापे की कल के कारण आधुनिक ढंग के उपन्यास ही थे, न पुट्टोवाली पुस्तकें ही थीं, और न लेटे-लेटे पढ़ने की प्रथा ही थी। उन दिनों खुले पत्रों की पुस्तकों का ही प्रचलन अधिक था। इसी प्रकार देश-विरुद्ध बातें भी खटकने वाली होती हैं।

एक लेखक ने उत्तर-भारत के नगरोद्यान के वर्णन-प्रसंग में वसंत ऋतु में शेफालिका-पुष्पों का वर्णन किया है। दक्षिण-भारत में तो सुना जाता है, वसंत में शेफालिका खिलती है, पर उत्तर भारत में यह बात साधारणतः नहीं दिखती। पात्रगत औचित्य के निर्वाह में प्रायः प्रमोद का परिचय पाया जाता है। कभी कभी बड़े-बड़े सम्राटों के मुँह से ऐसी बातें कहलवाई जाती हैं जो न उनके पद-मर्यादा के उपयुक्त होती हैं, और न चरित्र-विकास के। इस औचित्य-निर्वाह के लिए परम आवश्यक है कि उपन्यास-लेखक अपने देश और काल का पूरा जानकार हो और पात्रों के चरित्र विकास को समझने वाला हो। वह जो कुछ कहे, उसका देखा-जाँचा और अनुभव किया हुआ हो। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक की ईमानदारी की यही कसौटी है।

कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक प्राचीन काल की बातों को स्वयं कैसे देख सकता है? उत्तर यह है कि ऐतिहासिक लेखक का वक्तव्य इतिहास की उत्तम जानकारी तथा उस युग की प्रामाणिक पुस्तकों, मुद्राओं और शिला-लेखों के आधार पर जाँची हुई होनी चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक मृत घटनाओं और अर्द्धज्ञान या नाम मात्र से परिचित व्यक्तियों के कंकाल में प्राण-संचार करता है। कल्पना उसका प्रधान अस्त्र है। पर उस कल्पना के साथ उसकी जानकारी का सामंजस्य होना चाहिए। अगर उसके कल्पना के पोषक प्रामाणिक नहीं हुए तो रसास्वाद में पद-पद पर बाधा पहुँचेगी। इस प्रकार विषयगत औचित्य और विषयगत ईमानदारी उपन्यास की जान है। ये ही लेखक पर पाठक का विश्वास स्थिर करते हैं। जो

उपन्यास-लेखक पाठक का विश्वास अर्जन नहीं कर सकता वह कभी सफल नहीं हो सकता।

लेखक की ईमानदारी का एक उत्तम उदाहरण सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों के स्त्री-पात्र हैं। इनकी कहानियाँ बहुओं विशेष कर शिक्षित बहुओंके दुःखपूर्ण जीवन को लेकर लिखी गई हैं। उन्होंने किताबी ज्ञान के आधार पर या सुनी-सुनाई बातों का आश्रय करके कहानियाँ नहीं लिखीं, बल्कि अपने अनुभवों को ही कहानी के रूप में रूपांतरित कर दिया है। यही कारण है कि उनके स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है। उनसे परिचय पाकर हम सजीव प्राणियों के संसर्ग में आते हैं, जो अपने जीवन के उन पहलुओं से हमारा परिचय कराते हैं, जिन्हें हम बहुत कम जानते हैं। उस ईमानदारी के कारण ही उनके पात्र इतने प्रभावशाली हो सके हैं।

उपन्यासकार के पात्रों की सजीवता और स्वाभाविकता सदा अपेक्षित है। पाठकों को उनके संसर्ग में आते समय यह विश्वास बना रहना चाहिए कि वे सत्य हैं, कपोल-कल्पित नहीं। प्रेमचंद को “कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में” विश्वास नहीं था। उन्होंने लिखा है कि इन गढ़े हुए पात्रों के कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है। वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है, या अपने पात्रों की जवान से वह खुद बोल रहा है। इसीलिए कुछ समालोचकों ने साहित्य को लेखक का जीवन-चरित्र कहा है। आजकल का लेखक कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है पर ऐसी जिसमें सजीवता हो; वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इस बाता का प्रयत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौके पर इस प्रकार आचरण करें जैसे रक्त-माँस का मनुष्य करता है।

पात्रों का चारित्रिक विकास स्वाभाविक होना चाहिए। साधारणतः दो तरह से उपन्यास-लेखक अपने पात्रों के चरित्र का विकास करता है (1) घटनाओं से टक्कर खिलाकर और (2) पात्र के भीतर के स्वाभाविक अंकुर के विशेष गुण को निमित्त बना कर। प्रथम को बाह्य उपकरणमूलक विकास कहते हैं और दूसरे को आंतरिक उपकरण मूलक। दूसरे प्रकार का विकास ही स्वाभाविक और हृदयग्राही होता है। घटिया श्रेणी के लेखक प्रायः इस विषय में असफल सिद्ध होते हैं। उपन्यास का नायक ही समस्त घटनाओं में योग स्थापित कर रहा हो और उन घटनाओं का आपस में कोई संबंध न हो तो ऐसे कथानक को शिथिल कथानक कहते हैं, परंतु यदि घटनाएँ जीवंत रूप में एक दूसरे से गुँथी हो तो उस कथानक को संग्रथित कहते हैं।

कुछ उपन्यासकार आत्म-कथा की शैली पर उपन्यास लिखते हैं, कुछ डायरी के रूप में, कुछ चिट्ठियों के रूप में, कुछ बातचीत के रूप में और कुछ पूर्वापर रूप में कहानी को कह जाने के रूप में। सर्वत्र औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। आत्म-कथा या डायरी के रूप में लिखने वाले पर केवल नायक की जानी हुई बातों के सहारे उपन्यास गत औत्सुक्य बनाए रखने तक रस-परिपाक कराने की जिम्मेदारी होती है। उसे कथा-प्रवाह के बढ़ाव के लिए बड़ी सावधानी से ऐसी नई-नई घटनाओं का उल्लेख करना पड़ता है, जो पाठक की जानकारी में संभव हो। चिट्ठियों और बातचीत के रूप में लिख गए उपन्यासों में लेखक को कुछ अधिक सुविधा प्राप्त होती है, पर बंधन वहाँ भी होता है। सबसे सहज शैली होती है उपन्यासकार का सर्वज्ञ बन जाना। दुनिया के बड़े-बड़े उपन्यासकारों ने अधिकतर इसी शैली को अपनाया है। उपन्यासकार वहाँ सब जानता है पात्र के भीतर क्या घट रहा है, उसके संपर्क में आने वाले क्या और कितना समझ रहे हैं, बाहर क्या घट रहा है इत्यादि सभी बातें उसे मालूम होती हैं। परंतु सर्वज्ञता की जवाबदेही के कारण उसका कार्य बड़ा कठिन होता है। जो शैली सबसे सहज है उसमें औचित्य का निर्वाह सबसे कठिन है।

अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए लेखक सारी घटनाओं का सन्निवेश करता है, पात्रों के चरित्रों को अभीष्ट दिशा में विकसित होने देता है, उनमें बातचीत करता है और शैली-विशेष का आश्रय लेता है। कभी-कभी वह जिस उद्देश्य को लेकर लिखने बैठता है, अंत तक सिद्ध नहीं होता। 'प्रेमाश्रम' में लेखक का उद्देश्य प्रेम और भ्रातृ-भाव के महान आदर्श का अंकित करना जान पड़ता है। ग्रंथकार ने इसी उद्देश्य से कहानी का भित्ति स्थापन किया था और चरित्रों की योजना की थी, पर अंत तक जाकर यह उद्देश्य दब गया है और एक दूसरा प्रतिपाद्य प्रबल हो गया है। यह दूसरा उद्देश्य है जर्मीदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता। लेखक का भावात्मक आदर्श गौण हो गया है और भावात्मक आदर्श प्रधान।

उपन्यास के भिन्न-भिन्न तत्त्वों का अलग-अलग और मिलाकर भी किया हुआ सूक्ष्म चित्रण और सफलतापूर्वक निर्वाह ही उपन्यास को बड़ा नहीं बना देता, बड़ा बनाती है उद्देश्य की महत्ता और उसकी सफल सिद्धि। सब तत्त्व मिलकर पाठक के ऊपर जिस प्रभाव की सृष्टि करते हैं। उस प्रभाव के माप पर ही उपन्यास का महत्त्व निर्भर है। घटना, पात्र, कथोपकथन और शैली आदि का सफल निर्वाह उस प्रभाव की अपेक्षा में ही उत्तम हो सकता है। कई, उपन्यास-लेखकों की कृतियों में इस तत्त्वों का जोरदार सन्निवेश है, फिर भी उनसे पाठक के चित्त पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। वे मानव-जीवन की सड़ाण और गंदगी को मोहक बनाकर रखते हैं और इस प्रकार पाठक को एक प्रकार की गंदी शराब पिलाकर मोहग्रस्त कर देते हैं। यह वस्तु कभी बड़ी नहीं हो सकती। भोजन की उत्तमता की कसौटी केवल परिपाक, सुगंधि और द्रव्यों का सन्निवेश मात्र नहीं है, और न खुब सुस्वादु होना ही उसकी कसौटी है। भोजन अच्छा वह है, जो इन सारे गुणों के साथ-ही-साथ मनुष्य को स्वस्थ और सबल बनाए। जो भोजन परिणाम में मोहग्रस्त कर देता है या रोगी बना देता है या मृत्यु का शिकार बना देता है, उसे अच्छा भोजन नहीं कह सकते। बुरे प्रभाव वाला उपन्यास भी ऐसा ही है। मानव-जीवन की गंदगियों को मोहक और आकर्षक करके चित्रण करने वाले उपन्यास विषाक्त भोजन के समान घातक हैं। सुप्रसिद्ध पत्रकार पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने ऐसे उपन्यासों को 'घासलेटी साहित्य' नाम दे रखा है।

प्रश्न हो सकता है उद्देश्य की महत्ता की परख क्या है? मनुष्य का चरित्र जिस रूप में आज परिणत हुआ है उसके कई कारण हैं। नाना मनीषियों ने इसे नाना रूप में समझने-समझाने की चेष्टा की है। अपने विशेष दृष्टिकोण का समर्थन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक पूर्ववर्ती दृष्टिकोण से उसकी श्रेष्ठता न प्रमाणित कर ली जाय। इस प्रकार पूर्वमत को निरस्त्र करके नये मत के स्थापित करने का नियम है। उपन्यास-लेखक दार्शनिक पंडित के इस नियम को नहीं मानता; पर जीवन के प्रति उसका जो विशेष दृष्टिकोण है उसे कौशलपूर्ण ढंग से स्थापित करते समय उस विशेष दृष्टिकोण के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा कर देता है जो उसका अभिप्रेत नहीं है। इस कार्य को वह बड़ी सावधानी से करता है। हिंदी में प्रेमचंद जी इस कला के उस्ताद थे। उनकी कहानियों में जीवन को समझने की अनेक दृष्टियाँ मिलेंगी। अपने जीवन में उन्होंने मानव-जीवन को समझने के लिए दृष्टिकोण भी बदले हैं पर पुरानी दृष्टि-भंगियों की गलती दिखाने के बाद ही। 'कफन' नामक कहानी इस बात का एक उत्तम उदाहरण है। उसके पढ़ने से जीवन की व्याख्या करने वाले अनेक मत निस्सार प्रतीत होते हैं। जान पड़ता है कि लेखक ने उन व्याख्याओं को सामने रखकर ही कहानी लिखी है।

धार्मिक व्याख्या यह है कि भगवान् संसार को एक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था में रखने के लिए सदा प्रयत्नशील हैं। जो कोई भी जीव, जहाँकहीं भी, जिस-किसी रूप में दिख रहा है, वह उसी रूप में वहाँ आने को बाध्य था। सब-कुछ किसी अदृश्य शक्ति द्वारा पूर्व निर्णीत हैपाप और पुण्य, धर्म और कर्म, ऊँच और नीच-सब। दूसरी एक व्याख्या एक प्रकार के

नास्तिकों की है। प्रसिद्ध फ्रेंच पंडित टेन को इस मत का पोषक बताया जाता है। जो कुछ भी, जहाँ-कहीं भी, जिस-किसी रूप में दिख रहा है, वह तीन कारणों से हुआ है—जातिगत विशेषता के कारण, भौगोलिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के कारण, और ऐतिहासिक परंपरा के भीतर से आने के कारण। इन तीनों बातों को अलग-अलग एकमात्र मानकर भी जीवन की व्याख्याएँ की गयी हैं। एक प्रकार के पंडित हैं, जो स्वीकार करते हैं कि भौगोलिक परिस्थिति ही हमारे समस्त विधि-निषेध, आचार-विचार और दर्शन-काव्य के मूल में है। एक दूसरे पंडित समस्त सदगुणों और असदगुणों के कारण आर्थिक परिस्थितियों में खोजते हैं। उनके मत से आर्थिक सुविधा या असुविधा ही सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विधान-शृंखला के वास्तविक मूल हैं। 'कफन' में इस दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण के प्रति उसमें कौशलपूर्ण प्रतिवाद के भाव हैं। आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता इस कहानी में कुछ इस प्रकार उपस्थित की गयी है कि मध्यवर्ग की बहुविधोषित करुणा और प्रेम की कोमल भावनाओं का कोमलपन अत्यंत खोखला होकर प्रकट हुआ है।

उत्तम लेखक समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसे समझता है और वहीं से अपनी विशेष दृष्टि पाता है, यदि कोई लेखक परंपरागत रूढ़ियों को सत् और असत् की निर्धारित सीमाओं को बिना विचारे ही उपन्यास या कहानी लिखने बैठता है तो वह बड़ी कृति नहीं दे सकता है। उसे हमेशा जटिलताओं को चीरकर भीतर देखने का व्रत लेना पड़ता है। ऐसा करने के बाद यदि वह रूढ़ियों को ही सत्य समझे तो कोई हर्ज नहीं, परंतु सच्चाई उसकी अपनी आँखों देखी होनी चाहिए। इसके बिना वह बड़ी कृति नहीं पैदा कर सकता। साधारण पाठक भी इस कसौटी पर उपन्यास-लेखक के उद्देश्य से और जीवन के प्रति उसकी विशेष दृष्टि-भंगी की महत्ता समझ सकता है।

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सभी लेखक अपनी तरफ से काट-छाँट और कमी-वेशी करके मानव-चरित्र को हमारे सामने रखते हैं। बात यह है कि कोई कितना ही ब्यौरेवार जीवन को उपस्थित करने का यत्न क्यों न करे, उसे बहुत-सी बातें छोड़नी ही पड़ेंगी। किसी आदमी के जीवन में एक दिन में जितने प्रयत्न और चेष्टाएँ होती हैं उनको लिपि-बद्ध करने से पोथा तैयार हो सकता है। इसलिए लेखक अपने विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए और कथा को प्रवाहशील तथा मनोरंजक बनाए रखने के लिए जितना भी आवश्यक है, उतना ही अंश लिपिबद्ध करता है, बाकी जो तुच्छ है, अनायास-ग्राह्य है, उसे उबा देने वाला है, और जो अनावश्यक है, उन्हें छोड़ देता है। प्रश्न किया गया है कि क्या ऐसा करने का उसे अधिकार है?

एक श्रेणी के साहित्यिक हैं जो चरित्रों में काट-छाँट और सजाव-बनाव को दोष समझते हैं। ये लोग यथार्थवादी कहलाते हैं। ये लोग मानव चरित्र को उसके नग्नतम रूप में अर्थात् उसे बनाए-सजाए बिनाजैसा है वैसा ही रूप रख देने के पक्षपाती हैं। उनके चरित्रों का प्रभाव पाठक पर बुरा पड़ेगा या भला इसकी वे परवाह नहीं करते। उनके चरित्र अपने जीवन की कमजोरियाँ और मजबूतियाँ, दोष और गुण, अमृत और विष दिखाते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं। संसार में स्पष्ट दिखता है कि सब समय सत्कर्मों का फल शुभ ही नहीं होता और असत् कर्मों का फल अशुभ ही नहीं होता, इसलिए इन यथार्थवादी साहित्यिकों के चरित्र अच्छा काम करके भी ठोकरें खाते रहते हैं और अपमानित-लांछित होते रहते हैं। अपने अनुभवों के बल पर यथार्थवादी ने देखा है कि संसार में बुरे चरित्रों की ही अधिकता है और अच्छे-से-अच्छे समझे जाने वाले चरित्र में भी दाग होता है। इसलिए यथार्थवाद मनुष्य के चरित्र को नग्न रूप में उपस्थित करता है। प्रेमचंद ने यथार्थवादी के इन गुणों को ध्यान में रखकर



यह निष्कर्ष निकाला था कि यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है। वह हमारी विषमताओं और खामियों का नंगा प्रदर्शन है। वह मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठा देता है और पाठक को ऐसा बना देता है कि उसके चारों ओर बुराई ही बुराई दिखाई देने लगती है। परंतु उन्हें भी इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा को दिखाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने के लिए अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखाएँ, जितना कि वह वास्तव में है। लेकिन जब दुर्बलताओं के चित्रण में शिष्टता की सीमा लॉघ जाता है, तब आपत्तिजनक हो जाता है।

दूसरा दल आदर्शवादी कहलाता है। वह ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना पसंद करता है जो दुनिया की कमजोरियों से ऊपर होते हैं, जो प्रलोभनों से डिगते नहीं और जिनकी सरलता दुनियादारी और कूट-बुद्धि से हारकर भी पाठक को उन्नत बनाती है। आदर्शवादी यह नहीं मानता कि मनुष्य में छोटा अहंभाव है, जो उसे आहार, निद्रा आदि पशु-सामान्य प्रवृत्तियों की गुलामी करने को ही प्रयोजित करता है, या जो सारी दुनिया को वंचित करे अपने को समृद्ध बनाने में रंग पाता है वही वास्तव या यथार्थ है। उसके मत से मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व उसका आत्मत्याग है, सत्यनिष्ठा है, कर्तव्यपरायणता है, और इसी को वह बड़ा करके चित्रित करता है। वह कठिन-से-कठिन कष्ट की हालत में भी अपने आदर्श पात्र के चेहरे पर शिकन नहीं पड़ने देता।

यथार्थवाद के साथ रोमांस की भी तुलना की जाती है। 'रोमांस' शब्द अंग्रेजी का है। साहित्य में इसका प्रयोग दीर्घकाल से होता रहा है, इसलिए इस शब्द से जो कुछ समझा जाता है उसमें बहुत परिवर्तन भी होता रहा है। साधारणतः रोमांस उन साहस और प्रेम-मूलक कथाओं को कहा जाता है जो भारतीय साहित्य के गद्यकाव्य की श्रेणी में आते हैं। यही कारण है कि अंग्रेज पंडितों ने 'कादंबरी', 'दशकुमार-चरित' आदि को भारतीय रोमांस कहा है। रोमांस में कल्पना का प्राबल्य होता है और उसमें एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाता है, जो इस वास्तविक दुनिया की जटिलताओं से मुक्त रहता है पर जहाँ मनुष्य के मनोराग वैसे ही होते हैं जो इस दुनिया में होते हैं।

वस्तुतः रोमांस का वातावरण काव्यमय होता है और उसमें कल्पना और भावावेग का प्राधान्य होता है। यथार्थवाद को यह ठीक विरुद्ध दशा में जाता है। आदर्शवाद के साथ यथार्थवाद का अंतर उद्देश्यगत है, परंतु रोमांस के साथ उसका विरोध प्रकृति-गत है। किसी पश्चिमी पंडित ने रोमांस के मूल में जो सत्य है उसकी तुलना काव्यगत सत्य से की है। यथार्थवाद तथ्य-जगत् के बाहर की चिंता नहीं करता। रोमांस मनुष्य के चित्त की उस वास्तविक मनोवांछा से उत्पन्न है जो चिरंतन है और सत्य है। काव्यगत सत्य ही रोमांस का भी सत्य है, क्योंकि रोमांस वस्तुतः गद्यकाव्य है।

भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास में एक समय आया है जब रोमांस की मनोवृत्ति प्रबल रूप में प्रकट हुई थी

सातवीं-आठवीं शताब्दी से इस देश में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा खूब चली। इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। इस काल में उत्तर-पश्चिम सीमांत से बहुत-सी जातियों का प्रवेश हुआ। इस काल में उत्तर-पश्चिम सीमांत से बहुत-सी जातियों का प्रवेश इस देश में होता रहा। वे राज्य-स्थापना करने में भी असमर्थ हुईं। पता नहीं कि उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश में चलीं। साहित्य में नए-नए काव्य रूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। संभवतः ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने का चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परंतु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक

नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही इसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पनाविकास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम; संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लासित आनंद की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास की कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए हैं। राजा का विवाह, शत्रु-विजय, जल-क्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीतिये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं। बाद में क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और संभावनाओं का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते हैं, उनसे युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में एक युद्ध हुआ, और भी हो सकते थे। कवि संभावना को देखेगा, राजा के एकाधिक विवाह होते थे। यह तथ्य अनेक विवाहों की संभावना उत्पन्न करता है, जल क्रीड़ा, और वन-विहार की संभावना की ओर संकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तरकाल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान के लिए संगति मिलना कठिन हो जाता है।

वस्तुतः इस देश की साहित्यिक परंपरा में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन, रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना काफ़ैक्ट्स और फिक्शन का अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत-शक्ति में मनुष्य के अपूर्व शक्तिभंडार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास कार्य नहीं हुआ अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं। फिर भी निजंघरी कथाओं से इस अर्थ में भिन्न थीं कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था, कभी-कभी मात्रा में कमीवैशी तो हुआ करती थी पर योग रहता अवश्य था। निजंघरी कथाएँ अपने-आप में ही परिपूर्ण होती थीं।

जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओं को नहीं आने देता जो दुःख-परक विरोधों को उकसावे, उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों में भी करता है। सिद्धान्ततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दुःखोद्रेचक विषम परिस्थितियोंद्विजक कट्टेडिक्शन की सृष्टि करें; परंतु वास्तव जीवन में ऐसी बातें होती ही रहती हैं। इसलिए इतिहासाश्रित काव्य में भी ऐसी बातें आएँगी। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नायक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गई है; परंतु वास्तविक जीवन के कर्तव्य-द्वंद्व आत्म-विरोध और आत्म-प्रतिरोध जैसी बातें उसमें नहीं आ पातीं। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नहीं आ पाता और कथा-नायक कल्पित पात्र की कोटि में आ जाता है। फिर, जीवन में कभी हास्योद्रेचक अनमिल सवर भी मिल जाते हैं। संस्कृत-काव्य का कर्ता कुछ अधिक गंभीर रहने में विश्वास करता है और ऐसे प्रसंगों को छोड़ जाता है। ऐसे प्रसंगों को तो वह भरसक नहीं आने देना चाहता जहाँ कथा-नायक के नैतिक पतन की सूचना मिलने की आशंका हो। यदि ऐसे प्रसंगों की अवतारणा भी करता है तो घटनाओं और परिस्थितियों का ऐसा जाल तानता है जिसमें नायक का कर्तव्य उचित रूप से प्रतिभासित हो। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजंघरी कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप

इतिहास के शोध की वह सामग्री संग्रह कर सकते हैं। पर इतिहास को नहीं पा सकते इतिहास, जो जीवंत मनुष्य के विकास की जीवन-कथा होता है, परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नए-नए दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजंघरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिए वह कुछ कथानक रूढ़ियों का प्रयोग करता है जो कथानक को अभिलषित दिशा में मोड़ देने के लिए दीर्घकाल से प्रचलित हैं। इनसे कथानक में सरसता आती है और घटना-प्रवाह में एक प्रकार की लोच आ जाती है।

उपन्यासकार परिस्थितियों के सच्चे चित्रण से विमुख नहीं हो सकता, परंतु उसका उद्देश्य केवल फोटोग्राफी नहीं है, वह कलाकार है। यथार्थवाद चित्र का सिर्फ एक पहलू है। केवल सच्चा जीवन-चित्रण भी अपना नैतिक संदेश रखता ही है। परंतु सच्चा चित्रण होना चाहिए। बहुत से लेखक यथार्थवाद के नाम पर समाज की उन गंदगियों का ही चित्रण करते हैं जो समग्र रूप का एक नगण्य अंशमात्र है। यह यथार्थवाद नहीं हो सकता। यथार्थवाद भले की उपेक्षा करके बुरे के चित्रण को नहीं कहा जा सकता, फिर वह चित्रण कितना ही यथार्थ क्यों न हो। इसी प्रकार उस चीज को आदर्शवाद नहीं कह सकते जो केवल रूढ़ि-समर्पित सदाचार के उपदेश का नामांतर है। उपन्यासकार का व्यक्तिगत उद्देश्य और मतवाद ठोस तथ्यों पर आधारित होता है। उसका प्रचारित नैतिक संदेश इन तथ्यों से विच्छिन्न होकर कला के ऊँचे सिंहासन से च्युत हो जाता है। जिस प्रकार समग्र रूप से विच्छिन्न बुराईयाँ अपना मूल्य खो देती हैं, उसी प्रकार समग्र से विच्छिन्न भले-भले उपदेश भी फीके हो जाते हैं। उपन्यास का उपदेश भी काव्य के अर्थ की भाँति व्यंग्य होना चाहिए। वाच्य होने से उसका मूल्य कम हो जाता है। इसीलिए प्रेमचंद जी ने कहा है कि अच्छा उपन्यास वह है जहाँ यथार्थवाद और आदर्शवाद का उचित समन्वय हो।

केवल यथार्थ चित्रण उपन्यास या कहानी को महान नहीं बनाता। हिंदी की एक प्रसिद्ध कवियित्री की कहानियाँ हमने पढ़ी हैं। उन कहानियों के स्त्री-पात्र बड़े ही सच्चे और सजीव थे। इन पात्रों से परिचय पाने के बाद मनुष्य बहुत-कुछ सोचने-समझने का अवसर पाता है। परंतु फिर भी उनकी कहानियों में समाज के प्रति सिर्फ एक नकारात्मक घृणा का भाव ही स्पष्ट हुआ है। पाठक यह तो सोचता है कि समाज किस प्रकार स्त्रियों पर विशेष कर शिक्षित बहुओं पर निर्दयता का व्यवहार कर रहा है, परंतु उनके चरित्रों में कहीं भी वह भीतरी शक्ति या विद्रोह-भावना नहीं पाई जाती, जो समाज की इस निर्दयतापूर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर सके। कहीं भी वह मानसिक दृढ़ता नहीं पाई जाती, जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी दुःख पाने वाले को विजयी बना सके, जो स्वेच्छापूर्वक समाज की बलिवेदी पर बलिदान होने की प्रतिवाद कर सके। इसके विरुद्ध उनके चरित्र अत्यन्त निरुपाय से होकर समाज की अग्नि-शिखा में अपने-आपको होम देते हैं, और चुपके से दुनिया की आँखों से ओझल हो जाते हैं।

सवाल यह नहीं है कि सचमुच ही ऐसा होता है या नहीं। सचमुच ही होता होगा। किंतु सचमुच का बहुत कुछ होना ही बड़ी बात नहीं है। एक जहाज तूफान में उलझता है। भयंकर संघर्ष के बाद डूब जाता है। हजारों आदमी 'हाय-हाय' करते हुए समुद्र के गर्भ में बैठ जाते हैं। इन मरने वालों में जहाज का वह वीर कप्तान भी है जो अंतिम क्षण तक अदम्य आशा और उत्साह लेकर अपनी सारी विद्या और बुद्धि के बल पर तूफान से जूझता रहता है। और निरुपाय यात्रियों को बचा लेने के लिए जान लड़ाता रहा। मरना कप्तान का भी सही है, और

‘हाय-तोबा’ मचाने वाले हजारों भीरु यात्रियों का भी सही है। दोनों सचमुच ही हुए हैं और दोनों ही यथार्थ हैं। परंतु एक यथार्थ मनुष्य में आशा और विश्वास पैदा करता है और दूसरा यथार्थ निराशा और भीरुता। कोई भी लेखक जब दुनिया के लाखों लाख मनुष्यों में से किसी एक को चुनकर अपने ग्रंथ का नायक बनता है तो वह चुनता ही है। चुनाव तो उसे करना पड़ेगा। तो फिर क्यों न ऐसे यथार्थ चरित्र चुने जाएँ जो यथार्थ में मनुष्य हों, मनुष्य का खाल ओढ़े हुए कीड़े मकोड़े नहीं?

मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दुनिया के दुःख और अवसाद से आँख मूँद ली जाय। आँख मूँदने वाला बड़ा लेखक नहीं हो सकता। परंतु लेखक से यह आशा करना बिल्कुल असंगत नहीं है कि वह दुःख, अवसाद और कष्टों के भीतर से उस मनुष्य की सृष्टि करे जो पशुओं से विशेष है, जो परिस्थितियों से जूझकर ही अपना रास्ता साफ करता आया है, जो सत्य और कर्तव्यनिष्ठा के लिए किसी की स्तुति या निंदा की बिल्कुल परवाह नहीं करता। इन्हीं बातों से उपन्यास बड़ा होता है, काव्य महान होता है, कहानी सफल कही जाती है।

ऐसा करना असंभव नहीं है। शिवरानी देवी की कहानियों को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। ‘आँसू की दो बूँदें’ नामक कहानी इस विषय में पहले बतायी हुयी कहानियों के विरोध में रखी जा सकती हैं। इस कहानी में सुरेश नामक युवक की बेवफाई कनक नामक लड़की के सर्वनाश का कारण नहीं हो जाती। कनक अपने लिए रास्ता खोज लेती है। यह रास्ता सेवा का है। अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता अर्थात् उसमें लोभ की जगह विराग, क्रोध के स्थान पर भय और आश्चर्य की जगह संदेह, सामाजिकता के बदले एकांत-निष्ठा और संगमेच्छा की जगह पीड़ा का उदय होता तो वह भी शायद आत्मघात कर लेती।

मनोविज्ञान के पंडित मनुष्य के दो प्रकार के चरित्रों की बात बताते हैं नकारात्मक या ‘नेगेटिव’ और धनात्मक या ‘पॉजिटिव’ लोभ, क्रोध, आश्चर्य, सामाजिकता और संगमेच्छा धनात्मक गुण हैं और इनके स्थानों में क्रमशः विराग, भय, संदेह, एकांतनिष्ठा और बीड़ा नकारात्मक। पहले विश्वास किया जाता था कि स्त्रियों में नकारात्मक गुण अधिक होते हैं और पुरुषों में धनात्मक गुण। आधुनिक काल के प्रयोगों से इस विश्वास को बहुत अधिक जोर देने योग्य नहीं कहा जा सकता। यह माना जाने लगा है कि प्रत्येक मनुष्य में इन दोनों प्रकार के गुणों का मिश्रण होता है। जिसमें धनात्मक गुण अधिक होते हैं उसी का चरित्र आशा और विश्वास का संचार कराता है।

वस्तुतः कोई भी लेखक एक व्यक्ति में केवल एक ही प्रकार के गुण दिखाकर आज के युग में पाठक का विश्वास-पात्र नहीं बना रह सकता, क्योंकि मनुष्य-चरित्र दोनों का मिश्रण है। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में यह बात सिद्ध हुई है कि कमजोर-चरित्र का आदमी जिस प्रकार के बलिष्ठ-चरित्र के संसर्ग में आता है उसी प्रकार का हो जाता है। उपन्यास के जीवन्त और बलिष्ठ पात्र पाठकों के सहचर हैं। नाना विपत्तियों और कष्टों के भीतर से गुजरती हुई उनकी कर्तव्य-निष्ठा और सच्चा मनुष्यत्व पाठक को बल देता है, परंतु उनकी इंद्रियपरायणता, कूटबुद्धि और कुटिल कर्म पाठक को दुर्बल और निरुत्साह बना देते हैं। परिस्थितियों से आँख मूँदना आदर्शवाद नहीं है। वस्तुतः सच्चा आदर्शवादी सच्चा यथार्थवादी होता है। वह मनुष्य का मनुष्यत्व पहचानता है और प्राण-धर्म का रहस्य समझता है।

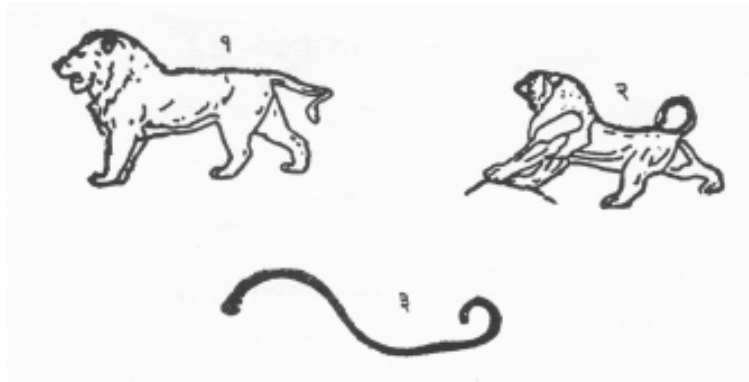
शायद यह बात सुनने में आश्चर्यजनक मालूम दे कि मानवता के सच्चे स्वरूप और प्राण-धर्म को पहचानने वाला लेखक यदि चरित्र-चित्रण में छोटी-मोटी गलतियाँ भी करे तो भी वह बड़ी कृति दे सकता है। हम शुरु से ही इस प्रसंग में ‘चित्रण’ शब्द का व्यवहार करते

आए हैं। यह शब्द चित्र बनाने की विद्या से लिया गया है; उपन्यास या कहानी के प्रसंग में इसका प्रयोग लाक्षणिक है। उपन्यास या कहानी में हमें जो मानव जीवन प्राप्त होता है, उसे इस चित्र की भाँति प्रत्यक्ष देखते हैं। इसीलिए बार-बार साहित्य में इस शब्द का प्रयोग होता है। यदि ऊपर की बात को हम चित्र की भाषा में कहने का प्रयत्न करें तो वह कुछ इस प्रकार होगी कि मनुष्य के चित्र में यदि उसके हाथ-पैर ठीक-ठीक चित्रित न हों और फिर भी यदि आदमी का प्राण-धर्म ठीक-ठीक चित्रित किया जा सकता हो, तो चित्र बड़ी कृति बन सकता है! ऊपर-ऊपर से यह कथा न बड़ा विचित्र मालूम पड़ता है। आदमी के हाथ-पैर दुरुस्त नहीं और फिर भी वह चित्र बड़ा हो सकता है! मनुष्य का अन्यान्य जीवों से जो वैशिष्ट्य है वही मनुष्य का प्राण-धर्म है अर्थात् उसी को आश्रय करके मनुष्य-मनुष्य बना हुआ है। यदि वह धर्म ठीक है तो यह कोई आवश्यक नहीं है कि इसके अंग-प्रत्यंग ठीक ही हों तो बहुत अच्छा, न हों तो कोई बात नहीं। जायसी कुरूप थे, सूरदास अंधे थे, चौरंगीनाथ लँगड़े थे; फिर भी कौन कहेगा कि ये सिद्ध पुरुष नहीं थे?

एक चित्र के उदाहरण से समझने पर यह बात ज्यादा आसान हो जाएगी। इस विषय में हम भारतवर्ष के श्रेष्ठ शिल्पाचार्य श्री नंदलाल वसु महाशय के लेख से एक उदाहरण यहाँ संग्रह कर रहे हैं। वसु महाशय ने रवींद्रनाथ के चित्रों की आलोचना करते हुए एक बार कहा था कि उनके चित्र यथार्थ तो होते हैं पर यथार्थवादी नहीं होते। जब बहुत से पाठकों ने उनसे इस बात को स्पष्ट करने का अनुरोध किया तो उन्होंने लिखा

“पश्चिमी देशों में चित्रणीय वस्तुओं का इतना सूक्ष्म अध्ययन हुआ कि एक शिल्प संप्रदाय वस्तु को जैसा वह है वैसा ही दिखाने पर अड़ गयी। यही यथार्थवादिता (या ‘रियलिस्टिक’) है। किंतु एक सिंह अंकित करने वाला चित्रकार सिंह के सभी अंगों और चेष्टाओं को अंकित करे भी अर्थात् सिंह की बनावट के प्रति पूर्ण ईमानदार रहकर भी एक ऐसा सिंह बना दे सकता है। जिससे वह शौर्य, पराक्रम और अकृतोभय भाव नहीं आ सकता, जो सिंहत्व की जान है। उसका यह अंकित चित्र यथार्थवादी तो होगा, पर यथार्थ नहीं। दूसरी तरफ एक शिल्पी सिंह के अंगोपांगों के चित्रण में गलती करके भी यदि जैसी सिंह-मूर्ति बना देता है, इसे देखकर दर्शक के मन में सिंहत्व का भाव जग उठे, तो वह यथार्थवादी न हो करके भी यथार्थ सिंह अंकित कर सका है। रवींद्रनाथ इसी श्रेणी के शिल्पी थे।

“औसत शिक्षित व्यक्ति को ऊपर की बात जरा अजीब लगेगी। सिंह की बनावट ठीक होने पर भी क्यों सिंह गलत हो गया और बनावट में गलती होने पर भी क्यों ठीक हो गया, यह बात ऊपर-ऊपर से पहेली जैसी लगती है। इस बात को यों समझा जाए



ऊपर के चित्रों में नं. 1 एक आधुनिक कलाकार का बनाया हुआ सिंह है। इसमें सभी अंग ठीक-ठीक चित्रित हुए हैं। इसलिए इसे 'रियलिस्टिक' कहा जा सकता है। चित्र नं. 2 एक बहुत पुराने असीरियन कलाकार का अंकित सिंह है। इसका अंग-विन्यास उतना यथार्थ नहीं है जितना प्रथम चित्र का है। फिर भी इसमें सिंहत्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। इस चित्र को देखने वाले के मन में सिंह-संबंधी सभी गुण जाग्रत हो जाते हैं। इसीलिए यह 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' है। ऐसा यह इसलिए हुआ है कि सिंहत्व का जो छंद है वह इसमें वर्तमान है। यह 'छंद' नं. 3 के चित्र में दिखाया गया है। अनेक परिश्रम और अनुधावन के बाद कलाकारों ने इस 'छंद' का आविष्कार किया है। यही वह अरूप (Abstract) धर्म है जो वस्तु के बिना भी सत्य है। रवींद्रनाथ के चित्रों में यह धर्म वर्तमान है। वह कभी वस्तु के साथ है और कभी वस्तु से अलग। इसी 'छंद' की यथार्थता के कारण अनेक चित्र 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' है।' (हिन्दी 'विश्वभारती पत्रिका', खंड 1, अंक 1)

कला के क्षेत्र में यथार्थवाद किसी विशेष प्रकार की प्रकाशन-भंगिमा का नाम नहीं है, बल्कि वह एक ऐसी मानसिक प्रवृत्ति है जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है और इसीलिए नाना प्रकार के कला-रूपों को अपनाने की अद्भुत क्षमता रखती है। यह स्वयं कारण भी है और कार्य भी है। वस्तुतः यह मनोवृत्ति उन सिद्धान्तों, मान्यताओं और भावप्रवण उद्देश्यों की अनुगामिनी होती है जो अवसर के अनुकूल विविध रूपों में अपने को प्रकाशित कर सकते हैं। मुश्किल से सौंदर्य-निर्माण की कोई ऐसी आकांक्षा मिलेगी जो युक्तिसंगत परिणति तक ले जाने पर यथार्थवादी प्रवृत्ति के आसपास न पहुँच पाती हो। फिर उपन्यास का तो जन्म ही समाज की यथार्थ परिस्थितियों के भीतर से हुआ है। उपन्यास किसी देश की साहित्यिक विचारों और बढ़ती हुई यथार्थताओं के बीच निरंतर उत्पन्न होती रहने वाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्तव्य है। इसीलिए उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरंतर उत्पन्न होती रहने वाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कथा-आख्यायिकाओं से वह इस बात में भिन्न है। वे जीवन के खटकने वाले यथार्थ के संघर्षों से बच कर स्वप्न-लोक की मादक कल्पनाओं से मानव को उलझाने, बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न करती थीं, जबकि और उपन्यास जीवन की यथार्थताओं से रस खींचकर चित्त-विनोदन के साथ-ही-साथ मनुष्य की समस्याओं के सम्मुखीन होने का आह्वान लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया था। उसके पैर ठोस धरती पर जमे हैं और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों से छनकर आने वाला 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है। जो उपन्यास इस रस से शून्य है वह अपनी मृत्यु का परवाना साथ लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया है। वह केवल पाठक का समय नष्ट करता है और समाज की अनियंत्रित उत्पादन व्यवस्था पर काला प्रश्न-चिह्न मात्र है।

पोथी में पढ़े हुए वादों के आधार पर उपन्यास लिखे गए हैं, पर वे टिक नहीं सके हैं। बड़े-बड़े विदेशी उपन्यासकारों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे गए हैं, पर वे उसी श्रेणी का प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके हैं क्यों? क्योंकि उन्होंने अपने देश की यथार्थ परिस्थितियों को नहीं समझा और इसीलिए वे उस खाई की भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं पा सके जिसे पाटने का प्रयत्न ही उपन्यास को सच्चे अर्थों में यथार्थवादी बनाना है और जो नित्य बदलती हुई परिस्थितियों से और बढ़ते हुए ज्ञान से पिछड़ी हुई आचार्य-परंपरा और पुरानी मान्यताओं के

व्यवधान के कारण निरंतर नए आकार-प्रकार में प्रकट होती रहती है।

विज्ञान के प्रभावशाली रूप धारण करने के बाद क्रमशः मनुष्य की सोचने-विचारने की प्रणाली में परिवर्तन होते गए हैं। कभी भौतिक-विज्ञान ने मानव-बुद्धि को अभिभूत किया था, फिर जीव-विज्ञान ने उसे चकित कर दिया और कुछ दिनों से मनोविज्ञान का प्रभाव प्रबल होता जा रहा है। उपन्यास में ये तीनों अभिभूतकारी तत्त्व यथासमय प्रकट हुए हैं। परंतु हिंदी-उपन्यासों में यह क्रम स्वाभाविक रूप से प्रकट नहीं हुआ। जिन दिनों पश्चिम मनोविज्ञान की ओर झुकने लगा था उन दिनों हमारा उपन्यास-साहित्य आरंभ हुआ। हिंदी में ज्ञान-विज्ञान पर आधारित सिद्धांत कभी भी घासलेटी साहित्य की मर्यादा के ऊपर नहीं उठ सका, क्योंकि जब साहित्य में मनोविज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा का प्रभाव पड़ा, तब प्रकृतिवादी क्रमशः मद्धिम पड़ता गया। और मनोवैज्ञानिक गुणधर्मों का प्रभाव प्रबल हो गया। उस समय खाई जीव-विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धान्तों द्वारा निश्चित होती थी।

हिंदी में जब उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, तब इस देश की वही अवस्था नहीं थी जो इंग्लैंड की, अन्य पश्चिमी देशों की थी। हिंदी का पिछला साहित्य बहुत सीमित क्षेत्रों में आबद्ध रह गया था। यथार्थ की उसमें उपेक्षा तो नहीं थी; किंतु यथार्थ को मादक बनाकर प्रकट करने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। रीतिकालीन कविता से यह मादक बनाने की प्रक्रिया उन दिनों विरासत में प्राप्त हुई थी। वह समय न तो यथार्थवाद के अनुकूल था और न प्रकृतिवादी सिद्धांतों के। फिर भी पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से क्रमशः इहलौकिक और मानवतावादी दृष्टि प्रतिष्ठित होती जा रही थी। प्रथम धक्के में इस देश के उपन्यासों की दृष्टि सामाजिक कुरीतियों पर पड़ी। प्रकृतिवादी सिद्धांतों का जोर कभी भी इस देश में बढ़ नहीं पाया, क्योंकि न तो यहाँ के विचारशील लोगों मत इसके अनुकूल पड़ते थे, और न विज्ञान का, और उससे उत्पन्न युक्तिवाद का विकास ही वैसा हुआ जैसा पश्चिमी देशों में हुआ था। जिन दिनों हिंदी के उपन्यास कुछ-कुछ प्रकृतिवादी सिद्धांतों से प्रभावित होने लगे, उन दिनों विज्ञान बहुत आगे निकल गया था और यूरोपीय साहित्य में प्राणि-विज्ञान की मर्यादा चढ़ाव पर नहीं थी। हिंदी के प्रकृतिवादी साहित्यिक यूरोप के पिछड़े जमाने के साहित्य के प्रभाव थे। वे नवीन विचारधाराओं से अनभिज्ञ ही रहे। यही कारण है कि हिंदी के प्रकृतिवादी साहित्यिक साहित्य में कभी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सके और घासलेटी साहित्य से उच्चतर मर्यादा भी नहीं प्राप्त कर सके।

साहित्य और कला विविध क्षेत्रों में नए तत्त्व-ज्ञान (फिलासफी) द्वारा सुझाए गए युक्ति-तर्कों से प्रभावित अनुसंधान-पद्धति का आश्रय लिया गया। परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य के क्षेत्र का विस्तार होता गया और ऐसे बहुत-सी बातें साहित्य में प्रवेश करने लगीं, जो पहले निषिद्ध मानी जाती थीं। ज्ञान अधिकाधिक अविद्यमान होने का प्रयत्न करता जा रहा था और गणितशास्त्र की पद्धतियों का आश्रय लेता जा रहा था। साहित्य में भी उन पद्धतियों का प्रवेश किसी-न-किसी तरह हो ही गया। इतिहास और नैतिक-विज्ञान के क्षेत्र में गणितिक पद्धतियों का प्रयोग होने लगा और उनकी देखादेखी उपन्यास-साहित्य में दलील और सनद उपस्थित करने वाली मनोवृत्ति क्रमशः शक्तिशाली होती गई।

यही साम्प्रदायिक यथार्थवाद की ओर जाने वाली मनोवृत्ति है ऐसा यथार्थवादी साहित्यकार बाहरी दलीलों और सनदों का इस प्रकार प्रयोग करता है। जिससे पाठक के ऊपर यह प्रभाव पड़े कि वह यथार्थ जीवन में घटने वाली सच्ची बात कह रहा है। परंपरा-प्रथित धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण मानव-जीवन के जो तत्त्व साहित्य में जुगुप्सित

और निषिद्ध और अमंगलकारी माने जाते थे, उनका साहित्य में धीरे-धीरे प्रवेश होने लगा और यथार्थवाद के उस रूप का प्रचलन हुआ, तो मनुष्य की बाह्य प्रकृति को प्रधानता देने वाले विज्ञान-से-विशेषकर प्राणि-विज्ञान से प्रभावित थे।

इस प्रकार उस समय प्रकृतिवादी सिद्धांत साहित्य में गृहीत हुआ। वस्तुतः प्रकृतिवादी सिद्धांत जो मनुष्य की शारीरिक भूख के विविध रूपों पर ही आश्रित है, प्राणि-विज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा के साथ ही बढ़ा है और घटती हुई मर्यादा के साथ घटा है।

उपन्यास-लेखक कभी भी वर्तमान प्रगति से पिछड़ा रहकर सफल नहीं हो सकता। हिंदी के घासलेटी उपन्यासकार इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

कहा जाता है कि इंग्लैंड में भी प्रकृतिवाद उस प्रकार का महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सका, जैसा कि उसने फ्रांस में किया था। इंग्लैंड की जनता अधिक रक्षण-शील (कंजर्वेटिव) थी, वह मानव शरीर की उच्छृंखल बुभुक्षा को सहज ही बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग तक इंग्लैंड के साहित्य में यथार्थवादी उपन्यासकार तो हुए, उल्लेख-योग्य प्रकृतिवादी उपन्यासकार नहीं हुए। भारतवर्ष में तो उनके प्रधान होने की नौबत कभी आई ही नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी के यथार्थवादी उपन्यासकारों की भी कई श्रेणियाँ हैं। थैकरे, रीड, जार्ज इलियट, जेन आस्टिन आदि उपन्यासकारों की रचनाएँ, इस देश के उपन्यासकार बराबर पढ़ते रहे और उनकी रचनाओं से प्रेरणा पाते रहे। इसलिए हमारे देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है किंतु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परंपरा इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरंतर प्रयत्नवह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। आगे बढ़ा हुआ ज्ञान तो सारे संसार के लिए एक होता है, किंतु पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परंपरा विभिन्न देशों समाजों में भिन्न-भिन्न होती हैं; इसीलिए यथार्थवादी लेखक के सामने व्यवधान की मात्रा देश-विदेश और समाज विशेष के अनुसार बदलती रहती है और उसी के अनुपात में उसके प्रयत्नों में तारतम्य आता है। दुर्भाग्य-वश अपने देश के कम लेखकों ने इस व्यवधान के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो हमारे नए उपन्यासकार सच्चे अर्थों में यथार्थवादी नहीं है। वे यथार्थवाद को उसके वास्तविक अर्थ में नहीं ग्रहण कर सके हैं, परंतु उन पर यथार्थवाद का आतंक अवश्य है। जो लोग केवल वाद-विशेष से आतंकित हैं, या उसे फैशन के रूप में ग्रहण करते हैं वे कोई अविस्मरणीय चरित्र नहीं पैदा कर सकते और जिन सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से उपन्यास लिखे जाते हैं, उनका अमिट छाप भी नहीं छोड़ पाते। इसीलिए इन उपन्यासों को पढ़कर कोई उल्लास नहीं होता है। आज भी प्रेमचंद हमें जहाँ छोड़ गए थे वहाँ से हम आगे नहीं बढ़ पाए। क्षेत्र तो प्रस्तुत हो ही रहा है। आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही वह औपन्यासिक हिंदी-जगत में अवतीर्ण होगा, जो जीवन के व्यापक अनुभवों के भीतर से 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस को खींच लाएगा।

कुछ लोग उपन्यासों को तीन श्रेणी का मानते हैं घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान। स्टीवेंसन इसी मत के उपस्थापक थे। वे घटना-प्रधान उपन्यास को ही सबसे उत्तम समझते थे। उनके मत से उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह एक ऐसी माया की सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियों को मोहक ढंग से उपस्थित कर दे कि पाठकों की कल्पना उससे आकर्षित हुए बिना न रह सके उपन्यास पढ़ते समय पाठक अपने को घटनाओं



में तन्मय कर दे ओर पात्रों के साथ एकाकार कर दे, ताकि पात्रों के साहसपूर्ण कृत्यों को अपना-सा समझ कर वह उनमें रस लेने लगे।

स्टीवेंसन का यह मत सर्वांश से ग्राह्य नहीं है, यह हम आगे चल कर समझ सकेंगे; पर इसमें संदेह नहीं है कि घटनाओं का मनोरंजक सन्निवेश उपन्यासकार का बड़ा भारी गुण है।

(1) हिंदी में नाना प्रकार के घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गए हैं। सबसे प्रधान और प्रथम प्रयत्न देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यास हैं, जिनमें ऐयारों के घात-प्रतिघातमूलक घटनाओं का सन्निवेश बड़ी तत्परता के साथ किया गया है। इन उपन्यासों में अद्भुत तिलस्मों का चित्रण है, परंतु ये घटना-प्रधान उपन्यास ही हैं। यद्यपि ऐयारों के चरित्रगत गुण भी इनमें कम आकर्षक नहीं हैं, तथापि घटनाओं की प्रधानता इनमें स्पष्ट है। इसी प्रकार डकैती आदि के साहसिकतापूर्ण कथानक, जासूसी उपन्यास, प्रेमाख्यान, ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास केवल घटनाओं के सन्निवेश से ही मोहक बने हैं। (2) हिंदी में प्रेमचंद, सुदर्शन और 'कौशिक' आदि लेखकों की कहानियाँ और उपन्यास चरित्र-प्रधान श्रेणी में पड़ेंगे, और (3) 'प्रसाद' का 'तितली' और 'कंकाल', शिवनंदन सहाय का 'सौंदर्योपासक' तथा 'हृदयेश' की कहानियाँ भाव-प्रधान श्रेणी में पड़ेंगी।

जिन्हें भाव-प्रधान उपन्यास कहकर ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें बहुत कुछ पुरानी कथा-आख्यायिकाओं के गुण हैं। उनमें भाषा की मनोहारिता, अलंकार-योजना, पद लालित्य और भावावेग इतनी अधिक मात्रा में है कि उन्हें गद्य-काव्य कहना ज्यादा उचित होगा। उपन्यास विशुद्ध-गद्य-युग की उपज है। उनमें भाषा की गद्यात्मकता और सहज भाव अपेक्षित है। इन उपन्यासों में वह बात नहीं है।

हिंदी के एक प्रवीण विद्वान ने उपन्यास को गद्य-काव्य का ही एक भेद माना है किंतु यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है। पुराने जमाने के 'वासवदत्ता', 'दशकुमार-चरित', 'कादंबरी', आदि काव्यों से ये आधुनिक उपन्यास भिन्न श्रेणी के हैं। उपन्यास नये यंत्र-युग की उपज है। नये यंत्र-युग ने जिन गुण-दोषों को उत्पन्न किया है उन सबको लेकर यह नया साहित्यांग अवतीर्ण हुआ है। छापे की कला ने इनकी माँग बढ़ाई है और उसी ने उनकी पूर्ति का साधन बताया है।

यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा आख्यायिकाओं की सीधी संतान है। ऊपर जिन भाव-प्रधान उपन्यासों की चर्चा हुई है, उनकी रचना के मूल में संभवतः पुरानी कथा-आख्यायिकाओं का आदर्श था, परंतु शीघ्र ही यह भ्रम टूट गया कि शब्दों में झंकार देकर गद्य-काव्य लिखना और आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखना एक ही बात है। झंकार कविता का एक बड़ा भारी गुण है, परंतु उपन्यास में वह थोड़ी मात्रा में ही काम देता है। चूँकि उपन्यास और कहानियाँ विशुद्ध गद्य युग की उपज हैं, इसीलिए उनकी प्रकृति में गद्य का सहज, स्वाभाविक प्रवाह है। इस नवीन साहित्यांग का पुराने गद्य-काव्यों से जो प्रधान अंतर है, वह आदर्शगत है। यंत्र-युग ने पश्चिम में जिस व्यावसायिक क्रांति को जन्म दिया उसके कई फलों में एक है वैयक्तिक स्वाधीनता। यह वैयक्तिक स्वाधीनता ही उपन्यासों का आदर्श है और काव्य-काल का रुढ़ि-निर्धारित और परंपरा-समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिकाओं का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी ही चित्रित करने का प्रयास होता है। इस वास्तविकता के भीतर से ही उपन्यासकार अपना आदर्श ढूँढ निकालता है। कथा और आख्यायिका में कवि कल्पना के बल पर वास्तविक दुनिया से भिन्न एक नयी दुनिया बनाता है।

उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अंतर है कि उपन्यास मौजूदा हालत को भूलाकर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता, जब कि काव्य वर्तमान परिस्थिति को संपूर्ण उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार वर्तमान पर जमा रहता है। प्राचीन ऐतिहासिक कथानक की रचना के समय भी वह वर्तमान-काल की जानकारियों के बल पर ही अपना कारबार चलाता है। और जासूसी तथा वैज्ञानिक कथावस्तु को सम्भालने में भी आधुनिक जानकारियों की जहाँ तक पहुँच है, उसी के आधार पर अपनी कल्पनाओं और संभावनाओं की सृष्टि करता है। वह कवि की भाँति जमाने के आगे रहने का दावा करता है। काव्य दुनिया की छोटी-मोटी तुच्छताओं को भी महिमा-मंडित करके प्रकाशित करता है, जो कुछ है उसे सजा कर सँवार कर सुंदर और महत् बनाने की साधना करता है।

वस्तुतः जहाँ कहीं भी तुच्छता को महिमा-मंडित करके प्रकाशित करने का प्रयत्न आता है वहाँ उपन्यासकार कवि का काम करता है। एक उदाहरण लिया जाए

कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें सर्वत्र काव्य का सुर ही प्रधान हो उठा है। उन्होंने जान-बूझकर एक उपन्यास ऐसा लिखा है जिसमें, आलोचकों का मत है कि, कवित्व को दबा कर औपन्यासिकत्व प्रधान हो उठा है। इस उपन्यास का नाम है, 'भालञ्च'। इसमें नायिका बीमार पड़ जाती है और नायक किसी और लड़की के साथ काम-काज में लग जाता है। नायिका को ईर्ष्या होती है। ज्यों-ज्यों वह मृत्यु के निकट पहुँचती जाती है त्यों-त्यों उसकी ईर्ष्या बढ़ती जाती है। अपने देवर के समझाने से वह संकल्प करती है कि मरते समय वह अपनी समस्त स्वार्थबुद्धि को तिलांजलि देकर अपने हाथों से उस लड़क को पति को सौंप जाएगी। ऐसा मौका आता है। उस मौके पर मरती-मरती यदि वह कह देती है कि 'हे प्रिय, मैंने अपना सर्वस्व तुम्हें दिया है, इस बालिका के साथ अपना मान-अभिमान सब कुछ तुम्हें निःशेष भाव से देकर विदा लेती हूँ, और प्यार से उस लड़की का हाथ पति के हाथों में रखकर दम तोड़ देती तो यह बात कवित्व का एक सुंदर उदाहरण हो जाती। पर मौका आने पर वह ऐसा नहीं करती। अपनी तुच्छ ईर्ष्या को अंत तक वह अपने त्याग की महिमा से महिमा-मंडित नहीं कर पाती। लड़की को देखकर और भी ईर्ष्या से जल उठती है और दुर्वाच्य कहती हुई मरने के बाद भी उसे जलती रहने का अभिशाप देती हुई दम तोड़ देती है। इस प्रकार कवित्व का वातावरण छिन्न-विच्छिन्न हो गया है और उपन्यासकार की वास्तव-प्रियता प्रधान हो उठी है।

उपन्यास और कहानियाँ आज के जमाने में बहुत शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक साहित्यांग समझे जाते हैं। इनके लेख का अपना एक जबर्दस्त व्यक्तिगत मत होता है, जिसकी सच्चाई के विषय में लेखक का पूरा विश्वास होता है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम साहित्यिक रूप है। 'घासलेटी' उपन्यास के लेखक का अपना कोई मत नहीं, जो एक ही साथ उसका अपना भी हो और जिस पर उसका अखंड विश्वास भी हो। इसीलिए 'घासलेटी' लेखक ललकारे जाने पर या तो भाग खड़ा होता है या विक्षुब्ध होकर गाली-गलौज पर उतर आता है। वह भीड़ के आदमियों को तो अपनी नजर के सामने रखकर लिखता है, पर अपने प्रचारित मत पर उसे कभी कोई विश्वास नहीं होता।

प्रेमचंद का अपना मत है कि जिस पर वे पहाड़ के सामने अविचलित खड़े हैं। इस एक महागुण के कारण नाना विरोधों के होते हुए भी जैनेन्द्र कुमार को साहित्य में अपना स्थान बना लेने से कोई नहीं रोक सका। उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें अपनी विशेष दृष्टि

न हो और उस विशेष दृष्टि पर उसका दृढ़ विश्वास न हो। महत्त्वपूर्ण उपन्यास या कहानी केवल अवसर-विनोदन का साधन नहीं है। वे इसलिए महत्त्वपूर्ण होती है, जो निरंतर गंभीर भाव से और निर्विवाद रूप में हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वंद्वों को प्रभावित करती हैं। हम उपन्यासकार के रचना-कौशल, घटना-विकास की चतुराई, पात्रों के सहज स्वाभाविक विकास की सच्चाई और अपने निजी दृष्टिकोण की ईमानदारी के कारण मनुष्यमात्र के साथ एकात्मतः अनुभव करते हैं, दूसरों के दुःख-सुख में अपनापन पाते हैं, इस प्रकार हमारा हृदय संवेदनशील और आत्मा महान् बनती है। हम पहले तय कर चुके हैं कि यह एकात्मता की अनुभूति साहित्य का चरम साध्य है।

(‘साहित्य-सहचर’ नामक पुस्तक से)

## उपन्यास के उपकरण

---

रामअवध द्विवेदी

उपन्यास की समीक्षा तथा उसके स्वरूप-निर्धारण के प्रयत्न अधिक नवीन हैं। काव्य के सम्बन्ध में देश और विदेश में दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए जब चिन्तन तथा विवेचन प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उपन्यास की कला तथा उसके मूलगत सिद्धान्तों पर सम्यक् विचार पिछले सौ वर्षों में ही हुआ है। अब तक विचारकों ने एकमत होकर ऐसे नियम प्रस्तुत नहीं किये हैं जो सर्वमान्य हों। सच तो यह है कि उपन्यास एक ऐसा साहित्य-रूप है जो बन्धनों की उपेक्षा करने में ही अपनी सार्थकता मानता है, क्योंकि वह एक निर्बन्ध जीवन के आधार पर ही निर्मित हुआ है। अतएव उपन्यास के मूल तत्त्वों का विवेचन सरल नहीं है और न उनकी सर्वमान्यता के सम्बन्ध में अधिक आग्रह ही किया जाना चाहिए। उनका मूल्य केवल इस बात में है कि हम इनके सहारे उपन्यास के स्वभाव, स्वरूप तथा निर्माण पद्धति तो किसी अंश में समझ सकते हैं।

उपन्यास और यथार्थ जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गतिमान प्रवाहयुक्त यथार्थ मानव-जीवन ही उपन्यास-लेखक को सामग्री प्रदान करता है और उपन्यास बहुत अंशों में इसी जीवन की अनुकृति है। जिस प्रकार कोई यात्री मार्ग पर किनारों के दृश्यों को देखता हुआ अग्रसर होता है उसी भाँति काल के अविरल प्रवाह में जीवन क्षण-क्षण आगे बढ़ता जाता है। जीवन में प्रगति है और साथ-ही-साथ विस्तार भी, किन्तु प्रगति ही उसका विशिष्ट धर्म है। उपन्यास भी इसी प्रकार एक चित्र उपस्थित करता है जो पल-पल बदलता रहता है और नए रंग, नये रूप, नवीन दृश्य सामने प्रस्तुत करता है। जब हम उपन्यास और नाटक की तुलना करते हैं तब यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। नाटक भी जीवन का अनुकरण करता है, किन्तु उसका अनुकरण अधिक कृत्रिम तथा सीमित है। जीवन के अंश तथा परिस्थितियों को लेकर वह उन्हें साँचे में ढालकर सदा के लिए बाँध देता है। उसमें प्रगति केवल इस बात में सीमित है कि कथावस्तु एक अवस्था से विकसित होकर दूसरी अवस्था तक पहुँच जाती है। नियमों के बन्धन भी अधिक

जटिल तथा कठोर हैं जो नाटक की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। स्टेण्डल ने उपन्यास की तुलना किसी राजमार्ग पर स्वतः अग्रसर होते हुए विशाल दर्पण से की है जिसमें प्रतिक्षण यथार्थ जीवन की छाया पड़ती रहती है। यह तुलना अत्यन्त समीचीन है, यह बात अनेक उपन्यासों में यथातथ्य निरूपण की प्रवृत्ति से भी सिद्ध होती है। जोला ने प्रयोगशील उपन्यासों के वास्तविक जीवन से अधिक-से-अधिक तथ्यों को एकत्रित करने तथा उनके उपयोग की आवश्यकता पर जोर दिया है। यद्यपि परवर्ती-काल में थोड़े ही लोगों ने जोला के मार्ग का अनुसरण किया तथापि आज उपन्यास के लिए जीवन के वास्तविक जीवन से अधिक-से-अधिक तथ्यों के एकत्र करने तथा उनके उपयोग की आवश्यकता पर जोर दिया है। यद्यपि परवर्ती काल में थोड़े ही लोगों ने जोला के मार्ग का अनुसरण किया तथापि आज उपन्यास के लिए जीवन के वास्तविक तथ्यों का महत्त्व सभी मानते हैं। ऐसी कथाएँ जिनका ढाँचा यथार्थ जीवन की नींव पर खड़ा नहीं किया गया है और जिनमें केवल कल्पना और भावना का बाहुल्य है, रोमांस अथवा किसी अन्य नाम से अभिहित होती हैं, उपन्यास की संज्ञा उन्हें नहीं मिलती।

उपन्यास-कला है, अतएव जीवन की अनुकृति होने के अतिरिक्त उसमें किसी-न-किसी अंश में निर्माण-सौष्टव का रहना आवश्यक है। उपन्यासकार एक खाका खींचकर जीवन को रेखाओं के भीतर बाँधना चाहता है। यदि वह ऐसा न करे तो एक विशिष्ट चित्र तैयार न हो। यथार्थ को सीमाओं के भीतर बाँधने पर ही उसका स्वरूप निखरकर और सार्थक होकर सामने आता है। यह सच है कि उपन्यास में जीवन इतनी शक्ति और तीव्रता के साथ प्रवाहित होता है कि उसके लिए कलाकार द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन करना स्वाभाविक है। सीमा रेखाएँ जीवन के प्रवाह के कारण नित्य धूमिल होती तथा मिटती रहती हैं, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उनका प्रयोजन नहीं है। सिद्ध केवल यह होता है कि उपन्यास से सम्बन्धित निर्माण के नियम उतनी ही कड़ाई से लागू नहीं किये जा सकते जितने अन्य साहित्य-रूपों के। आकृति अथवा रूप-वैशिष्ट्य का होना केवल वांछनीय ही नहीं वरन् अनिवार्य है। उसके अभाव में जीवन के कोरे वर्णन-मात्र को हम उपन्यास नहीं कह सकते; न उसमें सौन्दर्य होगा और न रोचकता होगी। जीवन और रूप वैशिष्ट्य के मिश्रण से ही उपन्यास का रूप खड़ा होता है। यह कहना कठिन है कि इनमें किसका महत्त्व अधिक है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त रहने की क्षमता निहित है। साधारणतया जीवन और कला के अविच्छिन्न सम्बन्ध को हम उपन्यासों में सरलतापूर्वक देख सकते हैं। स्वरूप के आधार पर इनका विभाजन भी हुआ है और निर्माण-पद्धति के आधार पर किसी को नाटकों के निकट और किसी को महाकाव्यों के निकट बताया गया है, किन्तु विश्व-साहित्य में कुछ ऐसे उपन्यास भी मिलते हैं जिनमें वैयक्तिक और सामाजिक-जीवन का इतना विशाल भाग समाविष्ट किया गया है कि साधारण पाठकों के लिए सीमा-रेखाओं का ग्रहण करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ हम बालजाक-लिखित 'कामेडी ह्यूमाइन' अथवा टॉलस्टाय-रचित 'वार एण्ड पीस' को ले सकते हैं। प्रेमचन्द का प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि' भी इस श्रेणी का उपन्यास है। तब भी जानकार पाठक निरीक्षण द्वारा इन वृहद् उपन्यासों के बाहरी खाके को समझ सकते हैं। इन कृतियों की महानता इसमें है कि उनकी ससीम परिधि में असीम जीवन को भर दिया गया है।

उपन्यास का स्वरूप जिस प्रकार निर्धारित होता है, इसके सम्बन्ध में नवीन युग के विचारकों ने कई प्रकार के मत प्रकट किये हैं। कतिपय साहित्य-मर्मज्ञों का विचार है कि किसी उपन्यास का स्वरूप उसकी आन्तरिक प्रक्रिया अर्थात् परिस्थिति, घटना, चरित्र के पारस्परिक सम्बन्ध

तथा इस सम्बन्ध के विकास के आधार पर बनता है। कुछ अन्य विचारक इससे भिन्न मत रखते हैं। उनकी धारणा है कि किसी उपन्यास का आकार अथवा पैटर्न बाह्य प्रभावों के आघात-प्रत्याघात के निरूपित होता है। अमेरिका में नवीन विचारकों का एक सम्प्रदाय है जिसने अपने मत को व्यक्त करने के लिए विज्ञान का सहारा लिया है। प्राकृतिक प्रभावों से जिस भाँति समुद्र के रेत अथवा पहाड़ की शिलाओं पर चित्र बन जाते हैं उसी तरह सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों तथा प्रभावों के फलस्वरूप किसी काव्य-रूप का वास्तविक स्वरूप भी निर्धारित होता है। मध्य-युग में जब सामन्तशाही सामाजिक विधान का ढाँचा, सुदृढ़ बन्धनों से विविध अवयवों को बाँधकर एक पिरामिड की तरह खड़ा था, उस समय महाकाव्यों का प्रचलन तथा विकास स्वाभाविक था, क्योंकि विशालता, दृढ़ता तथा निर्माण-कौशल की दृष्टि से सामन्तशाही सामाजिक व्यवस्था तथा महाकाव्य के आकार-प्रकार में पर्याप्त साम्य है। सामन्तशाही के अन्त होने पर समाज का ढाँचा ढीला हो गया तथा उसके विविध अवयव बिखर उठे। अतएव उपन्यासों का आविर्भाव हुआ, जिसके स्वरूप तथा आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त साम्य है। दोनों में ही नियमों के बन्धन होते हुए भी पर्याप्त स्वतन्त्रता अवशिष्ट रह जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर कुछ लोग उपन्यास को वर्तमान-युग का महाकाव्य कहते हैं। सूक्ष्म अध्ययन से यह भी सिद्ध होता है कि पूँजीवाद का विकास, उसका पतन अथवा विघटन सभी अवस्थाओं पर उपन्यास प्रतिरूप रहा है। और उसके स्वरूप में निरन्तर परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन होता आया है।

उपन्यास के प्रमुख उपकरण हैं कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन तथा वर्णन। कथा का सूत्र प्रारम्भ से अन्त तक धारावाहिक रूप से बढ़ता चलता है। घटना-क्रम के अतिरिक्त परिस्थितियों तथा दृश्यों का भी दिग्दर्शन होता रहता है। कथा सरिता की धारा के समान है और उन परिस्थितियों की, जिनके बीच से होकर यह धारा अग्रसर होती है, हम सरिता के दोनों किनारों से तुलना कर सकते हैं। उपन्यास में वैयक्तिक जीवन का निरूपण सामाजिक अथवा जातीय जीवन को पृष्ठभूमि बनाकर होता है। अतएव उसमें कल्पना के यथार्थ का मेल अनिवार्य है। इस प्रकार के उपन्यास हमें प्राचीन महाकाव्यों का स्मरण दिलाते हैं, जिनमें जातीय जीवन की पीठिका सदैव विद्यमान रहती थी। कुछ ऐसे उपन्यास हैं जिनको चरित्र-प्रधान कहा जाता है। उनका यह नाम अधिक सार्थक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऐसे उपन्यासों में चरित्र का विकास नहीं होता, केवल क्षेत्र अथवा वातावरण का निरन्तर विस्तार होता है। सतत् परिवर्तनशील तथा वर्धनशील वातावरण में स्थित अपरिवर्तनशील पात्र निर्जीव मालूम पड़ते हैं। अथवा परिस्थितियों में निहित द्वन्द्व के कारण उनमें कभी-कभी जीवन का आभास-मात्र मिलता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'सर वाल्टर स्कॉट' के कतिपय उपन्यासों में महाकाव्य-शैली तथा चरित्र-प्रधान शैली का सुन्दर समन्वय मिलता है। सबसे सफल निर्माण-पद्धति नाटकीय उपन्यासों की है, जिनमें क्रिया-क्षेत्र सीमित तथा स्थिर रहता है; किन्तु परिधि के भीतर परिस्थिति और चरित्र के घात-प्रतिघात से कथा का सतत विकास होता रहता है। चरित्र भी नाटक के पात्रों के समान सजीव एवं क्रियाशील होते हैं और परिस्थितियों के अनुकूल ही उनके स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है। 'जेन आस्टेन' और 'मेरेडिथ' के उपन्यासों में नाटकीय शैली का अच्छा उपयोग हुआ है। कुछ विचारकों ने उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण की पद्धति के अनुसार दो श्रेणियों में विभाजन किया है। पहली कोटि के वे पात्र हैं जिनमें सजीवता के सभी चिन्ह मिलते हैं। इस प्रकार के जीवित पात्रों को 'राउण्ड' अथवा 'गोल' तथा इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के अपूर्ण रूप वो जीवन के स्पन्दन से रहित पात्रों को 'फ्लैट' अथवा 'चपटा'

कहा गया है। कथोपकथन का उपयोग सभी उपन्यासों में होता है, किन्तु नाटकीय शैली के उपन्यासों में उनका विशेष महत्त्व है। कला की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कथोपकथन पात्रों के चरित्र-वैशिष्ट्य के अनुकूल हो और उसमें गति हो। चरित्र का स्पष्टीकरण पात्र जो कुछ कहते अथवा करते हैं उसी से होता है। इस दृष्टि से चरित्र-चित्रण और कथोपकथन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वार्तालाप में चुस्ती रहने से न केवल कथा के प्रवाह को सहायता मिलती है वरन् उपन्यास की रोचकता में भी अभिवृद्धि होती है। उपन्यासों में वर्णनों की उपादेयता विवादग्रस्त है। पाश्चात्य उपन्यासों की प्राचीन परिपाटी के अनुसार विस्तृत वर्णनों द्वारा उपन्यासों को सजाया जाता था। हिन्दी के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति कुछ दिन पहले अत्यन्त बलवती थी, किन्तु अब भी कुछ उपन्यासकार अपनी कृतियों में लम्बे वर्णनों का समावेश करते हैं। वातावरण के निर्माण में उनसे सहायता अवश्य मिलती है, किन्तु सफल लेखकों द्वारा इस उद्देश्यों की सिद्धि छोटे किन्तु उपयुक्त वर्णनों द्वारा सरलतापूर्वक हो जाती है। प्रसिद्ध विचारक लेसिंग ने इस बात का संकेत किया है कि काव्य के गतिशील स्वभाव तथा वर्णनों के स्थिर स्वरूप में तात्त्विक विरोध है। इन उपकरणों के अतिरिक्त उपन्यास में कभी-कभी विशिष्ट वातावरण के निर्माण के लिए स्थानीय तथ्यों, पात्रों तथा घटनाओं आदि का अंकन किया जाता है, जिससे स्थान-विशेष तथा उसके जीवन का रूप खड़ा हो जाता है।

अमरीकन उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने एक स्थल पर लिखा है कि उपन्यास के केवल दो ही प्रकार हो सकते हैं—जीवन्त उपन्यास तथा जीवन-रहित उपन्यास। जीवन-रहित उपन्यास से उन असफल उपन्यासों की ओर संकेत है जो अगणित संख्या में नित्य-प्रति प्रकाशित होते रहते हैं, किन्तु जिनमें कला का चमत्कार नहीं मिलता। जीवन्त उपन्यासों की समानता जीवित प्राणियों से है, जिनको हम विविध अंगों का संकलन-मात्र नहीं मान सकते। यह मानना कि उपन्यास के विभिन्न अंग जैसे कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन इत्यादि एक-दूसरे से पृथक् अथवा विरोधी तत्त्वों की भाँति उपन्यास के भीतर रहते हैं, केवल भ्रम-मात्र है। वास्तव में विश्लेषण द्वारा उनको एक-दूसरे से अलग कर देना असम्भव है। एक साथ रहकर और एक-दूसरे के सहयोग से वे उपन्यास के जीवित रूप को प्रस्तुत करते हैं। ऐसी कथावस्तु की कल्पना, जिसमें चरित्र का अंश न हो, हम नहीं कर सकते। घटना-क्रम में पात्रों के संकलन-विकल्प प्रच्छन्न रूप से निहित रहते हैं। कथोपकथन में वर्णन का अंश रहता है और उससे चरित्र-चित्रण और वस्तु-विन्यास दोनों को सहारा मिलता है। अभिप्राय यह है कि उपन्यास के जिन विविध उपकरणों का हमने ऊपर उल्लेख किया है वे सभी एक-दूसरे से अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं और सभी मिलाकर उपन्यास के प्रभाव-एक्य के अभीष्ट की सिद्धि के लिए संलग्न रहते हैं। उपन्यासकार के लिए उपलब्ध साधनों की सहायता से उपन्यास का सजीव रूप प्रस्तुत कर देना ही सबसे प्रमुख ध्येय है। इस कार्य में उसको अपने निजी अनुभव से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। अनुभव क्या है यह कहना अत्यन्त कठिन है; किन्तु यह निर्विवाद ही है कि केवल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य तथ्यों के ग्रहण करने को ही अनुभव नहीं कहते; विचार और कल्पना द्वारा पदार्थों तथा घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्ध का ज्ञान भी अनुभव का अनिवार्य अंग है। इसी भाँति बीती बातों का स्मरण अथवा भावी सम्भावनाओं की कल्पना यह सब भी अनुभव से अलग नहीं किए जा सकते। अनुभव के सहारे ही उपन्यास-लेखक यथार्थ जीवन से अपना तादात्म्य स्थापित करता है और पुनः अपने ज्ञान को अपनी कृतियों में समाविष्ट करता है। उपन्यास की यह एक विशेषता है कि उसमें उपन्यासकार के तीव्र व्यक्तिगत अनुभव का समावेश मिलता है। अन्य साहित्य-रूपों में नियमों के बन्धन के कारण इस व्यक्तिगत अनुभव की तीव्रता कम

हो जाती है और उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है किन्तु जैसा ऊपर लिख आए हैं उपन्यास अपेक्षाकृत उन्मुक्त वातावरण में विकसित होता है, अतएव कलाकार की भावनाओं और अनुभवों का वास्तविक रूप सामने आता है।

उपन्यास की धारणा में लेखक के अभिप्राय और प्रयोजन का भी हाथ रहता है। उपन्यास-लेखन का सर्वमान्य प्रयोजन तो पाठकों का मनोविनोद करना है। यदि उपन्यास रुचिकर नहीं है तो गूढ़ विचारों के रहते हुए भी वह लोकप्रिय एवं सफल न बन सकेगा। साहित्य होने के कारण सुरुचि सम्पन्न पाठकों के मन पर उतना प्रभाव पड़ना आवश्यक है, अन्यथा वह अपने अपेक्षित धर्म से च्युत माना जायगा। इसके अतिरिक्त लेखक का अन्य अभिप्राय भी होता है, जिसके अनुसार वह अपनी रचना का स्वरूप निर्मित करता है। इस प्रकार उद्देश्य तथा शैली एक-दूसरे से नितान्त अभिन्न हैं। एक-दो उदाहरणों द्वारा हम अपनी बात को अधिक स्पष्ट करेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में जोला तथा उनके उपरान्त मोपासाँ-प्रभृति उनके अनुयायियों ने यह घोषित किया कि उपन्यास का चरम उद्देश्य जीवन के एक खण्ड को बिना किसी परिवर्तन के जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना है। इसी अभिप्राय से प्रेरित होकर इस समुदाय के लेखकों ने अनेक उपन्यास लिखे, जिनमें बहुसंख्यक छोटे-बड़े तथ्यों की सहायता से जीवन का यथातथ्य निरूपण हुआ। कुछ वर्षों के पश्चात् कतिपय ऐसे लेखक फ्रांस तथा इंग्लैंड में हुए जिन्होंने भौतिक तत्त्वों को नगण्य तथा निष्प्रयोजन बतलाकर सतत् प्रवाहित होने वाली चेतना की अविरल धारा को सबसे अधिक महत्त्व दिया। इस धारा में उठने वाली ऊर्मियों तथा बुदबुदों को उपन्यास में अंकित करना उन्होंने उपन्यासकार का उच्चतम कर्तव्य माना। मानसिक क्रियाओं तथा आवेगों की अभिव्यक्ति पर इतना अधिक आग्रह हुआ कि स्थूल भौतिक जीवन तथा परम्परागत कला के नियमों की पूर्ण अवहेलना होने लगी। प्रूस्त तथा जेम्स ज्वायस आदि उपन्यास-लेखकों ने चेतन तथा अवचेतन मन की क्रियाओं पर आधारित अपनी नवीन तथा स्वतन्त्र रचनाओं द्वारा उपन्यास-रचना के क्षेत्र में नया आदर्श उपस्थित कर दिया है। यह बात ध्यान देने की है कि प्रयोजन के साथ-ही-साथ निर्माण-पद्धति में भी परिवर्तन लक्षित हुआ। यही बात उन उपन्यासों से भी सिद्ध होती है जिनमें सामाजिक प्रभावों का निरूपण तथा सामाजिक विधान की आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। वर्तमान युग के अनेक उपन्यासों में दलित तथा शोषित वर्ग की कल्पना धीरोदात्त नायक के रूप में हुई है तथा अभिजात वर्ग के शोषणकर्ता अत्यन्त हेय तथा गर्हित रूप में चित्रित हुए हैं। कथावस्तु का विकास अधिकांश वर्ग-संघर्ष द्वारा होता है। इस बात के अन्य भी अधिक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि उपन्यास-लेखन की कला सोद्देश्य है और सदैव उद्देश्य तथा अभिप्राय से रचना को न केवल एकरूपता मिलती है वरन् बहुत-कुछ उसका स्वरूप भी निर्धारित होता है।

उपन्यास अनेक प्रकार के होते हैं और यह वैविध्य समृद्धि का सूचक है। उपन्यासों का विभाजन विषय, शैली तथा स्वरूप के आधार पर अनेक प्रकार से किया जा सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास कल्पना और यथार्थ के मिश्रण द्वारा अतीत के चित्र उपस्थित करते हैं। उनसे केवल बीते दिनों की जानकारी ही नहीं बढ़ती अपितु समय के उस प्रवाह का पता भी चलता है जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य को एक सूत्र में बाँधता है। ऐतिहासिक उपन्यास वर्तमान से हटकर प्राचीन युगों में काल्पनिक पलायन के प्रयोजन से नहीं लिखे जाते। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सम्बन्ध में हम ऊपर कुछ लिख चुके हैं। बहुत दिनों तक उनका प्रचलन बहुत बढ़ा हुआ था, किन्तु गत दस वर्षों में विभिन्न देशों के रुचि-परिवर्तन के कारण लोग पुनः



ऐसे उपन्यासों की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं जिनमें साधारण ढंग से रोचक कथा कहीं जाती है। ऐसे उपन्यासों में जीवन की सहज अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ जटिलता एवं दुरूहता का अभाव रहता है। बनावट एवं स्वरूप की दृष्टि से भेद करने पर कुछ ऐसे उपन्यास मिलते हैं जो अत्यन्त सुगठित होते हैं, और कुछ अन्य ऐसे जिनके विभिन्न अवयव एक-दूसरे से केवल ढीली तरह जुड़े होते हैं। हम यहाँ उपन्यासों का विभाजन नहीं करना चाहते, केवल उनकी विविधता की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही हमारा लक्ष्य है। वास्तविक जीवन के अत्यधिक निकट होने के कारण ही उपन्यास में इतनी विविधता का समावेश हो सकता है और इसी में उसकी विशेषता तथा गौरव है।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)

## प्रबंधकाव्य, रोमांस और उपन्यास

---

देवराज उपाध्याय

वास्तव में देखा जाए तो किसी साहित्यिक रूपविधान के विकास के मूल में किसी चिरपरिचित पर नूतन दृष्टिकोण का समावेश ही होता है। एक विचारक के शब्द हैं : 'वन मे व्यू दि इवोल्यूशन आफ एट्री लिट्रेरी जेनर ऐज दि एक्सप्लायटेशन ऑफ सम प्री-एमिनेंट टेक्निकल प्रिंसिपल्स, पॉजिटिव और निगेटिव, ऑन दि पोयोडिक वैल्यू ऑफ आल अदर ऐवेलेबुल मैटीरियल्स'।

इसका भाव यही है कि तत्कालीन भावाभिव्यक्ति, के जितने साधन उपलब्ध है उन्हीं की सहायता से कोई बहुत ही आवश्यक कार्य संपादन किया जाने लगता है, जो होता तो बहुत महत्त्वपूर्ण है, पर आज तक जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था, तब साहित्य में एक नूतन रूप का आविष्कार होता है। उदाहरण के लिए काव्य के उस स्वरूप को लीजिए, जिसे अंगरेजी में 'बैलड' कहा जाता है। बैलड भी एक तरह की कविता ही है, पर ऐसी कविता है जिसमें कथा के अंश की प्रमुखता उभरने लगती है। पहले जहाँ काव्य का, साहित्य क्षेत्र उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की हरीतिमा से नेत्रों में आनंद का अंजन लगाता चलता था, वही आज इस कथा का संबल पाकर इन बाह्य उपकरणों से बहुत कुछ स्वतंत्रता का अनुभव करने लगा। उसे यह भान होने लगा कि उसे गहराई से भी अधिक व्यापकत्व की आवश्यकता है, यदि छंद का बंधन हो भी तो ऐसा ही हो कि कथा को अधिक देर तक उलझाए न रख सके। अतः इस वर्णनात्मक तत्त्व में प्रवेश मात्र से ही शरीर रचना के कलेवर से अनेक अनुपयोगी अंश इस तरह मुड़ते गए जिस तरह विकासक्रम में मानव-शरीर के बहुत से काम में आने वाले अंगों का हास होता है।

काव्य के उपकरणों के स्थान पर एक सीधी-सादी तीर की गति से निरंतर कुछ दूर तक लेकर समाप्त हो जाने वाली कथा की अवतारणा के कारण व्यापकता तथा विस्तार से धनत्व का स्थान लिया और जटिलता पर सरलता का आदर बढ़ चला। पर यह अनिवार्य नहीं कि हर कथा का स्वरूप सीधा-सादा ही हो। यह छोटे-छोटे और सीधे-सादे दृश्यों के बदले विराटता

और जटिलता का दृश्य उपस्थित करने लगती है, कथा में भाग लेने वाले पात्रों की संख्या में वृद्धि होने लगती है और एक साथ अनेक कथाएँ आकर जुड़ने लगती हैं। इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के सामूहिक आघात-प्रतिघात के परिणामस्वरूप कथा-साहित्य के उस रूप की उत्पत्ति होती है, जिसे हम रोमांस कहते हैं।

इस रोमांस में हम एक विचित्र बात पाते हैं। कथा का विस्तार तो रहता ही है, पर इसमें कवित्वपूर्ण भावात्मक वातावरण भी साथ-साथ घना होता जाता है। बैलेड्स के कथात्मक तत्त्व में अपनी सत्ता की स्थापना के लिए कथेतर तत्त्वों को अथवा ऐसे तत्त्वों को जिनमें उसे सहायता देने का साक्षात् तत्परत्व नहीं है, या जो पहले से कथाभिन्न तत्त्वों की सेवा करते आए हैं, यथासाध्य पृथक ही रखने की प्रवृत्ति रहती है। यह स्वाभाविक भी है पर प्रभुता की दृढ़ स्थापना हो जाने पर नीति की दूरदर्शिता ही माँग करने लगती है कि प्रजावर्ग कि वे दल जो आज तक शासन संचालन से पृथक रखे गए हैं उन्हें भी क्रमशः हाथ बँटाने के लिए निमंत्रित किया जाए। कथा जो बैलड के रूप में काव्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई तो उसने काव्य-तत्पर विपक्षी तत्त्वों को निकालना शुरू किया। पर बाद में अपनी स्थिति दृढ़ होने पर उसने इस निराकरण की नीति में परिवर्तन करके विरोधी तत्त्वों को ही अपना बनाकर उन्हें ऊँचे-ऊँचे पदों पर स्थापित करना प्रारंभ कर दिया। उदाहरणार्थ जब रोमांस की प्रगति हुई, कथावस्तु की जटिलता बढ़ने लगी, उसके व्यापकत्व और विस्तार को संभालने के लिए बहुसंख्यक पात्रों का समावेश होने लगा तो जिनकी सहायता लेकर कथा ललकारती हुई आगे बढ़ रही थी, उन तत्त्वों की शक्ति की सीमा भी दीख पड़ने लगी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि कहीं से कुछ और सहायता मिले बिना लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा हो रही है। इसके लिए रोमांसों का ध्यान अपने पूर्ववर्ती 'टू बैडूर' नामक कवियों और उनके प्रयोगों की ओर गया। यह देखा गया कि कवि अपनी कविताओं में वीरों के अस्त्र-शस्त्रों, उनकी अलंकृत साज-सज्जा, रणक्षेत्र-प्रयाण, युद्ध और श्मशान-यात्रा इत्यादि की विस्तृत विवृत्ति के द्वारा पाठकों के ऐंद्रिय कल्पनात्मक भावों को अपूर्व तृपित प्रदान करने में समर्थ होता है। क्यों नहीं इसी वर्णनात्मक साधन को थोड़ा मनोनुकूल रूप में परिवर्तित करके अपने उद्देश्य की सिद्धि का साधन बनाया जाए? बस क्या था, यही दूसरे से उधार ली हुई वर्णनात्मकता अपने नए रूप में आकर रोमांस की सेवा में नियोजित हो गई। इस वर्णनात्मकता ने पहला काम यह किया कि कथा की गति को मंद कर दिया। कथा जो तीर की तरह निकलकर आगे बढ़ती थी उसमें ठहराव आ गया, इसीलिए आप देखेंगे कि रोमांस के पात्र तथा उनकी कथा के विषय बहुत कुछ सीमित हैं। नायक व्यक्ति नहीं है, पर एक उच्चकुल समुद्भूत नायक है। उसका व्यवहार, सदाचार, आचरण इत्यादि एक साँचे में ढला हुआ है। यदि राजा है, धर्मात्मा है, अपने भड़कीले वस्त्रों से सुसज्जित वीर (नाइट) है, यदि नायिका हुई तो वह सुंदरता की देवी होगी और अपनी रक्षा के लिए लोगों के हृदय में 'शिवैलरी' के भावों को जगाने की उसमें शक्ति होगी अर्थात् पात्र टाइप होंगे और व्यक्ति नहीं। उनके कार्यकलाप तथा उनकी प्रतिक्रिया के ढंग भी टिपिकल होंगे। वे सदा किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की खोज में निरत होंगे। प्रतिद्वंद्विता (होली ग्रेल) उनके जीवन का अंग होगा, सदा सामने एक उच्च आदर्श की लौ जगमगाती और उन्हें प्रेरित करती रहेगी, विपन्नों, विशेषतः निरीह नारियों का उद्धार उनके जीवन का व्रत होगा, प्रतिज्ञा के लिए प्राणों की बाजी लगा देना उनके लिए बाएँ हाथ का खेल होगा। प्रेम के लिए कठिन परीक्षाएँ, क्रीड़ा समारोह विवाह की धूमधाम, रण-प्रयाण, श्मशान यात्रा के दृश्य, राक्षसों से युद्ध, धार्मिक युद्ध इत्यादि का वर्णन अधिकता से होगा, तिस पर भी इन सबके बीच एक सुंदरी कन्या का हाथ अवश्य होगा। ये सब ही

एक सफल रोमांस के उपकरण हैं और इन्हीं उपकरणों की धूमधाम से रोमांस ने दूसरों के घर से लाई हुई वर्णनात्मकता को ला बिठाया। यहाँ तक तो कोई विशेष विचित्र बात नहीं हुई। पर रोमांस के रचयिताओं ने इसको नियोजित करने में जिस कौशल से काम लिया वह श्लाघ्य और उनकी कलात्मक सूझ का परिचय अवश्य है। कथा प्रसंग के मध्य में पड़े हुए काव्यात्मक वर्णन कथा की गति को कुछ देर तक रोक कर ही नहीं रह जाते, वे कुछ और करते हैं, पर अन्य तंतु अपने कार्य में क्रियाशील रहते ही हैं और इस रोकथाम का प्रभाव पूरी रचना इस रूप में पड़ता है कि पूरी सर्जित जीवनानुभूति में एक बड़ी सूक्ष्म, प्रभविष्णु पर आह्लादक वक्रता आ जाती है। ऐसा मालूम होने लगता है कि घटनाओं की प्रगति रुक भले ही गई हो पर संभव है कि नजरों से ओझल हो पृष्ठभूमि में चली गई हो, आस-पास ही कहीं उसकी धारा बहती हो और कभी आकस्मिक रूप में हमारे सामने मानों शून्य से टपककर आश्चर्य में डाल सकती हो। ठोस ज्यामिति (सालिड ज्योमेट्री) मानो के क्षेत्र में घुस आई हो। दो आयामों पर अपनी तूलिका से चित्र खींचने वाला कलाकार अचानक तीसरे आयाम को भी अपनी सीमा में लेने लगा है।

रोमांस लेखकों ने इस काव्यात्मक वर्णन का जिस रूप में उपयोग किया है और कौशल का परिचय दिया है उसे देखकर आज बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व देखे गए (नहीं, सुने गए) दृश्य की याद आ जाती है। हमारे गाँव में अथवा आस-पास के गाँवों में उत्सव-समारोहों के अवसर पर संगीतज्ञों की एक छोटी मंडली आया करती थी और अपने संगीत कौशल का प्रदर्शन करके लोगों का मनोरंजन करती थी। उसमें एक उस्ताद थे जिनका न तो गला ही मधुर था और न उन्हें कला में ही पारंगतता प्राप्त थी। हाँ, उन्हें बहुत से कवित्त, सवैए और दोहे याद थे। किसी संगीत के बीच में, जिस समय संगीत अपना रूप खड़ा ही कर रहा हो, उसमें प्राणवत्ता आ ही रही हो, वह कवित्तों और सवैयों के उद्धरण से संगीत की गति रोके देते थे। मस्तिष्क में संगीत के कारण एक तनाव की सृष्टि हो गई है, हम उसे सम पर आकर ताल कर गिरते देखने के लिए उत्सुक हैं, तब गति रुक गई, कवित्त और सवैयों का तांता कुछ देर चलता रहा। बाद में कवित्त की समाप्ति पर यथावसर रूकी पर छिपकर चलती रहने वाली संगीत की धारा को वह इस कौशल से पकड़ते थे कि सारी रिक्तता भर ही नहीं जाती थी पर मानो वही रिक्तता सबसे मूल्यवान बन जाती थी और उसका इस कौशल से भरा जाना तो सर्वस्व ही बन जाता था।

एक उदाहरण लीजिए। उन्होंने गाना प्रारंभ किया : 'का नैना झमकावे ठगिनियाँ, का नैना झमकावे'। कुछ देर तक गाने के बाद संगीत का स्वरूप खड़ा हो जाएगा और उसकी स्वाभाविक परिणति देखने लगेगी। तब तक कवित्तों का परायण प्रारंभ होगा। ध्यान रहे कि तब तक अन्य वाद्य यंत्र अपना काम करते रहेंगे, तबले पर थाप पड़ती रहेगी, हारमोनियम पर अंगुलियाँ नाचती रहेंगी। कवित्त शुरू होता है, वह भी एक विचित्र लहजे में :

लागत की पावस के कामिनी कलोल हेतु,  
 कारी घटा देख चहुँ ओर भटकतु हैं।  
 बीथिन में मोर सोर चातक की टेर सुनि,  
 बड़े-बड़े ध्यानिन के ध्यान उचटतु है॥  
 ऐसी ऋतु मांही पिया जाय कि बिदेस बसो,  
 दुखी अवलानि हृदय काम भयकतु हैं।  
 ज्ञानी, विज्ञानी और ध्यानिन को कौन कहे,  
 सावन की घटा देख जोगी जटा पटकतु हैं॥

अब इस 'पटकतु हैं' को पटककर वह इस कौशल से 'का नैना झमकावे' को वहीं पकड़ेंगे जहाँ छोड़ा था कि सारा वातावरण ही चमत्कृत हो जाए। हमारे रोमांसकार के रचयिता यही करते थे। जिस तरह कवित्त के कारण संगीत में वक्रता आ जाती थी जो कुशलता से सीधी होगर वातावरण को भव्यतर और समृद्धतर कर देती थी, उसी तरह इन काव्यात्मक वर्णनों ने प्रवेश करके प्रतिभा के सहारे रोमांसों को वैचित्र्यपूर्ण बना दिया था सपगति का निरीक्षण कीजिए। वह कुछ आगे बढ़ता है, फिर कुछ पीछे मुड़ता है, इसी आकर्षण-प्रत्याकर्षण से गति पाता हुआ अग्रसर होता है और एक ऐसी लहरीली गति की सृष्टि करता है जो अन्यथा कभी भी संभव न थी। रोमांसकारों ने इसी कला का विकास किया था। उन्होंने विरोधी शक्तियों से ही शक्ति प्राप्त करके अपनी प्रतिभा तथा रचनानैपुण्य का परिचय दिया था।

साहित्यिक क्षेत्र में रोमांस के नाम से अभिहित की जाने वाली रचनाओं और जीवन की वास्तविकता में क्या संबंध था? कथात्मक साहित्य में वर्णित जीवन और प्रकृति के क्षेत्र में ईश्वर निर्मित जीवन में चार प्रकार के संबंध हो सकते हैं और उनके आधार पर कथाओं का वर्गीकरण हो सकता है असंभव, दुर्लभ, संभव, सुलभ। इनके अंग्रेजी प्रतिशब्द होंगे : इंपोसिबुल, इंप्रोबेबुल, पासिबुल तथा प्रोबेबुल। आज की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास उत्पन्न हुआ है रोमांस से ही, पर अपनी पृथक् सत्ता की घोषणा के लिए यही कहता है कि जहाँ रोमांसकार प्रथम दो प्रकार के संबंधों को उपजीव्य तथा आधार के रूप में ग्रहण करते थे वहाँ हमने उन्हें सर्वथा असंगत समझकर त्याग दिया है। हमारा संबंध जीवन और साहित्य के तृतीय और चतुर्थ प्रकार से ही है। इसी बात को क्लारा रीव ने अपनी पुस्तक 'प्रोग्रेस ऑफ रोमांस' में इन शब्दों में व्यक्त किया है :

दि नावेल इज ए पिक्चर ऑफ रीअल लाइफ ऐंड मैनर ऐंड ऑफ टाइम्स, इन हिच इट इज रिटेन, दि रोमांण इन लोफ्टी एंड ऐलीवेटेड लैंग्वेज, डेसक्राइब्स हिच नेवर हैप्पेंड नार इज लाइकली टु हैप्पेन, दि नावेल गिब्स ए फेमिलियर रिलेशन ऑफ सच थिंग्स, ऐज पास ऐवरी डे बिफोर आवर आईज, सच ऐज में हैप्पेन टु अवर फ्रेंड्स आर टु देमसेल्वज, ऐंड दि पर्फेक्शन ऑफ इट इज टु प्रेजेंट एवरी सीन इन सो ईजी ऐंड नेचुरल ए मैनर ऐंड टु मेक दैम एप्पियर सो प्रोबेबुल ऐज टु डिसीव अस ठटू परसुएशन (ऐट लीस्ट हाइल वी आर रीडिंग) दैट आल इज रीअल, अंटिल वी आर ऐफेक्टेड बाई जोयेज आर डिस्ट्रेसेज ऑफ पर्संस इन दि स्टोरी ऐज इफ दे आर अवर ओन।

अतः हम यह कह सकते हैं कि इस यथार्थवादी दृष्टिकोण, जीवन की सत्यता के नूतन परिवर्तित दृष्टिकोण की सवारी रोमांस के पथ पर चढ़कर जीवन के पथ पर निकली तो धीरे-धीरे परिस्थिति के बीच में पड़कर सारा दृश्य ही बदल गया अथवा यों कहिए कि परिवर्तित होने की विवशता उत्पन्न हो गई। रथ की सामग्री वही थी, पहिए वैसे ही थे, अश्व भी वही बागडोर भी वही, पर वाहक बदल गया था, उसके विचार दूसरे थे, वह किसी दूसरे ही उद्देश्य से यात्रा के लिए निकला था, अतः कथा साहित्य के वातावरण में कायाकल्प का दृश्य उपस्थित हो गया।

18 वीं शताब्दी के पश्चात् से लेकर आज तक औद्योगिक क्रांति और अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति से प्रेरण ग्रहण करती हुई हमारी सभ्यता ने जो रूप धारण किया है उसकी सबसे बड़ी विशेषता है 'छिन्न-भिन्नता', अर्थात् बाह्य रूप से साधन संपन्न होकर जंगलों के छिटपुट जीवन का परित्याग करके संगठित होकर नगर में लोग भले ही चले आए हों पर उनका हृदय शतधा टुकड़ों में विभक्त होता गया है। ये क्षणिक लहरें और बुदबुदों की पकड़ में आते जाते फिसल पड़ने वाले बुदबुदों की छाया हमारे मस्तिष्क के चारों ओर चक्कर काटती रहती है और हमारी

कल्पना और प्रतिभा को ललकारती है कि शक्ति हो तो मुझ पर आजमाकर देखो। है साहस हमें कलात्मक और दर्शनीय रूप में स्थिर करने का?

इसी ललकार के उत्तर में हमारे आधुनिक उपन्यासों की सृष्टि हुई है और इस ललकार ने अपने रूप को इतनी शीघ्रता से बदला है कि कलाकार को साँस लेने तक की फुर्सत नहीं रही है। कलाकार की प्रतिभा को पहले भी इस तरह के परीक्षण का सामना नहीं करना पड़ता था। कला बाह्य वस्तु की अपनी आँच में गलाकर सार्थक रूप प्रदान करती ही है कि तब तक वह दूसरा रूप धारण करके कलाकार की प्रतिभा को चुनौती दे जाती है। 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।' याद रखना चाहिए कि आज का उपन्यास उसकी उपज है। जो आज शायद प्रथम बार पूर्णरूपेण खंड-खंड हो गया है, खील-खीला होकर बिखर गया है, तिल-तुंडल न्याय का सच्चा उदाहरण उपस्थित कर रहा है। आज रूपक क्यों नहीं लिखे जाते? महाकाव्य क्यों नहीं लिखे जाते? उपन्यासों और गीतिकाव्यों का ही बोलबाला क्यों है? इसीलिए कि उपन्यास के अतिरिक्त जितने भी साहित्यिक विधान हैं उनका निवेदन एक ऐसी जनता के प्रति होता है, जो कलाकार की भावनाओं, विचारों, मान्यताओं तथा आस्थाओं से सहानुभूति रखती है, दोनों के तंतु जिन्हें लेकर उनके मानसपट का निर्माण हुआ है, एक ही प्रकार के होते हैं, वे दोनों एक-दूसरे की भाषा को समझ सकते हैं : रूपकों का निर्माण तो तभी हो सकता है जबकि दर्शक और नाटककार दोनों एक ही मानसिक और आध्यात्मिक जगत के निवासी हों, दोनों की मानसिक पृष्ठभूमि में समानता हो। नाटकों के इतिहास को देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि नाट्यकला के चरमोत्कर्ष का युग वही रहा है जब नाटककार और दर्शकवर्ग में वही संबंध था जो उपासना के लिए आये भक्तों और पुरोहितों में होता है। भक्तमंली और प्रार्थना के पुरोहित में एक ही तरह के भावप्रवाह का संचरण होता रहता है। आज का लेखक जब कुछ लिखने के लिए अग्रसर होता है तो जो बात सबसे प्रमुख रूप से उसके सामने आती है वह यह है कि उसको एक ऐसी जनता के प्रति आत्मनिवेदन नहीं करना है जो अलग-अलग कुर्सियों पर बैठी रहकर भी एक ही भावतरंग पर वह रही हो। नहीं, उसे एक ऐसे जनसमूह का सामना करना है जो पास-पास रहकर भी एक-दूसरे का नाम तक नहीं जानते, एक दूसरे को सशंक दृष्टि से देखते हैं और बिना परिचय के एक दूसरे से वार्तालाप भी करना पसंद नहीं करेंगे। सचमुच मानव इतिहास ने अभी तक ऐसा युग नहीं देखा था जिसमें मानवता बाह्य दृष्टि से तो इतनी पास आ गई हो, पर उसका अध्यात्म, उसका मानस, उसका हृदय इस तरह टूट-टूट कर बिखर गया हो। मानवता के हृदय को एकता के सूत्र में आबद्ध करने वाला तार टूट गया हो और भूमि पर बिखरे हुए मनके शून्य में पड़े हुए अपने को नष्ट करने पर तुले हुए हों।

युग की इस वैयक्तिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व उपन्यास कर रहा है। यह एक अराजक युग की उपज है, अतः यह परंपरा प्राप्त उपादानों को ही लेकर चलता है, पर अराजकता का दृश्य उपस्थित हो ही जाता है। यही कारण है कि इसमें इतना लचीलापन है, इस पर किसी तरह का बंधन नहीं। यह कोई भी रूप किसी समय धारण कर सकता है। इसमें एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन की कहानी रह सकती है, या एक घंटे की या एक मिनट की, मदीन्मत साहसिकों की कथा कह सकती है, या पूरा समाज इसकी परिधि में आ सकता है, या कथा का नितान्त अभाव भी हो तो कोई परवाह नहीं, जीवित मनुष्यों की कथा हो सकता है, कब्र से उठकर यहाँ मनुष्य आ सकते हैं, भड़कीले वर्णन हो सकते हैं, रेखाचित्र हो सकते हैं या केवल अर्धस्फुट कथनों के द्वारा पाठकों की अनुमानवृत्ति या अर्थापत्ति के सहारे सब कुछ छोड़ा जा सकता है।

सर्वसमर्थ, सर्वदा ईश्वर समकक्ष और झरोखे पर बैठकर मुजरा करने वाले लेखक की शैली अपनाई जा सकती है। उत्तम पुरुषात्मक 'मैं' वाली शैली, पत्रात्मक शैली या सबके विचित्र सम्मिश्रण से भी काम लिया जा सकता है। आज भावात्मक जगत में अराजकता है तो उसके प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्यिक जगत में सुराज की व्यवस्था कहाँ से आ सकती है?

इस तरह की अराजकता के वातावरण का सामना करना हो और अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से ही इस बाह्याघात के प्रति प्रतिक्रियाशील होने की यदि मनुष्य के अंदर आंतरिक प्रेरणा हो तो उसके सामने कुछ ही ऐसे मार्ग खुले रह जाते हैं, जिन्हें वह ग्रहण कर सकता है। वह पलायनवादी हो सकता है अथवा डटकर परिस्थितियों का सामना करने के लिए ललकारकर, सामने आकर परिस्थितियों को मोड़ने का प्रयत्न करता है। यदि उसने पलायनवाद का मार्ग पकड़ा तो उसके दो रूप दृष्टिगोचर होंगे। प्रथमतः वह साहित्य के वास्तविक उद्देश्य और तत्त्व को छोड़कर शिल्पकार हो जाएगा, शैली और रचना की विचित्र कारीगरी के सहारे लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करेगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो वह सारे वस्तुनिष्ठ जगत का परित्याग करके आत्मनिष्ठ जगत के आँचल में मुँह छिपा लेगा। अर्थात् वह सारी दुनिया की कथा न कहकर अपनी ही कथा कहने लग जाएगा और इस प्रकार कथासाहित्य में आत्म-चरितात्मकता की वृद्धि होगी। तीसरी संभावना इस बात की है कि वह युग की प्रचलित अराजकता, उच्छृंखलता, सस्ती इंद्रिय परायणता, हवा के रुख पर हलके ढंग से मुड़ पड़ने वाली दुलमुलकीनी पर अपना आत्मसमर्पण कर दे और एक गुलाम की तरह 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना ही अपना कर्तव्य समझ ले। दिन के मध्याह्नकाल में भी यदि युगरूपी स्वामी कहता है कि संध्या हो गई तो वह तारे भी उगा देगा। यदि वह पलायनवादी न होकर यथार्थवादी हुआ और उसके अंदर हार्दिक और चारित्रिक दृढ़ता हुई तो उसकी लेखनी व्याख्यात्मक हो जाएगी। उसे पद पद पर अपनी बातों का स्पष्टीकरण करते चलना पड़ेगा, बात-बात पर अपनी सफाई देनी होगी, अपने को 'जस्टीफाई' करना पड़ेगा। पहले उसकी रचना में, उसका विश्वास था, सारी दुनिया है। केवल संकेत मात्र से उसके हृदय के सारे संस्कार झंकृत हो सकते हैं। पर आज उससे इस विश्वास का संबल छिन गया है। वह जानता है कि उसकी रचना को किसी का सहारा प्राप्त नहीं। अतः उसे अपना सहारा देना ही होगा, अपनी बात मनवानी ही होगी, फुसलाकर, पुचकारकर नहीं तो गले पर रद्दा देकर भी। यही कारण है कि आजकल औपन्यासिकों का एक ऐसा दल है जिसने कथा भाग को अपने यहाँ से निष्कासित कर दिया है। यदि छोटी-सी कथा है भी तो उसे इतना पीटा गया है, इतना धुना गया है कि वह घटना न रहकर मानसिक जगत की लहर मात्र रह गई है। जेम्स ज्वायस, मार्सेल प्रूस्त, वर्जीनिया वुल्फ इत्यादि इस श्रेणी में आएँगे। हिंदी में इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास इस बात के प्रमाण हैं कि व्याख्यात्मकता ने कथा में कितना स्थान बना लिया है।

अब जिसे हमने पलायनवादी कथाकार कहा है उसके बारे में कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। क्या कारण है कि अधिकांश कथाकारों में शिल्प का अंश अधिक उभरा हुआ है। उनमें और कुछ नहीं पर प्रयोगों की नूतनता अवश्य है, उनमें लोगों की तमाशबीन वाली प्रवृत्ति से लाभ उठाने का दृढ़ आग्रह है। कारण यही है कि कथाकार की प्रतिभा अपने प्रज्ञाचक्षु से देखती है कि आज की दुनिया अंदर से बंटी हुई भले ही हो पर बाहर से एक है, उसके भावजगत और अध्यात्मजगत के टुकड़े अवश्य उड़ गए हो पर ऐंद्रिय जगत बरकरार है। वह समुद्र की जलराशि की शाश्वतता को भले ही न देख सके पर वह लहरों के कलरवनर्तन का मजा खूब ले सकती है। वह साहित्य की आत्मा को भले ही न देख सके पर नामरूपात्मक

जगत को खूब पहचान सकती है। पहले आलोचना का सिद्धांत वाक्य था 'का भाषा, का संस्करित, भाव चाहिए साँच', पर अब अवस्था बदल गई है। अब भाव के महत्त्व के दिन लद गए। भाषा अथवा शिल्प का महत्त्व बढ़ गया है। यदि शिल्पकारिता के अंश प्रौढ़ हैं तो रचना स्वीकृत हो जाएगी, आदरणीय होगी। यही इस युग का नारा है 'कला कला के लिए' जिसका महत्त्व आज भी किसी तरह स्वीकारणीय है ही। आज की दुनिया के पास किसी रचना के मूल्यांकन के लिए एक कसौटी है अर्थात् 'टेक्नीकल स्टैंडर्ड'। वह इसी भाषा को समझती है। अतः साहित्यकार भी उसे तकनीक की उत्तमता ही प्रदान करेगा। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' अथवा 'नदी के द्वीप' की चाहे किसी ने कुछ भी निंदा की हो पर उनकी तकनीक के तो सभी कायल हैं।

कथा-साहित्य में आत्म-निरीक्षणता का प्राबल्य इस नूतन युग की अराजकता की देन है। हिंदी प्रेमचंदोत्तर युग के कथा-साहित्य का बृहदंश आत्मनिरीक्षणात्मक हो गया है। प्रेमचंद्र स्वयं अपनी अंतिम कृति 'मंगल-सूत्र' में आत्म-निरीक्षक हो गए थे। जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', और 'व्यतीत', इलाचंद्र जोशी का 'पर्दे की रानी', उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा', 'अँचल' का 'मरुप्रदीप' सब इसी शैली में हैं। यूरोपीय कथा-साहित्य में यही बात देखने में आती है। डी. एच. लारेंस, मार्सेल प्रूस्त, जेम्स ज्वायस, आंद्रे जीद इत्यादि में यही आत्म-निरीक्षणात्मक पद्धति प्रधान हो उठी है। क्या इन सबको केवल संयोग कहकर टाल दिया जाए? इसका एकमात्र कारण यही है कि बाह्य संसार में किसी एक को आधार न पाकर उपन्यासकार अपने में लीन होकर देखना चाहता है कि कहीं उसके अंदर ही शायद वह आधारशिला प्राप्त हो सके।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)



## आधुनिक उपन्यास की पृष्ठभूमि

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

आधुनिक उपन्यास की चर्चा करते समय विषय को मुख्यतया अंग्रेजी उपन्यास तक ही सीमित रखना विश्व-साहित्य में उपन्यास के विकास को एकांगी रूप देना है और स्वयं अंग्रेजी उपन्यास को भी अधूरा देखना है, क्योंकि, विशेषतया उत्तरकाल में, वह दूसरी भाषाओं के साहित्यों और साहित्यिक आंदोलनों से अत्यधिक प्रभावित होता रहा है। फिर भी, जहाँ तक हिंदी उपन्यास का प्रश्न है उसकी गतिविधि बहुत-कुछ अंग्रेजी उपन्यास के समानान्तर ही रही और दूसरी साहित्यों का, यथा रूसी और फ्रांसीसी साहित्यों का प्रभाव, उसने अंग्रेजी के माध्यम से ही ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त हिंदी-पाठक अंग्रेजी साहित्य से न्यूनाधिक मात्रा में परिचालित होता ही है और इतर साहित्य का ज्ञान न इतना विस्तृत होता है, न इतना व्यवस्थित। इसलिए उपन्यास-संबंधी साधारण स्थापनाओं के उदाहरण देने के लिए अंग्रेजी साहित्य को सामने रखना कदाचित् अधिक उपयोगी होगा।

आधुनिक उपन्यास के लक्षण पहचानने और उसे पूर्ववर्ती काल के अथवा विक्टोरियन युग के उपन्यास से पृथक् करने के लिए थोड़ा ऐतिहासिक प्रत्यवलोकन आवश्यक है।

विक्टोरियन उपन्यास के विकास की पहली सीढ़ी डिकेन्स और थैकरे को माना जा सकता है। दोनों में बहुत अंतर है, फिर भी दोनों पर साथ विचार किया जा सकता है, क्योंकि दोनों का उद्देश्य समाज को तद्दत्त और सम्पूर्ण चित्रित करने का था। दोनों ने अपने-अपने ढंग से समाज की सजीव गतिमयता का चित्र खींचा। डिकेन्स बौद्धिक नहीं था, उसने डार्विन नहीं पढ़ा था और विकासवाद के सिद्धांत से वह अपरिचित था। फिर भी समाज के विकास अथवा गतिमयता के प्रति उसकी दृष्टि सजग थी। पात्रों का घटनाओं के द्वारा चरित्र-विकास दिखाने में डिकेन्स असमर्थ है और उसके चरित्र आरंभ में जैसे आते हैं अंत तक वैसे ही चलते हैं। किंतु उसके उपन्यास में लोककथा की-सी शक्ति है और उसके अनेक चरित्र ऐसे लोकचरित्र हैं। जो अंग्रेजी पाठक के साधारण जीवन और बातचीत के मुहावरे का अंग बन गये हैं। जैसा किसी ने कहा, "जीवन में वैसे चरित्र नहीं होते, लेकिन उससे जीवन ही घाटे में रहता है।

मिकॉबर और मिसेज गैम्प आदि जैसे पात्र अगर विधाता ने नहीं बनाए होते तो हमारे मन यही कहता कि उसे बनाने चाहिए थे।” थैकरे ने जीवन का गंभीर चित्र खींचने का प्रयत्न किया। उसका ‘वैनिटी फेयर’ इस समय तक के अंग्रेजी साहित्य में समाजालोचना का सब से महत्वपूर्ण उदाहरण है।

वास्तव में डिकेन्स और थैकरे को ही आधुनिक उपन्यास के आदि-प्रवर्तक माना जा सकता है। लेकिन फिर भी आधुनिक उपन्यास उनके उपन्यासों से बिल्कुल भिन्न है, जैसा कि हम अभी देखेंगे।

विक्टोरियन उपन्यास के विकास का दूसरा चरण ऐंटनी ट्रॉलॉप, जार्ज एलियट और मेरेडिथ में लक्षित होता है। ट्रॉलॉप को थैकरे का अनुयायी माना जा सकता है यद्यपि वह स्वयं एक अच्छा उपन्यासकार था। तथापि यह भी कहा जा सकता है कि वह उपन्यासकार का उत्तम उदाहरण था क्योंकि वह शुद्ध उपन्यासकार था, ऐसा उपन्यासकार नहीं जो साथ-साथ कवि या आलोचक या समाज-शास्त्री या सुधारक भी हो। उसके लिए मुख्य बात कहानी कहना था। युवक और युवतियों के मनोरंजन के लिए साधारण जीवन का ऐसा चित्र, जिसमें हास्य का पुट करुणा की मिठास हो, वह ट्रॉलॉप के उपन्यास की परिभाषा है। उसके उपन्यासों में चरित्र के मनोविश्लेषण का अनुपात कुछ अधिक था। लेकिन फिर भी उसकी मूल प्रवृत्ति समाज-चित्रण की ही थी। स्वभाव से वह परंपरावादी था और धार्मिक तथा नैतिक रूढ़ियों की ओर उसकी प्रवृत्ति सहज स्वीकार की ही थी। जार्ज एलियट, मेरेडिथ और हेनरी जेम्स मुख्यतया चरित्र का विश्लेषण करते थे। जार्ज एलियट, अपने समकालीनों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक थी। नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह तो उसमें नहीं था तथापि परंपरागत धर्म-विश्वास पर उसे संदेह था। वह ईसाई नीति-शास्त्रों को मानती और उसकी रक्षा करना चाहती थी लेकिन साथ ही उसे आधिदैविक या अति-प्राकृतिक आधारों से अलग भी करना चाहती थी।

मेरेडिथ में दार्शनिक जिज्ञासा का भाव और उभर कर आया। वह जार्ज एलियट की अपेक्षा कहीं अधिक मौलिक विचारक था, जीवन के तथा धर्म के गंभीरतम प्रश्नों के प्रति सजग और उचितानुचित, पाप-पुण्य आदि की समस्याओं में उलझा हुआ। जिन प्रश्नों को थैकरे ने अपने समाजालोचना में कभी छुआ भी न था उन्हें मेरेडिथ मुख्य रूप से सामने लाता था। मेरेडिथ ने ही पहले-पहल समकालीन तथा विक्टोरियन उपन्यास की अपर्याप्तता घोषित की और जीवन-दर्शन की आवश्यकता पर जोर दिया। “यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि यदि हम शीघ्र ही उपन्यास में जीवन-दर्शन का समावेश नहीं करते, तो वह कला अपने बहुसंख्यक उपासकों के रहते हुए भी नष्ट हो जाएगी।”

तीसरा चरण विक्टोरियन समाज के विघटन का समय है और इस चरण के उपन्यासों में जिज्ञासाएँ तीव्र हो उठती हैं। दूसरी ओर इस काल के लेखक में भाषा की अलंकृति भी बहुत देखी जाती है। इस चरण के मुख्य और महान् उपन्यासकार टामस हार्डी है। मेरेडिथ ने जिन समस्याओं को सूचित ही करके छोड़ दिया था। हार्डी उनकी गंभीरता से आतंकित हो उठता है। वह समस्याओं को ही गंभीर और विचारपूर्ण ढंग से उपस्थित नहीं करता बल्कि उनके सुलझाने या उत्तर की ओर भी संकेत करता है। ‘टेस’ में पतिता नारी के जीवनाधिकार का प्रश्न उठाया गया है। ‘जूड द ऑक्सवोर’ में समाज के अंदर व्यक्ति की समस्याओं को उठाया गया है। लेकिन हार्डी की आलोचना को सामाजिक नहीं कहा जा सकता, वह जागतिक (कॉस्मिक) ही है क्योंकि उनका आक्रोश समकालीन समाज-व्यवस्था की रूढ़ियों के प्रति नहीं, समूचे जीवन-विधान के प्रति है। उसके अनुसार एक ओर मानव प्राणी है जो अपनी इच्छाओं,

आकांक्षाओं और आयोजनों को समझता है; दूसरी ओर जड़ प्रकृति है जिसमें न चेतनता है, न विवेक। इस प्रकार मानवीय प्रवृत्तियाँ तो बोधगम्य हैं लेकिन घटना-क्रम तर्कातीत और विसंगत हैं जड़ जगत् का संगठन विवेकपूर्ण नहीं है। मानव और प्रकृति का यह विरोध, मानवीय उद्योग और विधि के विधान का यह वैषम्य या असंगति ही मानव की ट्रेजडी का मूल है।

हार्डी का साहित्य लोक-परंपरा और लोक-विश्वासों पर निर्भर करता हुआ चलता है। लोक-गाथा, लोक-कला, लोक-विश्वास और लोक-धर्म उसके साहित्य में इतना महत्त्व रखते हैं कि उपन्यास को विशिष्ट प्रदेश और उस प्रदेश की लोक-परंपरा से पृथक् करके पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।

हार्डी को 'अंतिम विक्टोरियन' कहा जाता है। लेकिन उसे इतनी बड़ी सार्थकता के साथ 'अंतिम एलिजाबीथन' भी कहा जा सकता है। क्योंकि हार्डी शेक्सपियर के साहित्य में डूबा हुआ है और शेक्सपियर का या एलिजाबेथ कालीन नाटककारों का प्रभाव उसके साहित्य में स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरणतया हार्डी के देहाती पात्र शेक्सपियर के पात्रों से बहुत-कुछ मिलते हैं वही पार्थिवता और यही काव्यमयता उनमें होती है। इसी प्रकार दैव संयोग (कोइंसिडेंस) और हास्य का वैसा ही उपयोग हार्डी में है जैसा कि एलिजाबेथ कालीन नाटक में। वैचित्र्य और वैषम्य का एलिजाबेथ कालीन आकर्षण हार्डी को भी आकृष्ट करता है। **स्टिर्न ऑफ द नेटिव** के अंशों की तुलना वेबस्टर के 'द व्हाइट डेविल' से और 'मेयर ऑफ कास्टरब्रिज' की तुलना शेक्सपियर के 'किंग लियर' से की जा सकती है।

हार्डी का समकालीन एक उपन्यासकार अंग्रेजी उपन्यास की परंपरा में विशेष स्थान रखते हुए भी प्रायः उपेक्षित होता रहा है; वह है जार्ज गिसिंग। इसका कारण कुछ तो हार्डी का नैकट्य हो सकता है, कुछ यह कि गिसिंग की सत्यवादिता में एक रूखापन और कटुता है। वास्तव में गिसिंग 'मोह-भंग' का पहला उपन्यासकार है। शैली और विधान की दृष्टि से यद्यपि वह परंपरानुगामी है, तथापि वस्तु की दृष्टि से वह भविष्योन्मुखी हैरुमानी प्रभावों से मुक्त, स्पष्टवादी, धार्मिक और राजनीतिक मान्यताओं के विषय में संदेहवादी। गिसिंग ने इसका तीव्र अनुभव किया कि उपन्यास को अपना विस्तार नये वर्गों और नयी गहराईयों में ले जाना चाहिए। 'अनक्लास्ड' (वर्गच्युत) नामक उपन्यास में वह कहता है, "रोजमर्रा जीवन का उपन्यास अब घिस गया है। अब हमें और गहरे खोदना होगा और अछूते सामाजिक स्तर तक पहुँचना होगा। इसका अनुभव डिकेन्स ने किया था लेकिन उसमें अपने विषय का सामना करने का साहस नहीं था।"

गिसिंग के इस मोह-भंग में नये अथवा आधुनिक उपन्यास का बीज निहित है।

विक्टोरिया के युग के बाद एडवर्ड का काल केवल एक अंतराल है; विक्टोरियन से परिवर्तन वास्तव में प्रथम विश्व-युद्ध में ही आया जिसने सहसा भारी उथल-पुथल कर दी और नये उपन्यास को जन्म दिया। आधुनिक उपन्यास वास्तव में युद्धोत्तकाल का उपन्यास है; यह दूसरी बात है कि उसके बीजजैसा ऊपर बताया गया है पूर्ववर्ती कुछ उपन्यासों में ही निहित थे, और आधुनिक उपन्यास की परंपरा का विवेचन बिना विक्टोरियन युग में इन प्रवृत्तियों के मूल-स्रोतों को पहचाने हो ही नहीं सकता।

विक्टोरियन उपन्यास मध्यवर्ग का, मध्यवर्ग की भावना का, बूर्जुआ संस्कृति का, उपन्यास था। उसका विकास इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के समान्तर चला। किंतु विश्व-युद्ध ने बूर्जुआ जगत् को जड़ से हिला दिया, उसकी संस्कृति लड़खड़ा कर टूट गयी, उसके प्रतिमान सहसा संदिग्ध हो उठे :

“सभी मानवीय संबंध परिवर्तित हो गए हैं स्वामी और भृत्य के, पति और पत्नी के, माता-पिता और संतति के। और जब मानव-संबंधों में परिवर्तन आता है, तब धर्म, आचार,

राजनीतिक और साहित्य में भी साथ-साथ परिवर्तन होता है।” (वर्जिनिया वूल्फ)

साहित्यकार की दृष्टि अब वर्गों के संघर्ष को स्पष्ट देखने लगी। इतना ही नहीं, उसने देखा कि वर्गों के जीवन के वृत्त के भीतर भी अनेक दरारें पड़ गयी हैं, वर्ग-संघर्ष के भीतर जातियों या घरानों के एक अलग संघर्ष की लीकें पहचानी जा सकती है। महायुद्ध ने मध्यवर्ग के जीवन को तो हिलाया ही, घरानों के जीवन पर भी गहरा आघात किया। महायुद्ध की चपेट में एक समूची युवा पीढ़ी को खोकर ये मध्यवर्गीय घराने अपने भविष्य की अनिश्चितता से आतंकित हो उठे क्योंकि युवा पीढ़ी के मिट जाने से उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार और कुल का स्थायित्व जोखिम में पड़ गया। सम्पत्ति-मात्र खतरे में है, यह दुश्चिंता मध्यवर्गीय जीवन को घुन-सी खाने लगी।

गाल्सवर्दी और किपलिंग इस संकट के उपन्यासकार हैं। गाल्सवर्दी के ‘फ़ोर्साइट सागा’ की उपन्यास-परंपरा घरानों के जीवन के विस्फोट का ही चित्र है। ‘मैने ऑफ प्रॉपर्टी’ का नाम ही अभिप्राय-भरा है, और ‘प्रॉपर्टी’ की रक्षा की व्याकुलता गाल्सवर्दी के पात्रों का मुख्य मनोभाव है : वर्गीय या कुलगत मर्यादाओं की रक्षा का आग्रह संपत्ति-संबंधी उस चिंता का ही प्रक्षेपण है।

वर्जिनिया वूल्फ और गाल्सवर्दी-किपलिंग में एक बड़ा अंतर है : ये दोनों उपन्यासकार बूर्जुआ उपन्यासकार हैं, किन्तु वर्जिनिया वूल्फ बूर्जुआ नहीं है, यद्यपि उसे बूर्जुआ-विरोधी भी नहीं कहा जा सकता। उसकी बौद्धिकता और सूक्ष्म अनुभूति उसे इससे ऊपर उठाते हैं : प्रतिमानों के बूर्जुआ होते हुए भी उसका दृष्टिकोण अधिक बौद्धिक और उसकी संवेदना का वृत्त अधिक विस्तृत है।

इसके अनंतर जो महत्त्वपूर्ण नाम सामने आता है और इस नाम के साथ अंग्रेजी उपन्यास संक्रान्ति-काल पार करके ‘आधुनिक’ युग में आ जाता है वह डी. एच. लारेंस का है। लारेंस स्पष्टतया बूर्जुआ-विरोधी था। अपने युग की वह एक अद्भुत अनमिल उपज था : उसका दृष्टिकोण रुमानी था। परंतु बूर्जुआ-विरोधी, क्योंकि उसमें एक नास्तिक अभिजात्य था उनकी चरमवादी प्रवृत्ति इस बनी बनायी घटिया दुनिया को सह नहीं सकती थी : उसका विद्रोह इस ‘रेडी मेड’ बूर्जुआ मानदण्डों के प्रति उसका अस्वीकार एक अनीश्वरवादी या सर्वदेवतावादी (पैगन) की स्वच्छन्दता की घोषणा थी। भौतिक जीवन के साथ चेतना का एक ऐसा नया संबंध स्थापित करने के लिए जो बूर्जुआ जीवन के ओछेपन से बंधा हुआ न हो, उसकी अभिजात मनोभावना संसार की सभी मानी हुई संस्कृतियों का तिरस्कार करके उनके घेरे से बाहर जाने को तैयार थी : ग्रीक, यहूदी, रोमी, मध्ययुगीन, पुनरुत्थान कालीन सभी संस्कृतियों को अपर्याप्त पाकर लारेंस नयी खोज के लिए कहीं भी जाने को आतुर थाभूली हुई प्राक्-सभ्यताओं की ओर भी “आई वांट टू टर्न माई बैक ऑन द होल ब्लास्टेज पास्ट” में समूचे अभागे अतीत की ओर पीठ फेर लेना चाहता हूँ यह लारेंस की उक्ति थी; और यूरोप को छोड़कर वह मेक्सिको गया था तो संवेदना के किसी पुराने अर्द्ध-विस्मृत प्रकार की खोज में। मेक्सिको-विषयक अपने उपन्यास ‘द प्लम्ड सर्पेंट’ में वह लिखता है: “मैं मूलभूत भौतिक यथार्थताओं के प्रति संवेदना का पुनःसंस्कार करना चाहता हूँ।”

विक्टोरियन काल की प्रवृत्तियाँ लारेंस के परवर्ती युग में भी लक्षित होती हैं, और लारेंस के पूर्वसूचक विक्टोरियन युग में थे; पर लारेंस से स्पष्ट युग परिवर्तन माना जा सकता है।

इस ऐतिहासिक अवलोकन के बाद अब इस पर विचार किया जा सकता है कि आधुनिक उपन्यास की कौन-सी प्रवृत्तियाँ उसे विक्टोरियन उपन्यास से पृथक् करती हैं।

1. जो है उसके प्रति, समवर्ती नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक मूल्यों के प्रति, अस्वीकार और नये प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की आकुलतायही वह मौलिक भेद है जो विक्टोरियन और

आधुनिक का काल-विभाजन करता है। नये प्रतिमानों और मूल्यों की यह खोज लारेंस और ट्रॉल्लेप की तुलना करने से स्पष्ट उभर कर सामने आती है। लारेंस सर्वथा आधुनिक है, ट्रॉल्लेप सम्पूर्णतया विक्टोरियन : दोनों का न केवल मुहावरा भिन्न है वरन् अनुभूति-क्षेत्र ही अलग-अलग है।

नये मूल्यों की खोज को लारेंस भावना के और काम-संबंधों के क्षेत्र में भी ले जाता है। उसके पात्र अभूतपूर्व है : उनमें हम उनकी चेतना से पृथक् उनकी संवेदनाओं का प्रवाह और आदान-प्रदान देखते हैं : चेतन भावनाओं और अचेतन संवेदनाओं के स्तर अलग-अलग हैं; दोनों में तीव्रता और प्रवाह है। लारेंस के पात्रों का भाव-जीवन उतना ही गतिमय है जितना हेनरी जेम्स के पात्रों का बुद्धि-जीवन : “जानना रक्त से होता है, केवल मन से नहीं”<sup>1</sup> डी. एच. लारेंस। दोनों में ऐन्द्रिय संवेदनाओं का वर्णन करने और उन्हें पाठक तक पहुँचाने की असाधारण क्षमता थी और दोनों में उपन्यास की पहुँच और गहराई को बढ़ाया।

जेम्स जॉयस अंशतः ही आधुनिक है। भाषा और मनोविज्ञान के क्षेत्र में उसके प्रतिमान आधुनिक है, किंतु उसकी नैतिक और सामाजिक मान्यताएँ कैथलिक हैं : इसी प्रकार एल्डस हक्सले और वर्जिनिया वूल्फ भी सम्पूर्णतया आधुनिक नहीं हैं, क्योंकि वे केवल कुछ ही क्षेत्रों में नये प्रतिमान खोजते या चाहते हैं, और ऐसे क्षेत्रों में पुराने प्रतिमानों को ही मानते चलते हैं। हक्सले ने प्रायः ऐसे समाज या काल का चित्रण किया है जिसमें कोई प्रतिमान ही नहीं है; कोई ऐसे आधार ही नहीं हैं जिन पर कर्म या आचार की कसौटी हो सके। ‘पाएंट काउंटरपाएंट’ में लारेंस के पथ की ओर थोड़ा-सा झुकाव है, किन्तु अनंतर हक्सले रहस्यवादी या आध्यात्मिक अन्वेषण की ओर झुक जाता है, जिसके प्रथम संकेत ‘दोज बैरन लीक्स’ में मिलते हैं और अधिक विकसित रूप ‘आइलेस इन गाजा’ में और ‘टाइम मस्ट हैव ए स्टॉप’ में। इस दृष्टि से हक्सले वास्तव में अर्ध-आधुनिक भी नहीं, छद्म आधुनिक ही है। नये मूल्यों की खोज ने जो अनेक दिशाएँ ग्रहण कीं। उनमें कुछ का संक्षेप में निरूपण कर देना अनुचित न होगा :

(क) धर्म और नीति के क्षेत्र में मानववाद, करुणा के आदर्श की पुनः प्रतिष्ठा।

(ख) सहज बोध बनाम बुद्धिमन के विरुद्ध ‘रक्त’ का सहारा।

(ग) समाज-संगठन के क्षेत्र में बूर्जुआ सामाजिक ढाँचे का तिरस्कार, घरानों और परिवारों के जीवन का विघटन

(घ) काम-संबंधों के क्षेत्र में सेक्स की नयी परिभाषा, जो उसे न निरा शरीर-संबंध मानती है, न केवल सामाजिक बंधन या व्रत, बल्कि एक ‘गतिशील-सम्पृक्त भाव’ (डाइनैमिक कम्प्यूनिकेशन)<sup>1</sup>।

2. आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों ने जो नयी समस्याएँ खड़ी कर दी हैं, उनके कारण जो अवस्था उत्पन्न हुई है, वह आधुनिक उपन्यास की दूसरी विशेषता है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को नयी दृष्टि दी है, पर उसके कारण हमारी मान्यताओं में और उनके आधारों में जो परिवर्तन आते हैं उन्हें हम पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सके हैं, जीवन और आचार में आत्मसात् करना तो दूर की बात है। ज्ञान और आचार की अवस्थाओं में यह विपर्यय अनेक समस्याएँ और संघर्ष उत्पन्न करता है जो आधुनिक जीवन का एक मूलभूत सत्य है और जिनका प्रभाव आधुनिक उपन्यासकार पर पड़ना अनिवार्य है।

माक्सवाद इन समस्याओं का निराकरण नहीं करता। यह जीवन का एक वैज्ञानिक जड़वादी आधार उपस्थित करना चाहता है, पर यह आधार अपर्याप्त है और इसलिए असह्य हो उठता है। यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक उपन्यासकार ने विज्ञान को जीवन का आधार मान

1. डी.एच. लारेंस ने कहा है : “मैन मस्ट वी सुप्रीम, अदरवाइज़ रिलेशनशिप इज़ फिलियल, दैट इज़, इट इज़ इनसेस्ट”

लिया है। निःसंदेह कई नये उपन्यासकार दावा करते हैं कि हमारी संवेदनाएँ बिल्कुल बदल गयी हैं। और उनका आधार संपूर्णतया वैज्ञानिक है, पर वास्तव में यह दावा निराधार है। यह तो ठीक है कि वे डी. एच. लारेंस से भिन्न है, पर कालाकार के रूप में वे कुठित है और अपनी मान्यताओं के ढाँचे के अंदर असंतोष और कुंठा का अनुभव भी करते रहते हैं। डी. एच. लारेंस का आमूल विद्रोह या नकारात्मक आग्रह उनका नहीं है, उसे वे भ्रांत मानते हैं; पर स्वयं शांति या स्थिरता पाने में वे असमर्थ हैं। काव्य में मायाकोवस्की, या उपन्यास में ऐरेनबुर्ग इसके अच्छे उदाहरण हैं : स्वयं अपनी मान्यता और अपने जीवन का अंतर्विरोध उन्हें बेचैन कर देता है, यह बेचैनी और उदभ्रांति उनकी रचना में अभिव्यक्त होती है। भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न यह उदभ्रांति क्या मार्क्सिस्ट लेखकों में और क्या अन्य लेखकों में आधुनिक उपन्यास की विशेषता है।

आधुनिक उपन्यासकार वर्तमान परिस्थिति या परिवेश को अस्वीकार करता है किंतु नये स्तर पर किसी परिवेश का स्वीकार या उसके साथ समन्वय की स्थापना नहीं कर पाया। इससे जो शून्य उत्पन्न होता है, वह आधुनिक उपन्यास का एक विशेष लक्षण है। आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, लेकिन उसका नयापन न तो विषय-वस्तु का नयापन है, न विधान का, न कथानक का, न रूपाकार का; वह मूलतः जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नयापन है। यद्यपि वस्तु, शैली, विधान, कथा आदि का नयापन उसमें हो सकता है और होता भी है, तथापि उसकी आधुनिकता की कसौटी वह नहीं है, कसौटी उसका नया दृष्टिकोण ही है।

3. समय या काल के प्रश्न को लेकर आधुनिक उपन्यासकार की व्यस्तता कदाचित् उसके विज्ञान-संबंधी ऊहापोह का ही एक पहलू है।

काव्य में टी.एस. एलियट और गद्य में वर्जिनिया वूल्फ बार-बार 'अतीत की वर्तमानता' की बात करते हैं; वर्जिनिया वूल्फ के लिए व्यक्ति का संपूर्ण जीवन ही 'अतीत की खोज' है।<sup>1</sup> उसका एक चरित्र-नायक ऑर्लेंडो तीन सौ वर्ष तक जीता है; एलिजाबेथ के युग में वह बच्चा है, तीस वर्ष की आयु में वह पोप के युग में प्रवेश करता है और सन् 1929 में अभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं हुआ है। किसी ने इसे 'आइन्स्टाइन के सिद्धांत का काव्यरूप' कहा है। एल्डस हक्सले भी काल के प्रश्न को लेकर व्यस्त है : इसके संकेत उसके प्रारंभिक उपन्यासों में भी मिलते हैं, और 'टाइम मस्ट हैव से स्टॉप' का शीर्षक (यद्यपि वह हैमलेट की उस उक्ति से लिया गया है) इस व्यस्तता को स्पष्ट प्रकट करता है।

किंतु यह आधुनिक उपन्यास का एक अपेक्षया कम महत्त्वपूर्ण पहलू है। वास्तव में उसकी वास्तविक कसौटी उसका दृष्टिकोण ही है : यही उसे पूर्ववर्ती उपन्यास से पृथक् करता है, और उसे समझने के लिए इसके ऐतिहासिक विकास और कारणों का समझना आवश्यक है। जैसा कि हम पहले कह आये, विक्टोरियन प्रवृत्तियाँ आधुनिक युग तक भी चली आती हैं, और आधुनिक प्रवृत्तियों के बीच पूर्ववर्ती युग में पाए जाते हैं; तथापि दोनों युगों का अंतर इतना स्पष्ट है कि उसके बाद में भूल हो नहीं सकती, और यह भी समझ में आ जाता है कि दृष्टिकोण के इस आमूल परिवर्तन के बाद फिर पीछे लौटना असंभव है, भले ही पाठकों को विक्टोरियन उपन्यास अधिक रोचक लगते रहेंजैसा कि वे निःसंदेह अनेकों को लगते हैं। यह परिवर्तन एक प्रौढ़ता का द्योतक है जिससे पीछे नहीं लौटा जा सकता। और किसी को क्यों लौटना चाहिए, इसका कारण कम-से-कम कोई आधुनिक तो नहीं सोच सकता।

(‘सर्जना और संदर्भ’ नामक पुस्तक से)

1. 'रेशर्शे दु तौं पेदूखोए हुए समय की खोज-मार्सेल प्रूस्त की उपन्यासमाला का शीर्षक है।

## आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

समकालीन साहित्य-विधाओं में उपन्यास शायद सबसे अधिक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। यह भी इसकी विशेषता का अंग है कि इसकी परिभाषा इतनी कठिन है। इतना ही नहीं, इसका उपयुक्त नाम भी नहीं है। 'उपन्यास' से केवल फैलाव की सूचना होती है, 'आख्यान' में बत-कही की ध्वनि मुख्य है। अंग्रेजी 'नॉवेल' (और उसी से उत्पन्न मराठी 'नवलिका') में नयेपन पर बल है। और 'फिक्शन' से मनगढ़ंत की ध्वनि होती है। ये सभी नाम न केवल अनुपयुक्त हैं बल्कि आधुनिक उपन्यासकार की भावना और प्रवृत्ति के प्रतिकूल भी जाते हैं।

किसी ने कहा है कि 'उपन्यास की सबसे अच्छी परिभाषा उपन्यास का इतिहास है।' इस उक्ति में गहरा सत्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो उपन्यास मानव के अपनी परिस्थितियों के साथ संबंध की भी अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता है। मानव का मानसिक विकास जैसे-जैसे इस संबंध की अभिव्यक्ति होती गयी है। इसलिए कहा जा सकता है कि उपन्यास में दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन का महत्त्व उपन्यास की परिभाषा में ही निहित है।

उपन्यास सबसे पहले कहानी के रूप में आरंभ हुआ वह घटनाओं अथवा कर्मों का वृत्तान्त था, जिन घटनाओं में परस्पर संबंध आवश्यक था। अर्थात् उपन्यास सबसे पहले इतिवृत्त था। लेकिन इतिवृत्त में भी घटना-वस्तु का चुनाव और आकलन आवश्यक होता है; और घटनाओं का परस्पर संबंध विभिन्न दृष्टियों से देखा जाने पर विभिन्न महत्त्व रख सकता है, इसलिए यहाँ भी इतिवृत्त-लेखक की दृष्टि महत्त्व रखती है।

दृष्टि का महत्त्व प्रत्येक साहित्य-विधा में है, लेकिन काव्य में इसकी अपेक्षा अधिक आसानी से स्वीकार कर लिया जाता है। क्योंकि काव्य स्पष्टतया एक 'सब्जेक्टिव' अभिव्यक्ति है। लेकिन उपन्यास-कला को अधिक वस्तुपरक (ऑब्जेक्टिव) माना जाता है; इसलिए औपन्यासिक की दृष्टि की प्रासंगिकता इतनी आसानी से स्वीकार नहीं कर ली जाती। लेकिन वास्तव में उपन्यास में भी दृष्टि का महत्त्व कम नहीं है।

उपन्यास में समाज की प्रगति का हर पहलू प्रतिबिंबित होता है। अभिजात या सामंतिक समाज का विघटन और आधुनिक युग का आरंभ, आधुनिक युग के आंतरिक संघर्ष की बढ़ती हुई तीव्रता और पूँजीवाद के विकास से संयुक्त परिवार-प्रथा का हास इत्यादि, सभी का प्रतिनिधित्व उपन्यास में मिलेगा। लेकिन उनके वर्णन में भी उपन्यासकार की दृष्टि क्रमशः व्यक्ति पर केन्द्रित होती गयी है। आरंभ में वृत्तांत में एक नायक होता था जिस पर या जिसके द्वारा घटनाएँ घटित होती थीं, लेकिन उपन्यासकार यहाँ से निरंतर बढ़ता हुआ नायक के व्यक्तित्व और चरित्र को प्रधानता देता गया और अंत में चरित-नायक व्यक्ति-प्रकार ('टाइप') होकर विशिष्ट व्यक्ति होने लगे। पुरानी घटनाओं के नायकों की भाँति आधुनिक उपन्यास के नायक को 'धीर', 'धीरोदात्त', या 'शांत' आदि वर्गों में रख देना पर्याप्त नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष और अद्वितीय चरित्र होता है।

व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष के अध्ययन ने चरित्र (मानव-चरित्र) के उपन्यासों को जन्म दिया। टॉमस हार्डी के उपन्यास व्यक्ति और परिस्थिति (या नियति) के संघर्ष के उपन्यास हैं। उनका संघर्ष विश्व-संघर्ष है, जिस अर्थ में ग्रीक दुःखांत नाटक का संघर्ष-विश्व संघर्ष। इस मूल संघर्ष के अलावा अनेक प्रकार के संघर्ष भी उभर कर हमारे सामने न आए होते तो उपन्यास का विकास यहीं तक आ कर रुक जाता। लेकिन समाज के भीतर वर्ग और वर्ग का संघर्ष, फिर वर्ग के भीतर कुल और कुल का, कुल में परिवार और परिवार का, और अंततोगत्वा परिवार के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति का संघर्ष इन सब पर टिक कर उपन्यास की दृष्टि विकसित होती रही और उपन्यास में सामाजिक वस्तु का अनुपात बढ़ता गया। इस विकास की चरम परिणति व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास में हुई। यहाँ 'व्यक्तित्व' के या व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास' और 'चरित्र के अथवा मानव-चरित्र के उपन्यास' का अंतर समझ लेना उचित होगा। मानव चरित्र और व्यक्ति-चरित्र में यह अंतर है कि मानव-चरित्र में केवल उस एक और अद्वितीय व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होता है जिसे हम दूसरे मानवों से पृथक् करके उसकी मानवता को परिस्थिति के परिपार्श्व में देखते हैं; दूसरे में हम एक व्यक्ति मानव को इतर मानव-व्यक्तियों से पृथक् करके उसके व्यक्तित्व को मानव-समाज के परिपार्श्व में देखते हैं।

उपन्यास का यह विकास डार्विन और मार्क्स के आविर्भाव और प्रचार के साथ-साथ हुआ। नये वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान ने उपन्यास की दृष्टि बदल दी। उसका लिखना ही बदल गया क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गयी। उसके बाद एक बहुत बड़ा परिवर्तन फ्रायड के साथ आया। उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति-मानव और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रकाश डाला। इससे उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका। चेतना-प्रवाह ('स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस') अथवा स्वगत-भाषण ('इंटर्नल मोनोलाग') के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं। और आधुनिक उपन्यास में मानसिक संघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्त्व रखता है।

मानव-चरित्र से व्यक्ति-चरित्र की ओर बढ़कर भी उपन्यास रुक नहीं गया है; आधुनिक सामाजिक परिस्थिति में यह प्रश्न भी अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता है कि मानव-व्यक्ति का व्यष्टि-रूप में क्या स्थान है वह सामाजिक इकाई के रूप में बचा भी है और बचा रह भी सकता है या नहीं? यह प्रश्न व्यक्ति के भीतर के संघर्ष के नये आयाम हमारे सामने लाता है। संघर्ष की चरम परिणतियों के चित्रण में स्वाभाविक है कि विघटन के चित्र भी आएँ, न केवल खंडित व्यक्तित्वों के बल्कि ऐसी इकाइयों के भी जिनका अपने इकाई होने में विश्वास



भी डगमगा गया हो। व्यक्तित्व की, अस्तित्व की, अपनेपन की, 'आईडेंटिटी' की खोज की पुकार इसी का मुखर रूप है।

उपन्यासकार की दृष्टि की गहराई और उसकी परिकल्पना के साथ-साथ स्वाभाविक था कि 'संघर्ष' अथवा 'घटना' की उसकी परिकल्पना भी बदल जाये। और संघर्ष क्या है, अथवा घटना किसे कहते हैं, इसकी नयी परिभाषा के साथ संघर्ष के चित्रण और घटना के वर्णन का रूप भी बिल्कुल बदल गया। बाह्य परिस्थिति से संघर्षमानव और नियति का संघर्ष इतना महत्त्वपूर्ण न रहा, क्योंकि व्यक्ति-मानस स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और वह तनाव ही संघर्ष है। व्यक्ति-मानस बनाम परिस्थिति, इस विरोध का कोई अर्थ नहीं रहा क्योंकि **मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया**। इसी प्रकार बाह्य घटना का इतना महत्त्व नहीं रहा क्योंकि जिस प्रकार संघर्ष भीतर-ही-भीतर उभरता और निर्वासित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर-ही-भीतर घटना भी घटित होती रहती और रह सकती है।

इस प्रकार कलाकार की दृष्टि का विकास क्रमशः जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण का महत्त्व बढ़ता चलता है। और विकास के साथ-साथ उपन्यास भी उत्तरोत्तर अधिक स्पष्टता से दृष्टिकोण का उपन्यास होता जाता है। उपन्यास का रूपाकार के परिवर्तन भी इसी से सम्बद्ध है। आधुनिक उपन्यास स्पष्ट रूपाकार और वर्णन, घटना-वृत्तांत की स्पष्टता और सहजता को खो रहा है; उसमें वक्रता और व्यंजना बढ़ती जाती है और उसका रूपाकार भी धुँधला और उलझा हुआ होता जा रहा है।

इस नयी दृष्टि अथवा दृष्टिकोण के महत्त्व का एक उदाहरण आधुनिक उपन्यास में काम-जीवन अथवा सेक्स का वर्णन है। आधुनिक उपन्यास में सेक्स पहले से अधिक महत्त्व भी रखता है और कम भी। अधिक इसलिए कि अब हम पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह उसके प्रभाव की गहराई और विस्तार को समझते हैं और यह भी जानते हैं कि आधुनिक युग में काम-जीवन का असामंजस्य और विषमता आधुनिक समाज में बहुत दूर तक फैला हुआ एक रोग है। उन्नीसवीं शती से पहले न तो उपन्यासकार यह बात अच्छी तरह जानता था कि काम-प्रेरणायें न केवल स्त्री-पुरुषों की दैहिक प्रवृत्तियों से संबंध रखती हैं बल्कि उनके सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित करती हैं और उनकी धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक और कला-संबंधी मान्यताओं और विश्वासों का रूप निश्चित करती है; न वह यही जानता या मानता था कि समकालीन सामाजिक परिस्थिति में काम-संबंधों में कितनी विषमता आ गयी है। प्राचीन काल में राजकुमार और राजकुमारी का मिलन और प्रेम होता था, फिर विवाह हो जाता था और वे शेष जीवन सुख से काट देते थे। आज ऐसा लगभग कभी नहीं होता और दाम्पत्य जीवन अगर सुखी होता है तो बड़ी साधना और परस्पर समझौते के आधार पर ही होता है। इन सब कारणों का ज्ञान होने से आधुनिक उपन्यासकार की दृष्टि में सेक्स का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। दूसरी ओर नयी परिस्थितियों में उसका महत्त्व कम भी हो गया है क्योंकि उसका अस्तित्व सहज भाव से स्वीकार किया जा रहा है; साथ ही काम-जीवन में 'पवित्रता' का वह अर्थ या महत्त्व नहीं रहा जो पहले था। आज का उपन्यासकार (या साधारण समाज) यह नहीं मानता की दाम्पत्य जीवन के सुखी होने के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि पुरुष और स्त्री को इससे पहले कोई कामज अनुभूति न हुई हो या वे वासना से अपरिचित रहे हों। बल्कि कोई पूर्वग्रह लेकर वह चलता है तो इससे उलटा ही। न आज विवाह-पूर्व ऐसी अनुभूति या संसर्ग जीवन का अभिशाप बन जाता है, जैसा कि पश्चिम में उन्नीसवीं शती के उत्तराकाल तक होता थाटॉमस हार्डी की 'टेस' जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

भारतीय साहित्य में पहले महायुद्ध के समय तक होता था। आज यह माना जाता है कि स्त्री एक बार भूल करके भी संभल सकती है, नागरिक जीवन में स्थान पा सकती है, समाज की उपयोगी सदस्य हो सकती है और जीवन के साथ काम-चलाऊ समझौता करके सुखी भी हो सकती है। आज पहले की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति बहुत अधिक हैं जिन्हें सेक्स-जीवन में विषमता हो; लेकिन अपेक्षया बहुत कम जिनका जीवन सेक्स के कारण नष्ट हो जाता है। इसका कारण सेक्स संबंध में समाज का नया दृष्टिकोण है, और आधुनिक उपन्यास में यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

अभी तक हम दृष्टिकोण के महत्त्व की बात करते आए हैं लेकिन दृष्टिकोण की एक समस्या भी खड़ी हो जाती है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण आत्म-रक्षा की एक शर्त बन जा सकता है हमारी अस्तित्व रक्षा हो सकती है या नहीं, इसका उत्तर इसी पर निर्भर कर सकता है कि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है। पश्चिम की सभी सभ्यताओं का विकास अंततोगत्वा इसी प्रश्न पर आकर अटका है, और आधुनिक (पाश्चात्य) सभ्यता के सामने भी आज यही प्रश्न है; जीवन को हम कैसे देखें कि उसका दबाव हम सह सकें; जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या हो, जिससे हम आज की कठिनाइयों के बावजूद अपना अस्तित्व बनाए रह सकें? यह प्रश्न नया तो नहीं है और प्रत्येक सभ्यता एक प्रकार से इसी प्रश्न का संगठित और सामूहिक उत्तर होती है; लेकिन इस समस्या का पूरा दबाव, इसी की पूरी तीव्रता आधुनिक युग का व्यक्ति ही समझ सकता है। इसका कारण केवल यही नहीं है कि इसकी सबसे नयी और आशावादी सभ्यता की पूर्ववर्ती सभ्यताओं की तरह एक प्रश्न-विराम के सामने आ खड़ी हुई है। एक कारण यह भी है कि वैज्ञानिक विश्वस्तता और स्पष्टता की ओर इधर जो वेगवती प्रगति हो रही और जिससे उसे आशा हो चली थी कि वह जीवन के सत्य को हस्तगत कर लेगी, वह प्रगति भी मानों रुद्ध हो गयी है और अनुसंधान एक सूनी दीवार से टकरा कर रह गया है। सापेक्षवाद की चोट ने यों ही हमारी बुद्धि को ही धक्का पहुँचाया और हमारी वैचारिक भूमि को कँपा दिया, लेकिन हमारे भौतिक सामाजिक जीवन की जड़ों को भी उसने बुरी तरह हिला दिया। मानव अभी नये वैज्ञानिक यथार्थ को सही ढंग से स्वीकार नहीं कर सका है और नये वैज्ञानिक अनिश्चय को सम्पूर्णतया अपना सका है नये वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर अपने विश्वास और मान्यताओं का पुनः परीक्षण और समन्वय वह अभी नहीं कर सका है। परिस्थिति इसलिए और भी शोचनीय है कि बहुत-से लोग अब मानने लगे हैं कि किसी भी वस्तु में विश्वास करना या किसी भी विश्वास से आशा केंद्रित करना विपज्जनक है। दूध कर जला छाछ फूँक कर पीता है, पुरानी निश्चयात्मकता खोकर मानव सभी चीजों के बारे में शंकित हो उठे तो क्या आश्चर्य? इस प्रकार एक ओर निश्चयात्मकता की माँग सबसे अधिक प्रबल है, (विश्वासों का होना ही पर्याप्त नहीं है, विश्वास भी होना चाहिए)।<sup>1</sup> तो दूसरी ओर भूतपूर्व निश्चयात्मकता और विश्वास से निराश भी चरम बिंदु पर है (मैं समुझे झुलसे अतीत से मुँह मोड़ लेना चाहता हूँ।<sup>2</sup> काश कि समय की दिशा में कोई नयी आँधी उठे और मुझे बहा ले जाए!)<sup>3</sup>

1. 'इट इज नॉट एनफ टुहैव कनविकशन, वन मस्ट आल्सो हैव कनविकशन।'

ए.एस.एम. हचिनसन, 'इफ विन्टर कम्स'

2. 'आइ वान्ट टु टर्न माइ बैक ऑन द होल ब्लॉस्टेड पास्ट।'

डी.एच. लारेंस

3. ओ फॉर ए विड टु ब्लो इन वि डायरेक्शन ऑफ टाइम एंड कैरी मी अवे।'

डी.एच. लारेंस

इस अनिश्चय, उलझन और अव्यवस्था में, जिसे एक व्यक्ति के भीतर अनेक या बहुमुखी व्यक्तित्व का उभार और भी जटिल बना देता है, अस्तित्व-रक्षा का एक-मात्र साधन जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही हो जाता है। वह दृष्टिकोण क्या हो, उसके बारे में अनेक मत हैं। एक मत यह भी है कि दृष्टिकोण क्या है, इसका महत्त्व उतना नहीं है जितना इसका कि दृष्टिकोण है, क्योंकि दृष्टिकोण होना ही सूचित करता है कि उपन्यासकार एक ऐसे सुविधापूर्ण स्थल पर है जहाँ से वह विश्व की व्यापक अव्यवस्था के परिदृश्य का अवलोकन कर सकता है।

इस नये युग की इस नयी अवस्थिति का वाहन, उसकी अभिव्यंजना का माध्यम उपन्यास ही क्यों है, कविता, नाटक या निरे दार्शनिक प्रबंध क्यों नहीं? क्योंकि परिस्थितियों के आधुनिक निरूपण का एक अंग यह भी है कि इस स्थिति को जीवित विस्तार में (इन द फील्ड) ही दिखना चाहिए। ये सब समस्याएँ और परिस्थितियाँ किस प्रकार जीवन-व्यापार को प्रभावित या निरूपित करती हैं, इसी का अध्ययन होना है और जीवन-व्यापार तो उपन्यास का विषय है ही। उपन्यास साहित्याभिव्यंजना का सर्वश्रेष्ठ आधुनिक माध्यम है। क्योंकि एक मिश्रित या संगठित माध्यम है तो काव्य की भाँति 'शुद्ध' और न नाटक की भाँति सीमित। कवि मूलतः अपने लिए लिखता है, नाटककार मूलतः सामाजिक या दर्शक के लिए। लेकिन उपन्यासकार एक साथ ही कलाभिव्यंजना के कई स्तरों पर विचरण कर सकता है। वह एक साथ ही सबके लिए लिख सकता है: जन-साधारण के लिए ('अमुक घटित हुआ या हो रहा है'), दूसरे लेखकों के लिए ('अमुक विषय-वस्तु को मैंने तो ऐसे ही लिया है, आप क्या करते, या शेक्सपियर का तुर्गनिव क्या करता?') या स्वयं अपने लिए ('हाँ यह तो दृष्टिकोण हुआ, समस्या का हल क्या है?') एक साथ कई स्तरों पर अभिव्यक्ति आधुनिक उपन्यास का एक लक्षण है। आन्द्रे जीद का 'जालसाज' (ले फो मॉनेयसी) इस प्रकार के उपन्यास का बहुत रोचक उदाहरण है। रूप-विधान की दृष्टि से यह इधर की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों में स्थान रखता है। एक साहित्यिक माध्यम के रूप में उपन्यास जो विशिष्ट और अद्वितीय अवसर देता है, उसका इसमें भरपूर उपयोग किया गया है। एल्डस हक्सले, जॉन डोस पैसोस, चार्ल्स मॉर्गन-पश्चिमी साहित्यों से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। एक साथ एकाधिक स्तर पर अभिव्यंजना और दो-तीन अलग-अलग कालों के निर्वाह के हिंदी से एक उदाहरण के रूप में 'शेखर' का नाम लिया जा सकता है। उपन्यास की अच्छाई-बुराई का प्रश्न यहाँ प्रश्न नहीं है, केवल रूप-विधान के एक आधुनिक प्रयोग की बात हो रही है।

यह कदाचित् 'दृष्टिकोण' और 'ढंग' में भेद करना उचित होगा। ऑस्कर वाइल्ड का एक ढंग (पोज) था जिसे जीवन के प्रति दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। कहा जा सकता है कि एक ढंग एक 'बनावटी दृष्टिकोण' होता है। और उपन्यासकार उसे तभी ग्रहण करता है जब वह जीवन को सतही नजर से देखकर उसे लुभावने रूप में प्रस्तुत करके संतुष्ट हो जाने वाला हो। लेकिन आधुनिक उपन्यासकार वास्तविक जगत से कहीं अधिक गहरा सम्पर्क रखता है। उसके लिए दृष्टिकोण मनोरंजन या रोचकता का साधन नहीं बल्कि जीने के लिए एक व्यावहारिक दार्शनिक आधार है। जीवन के लिए ऐसा आधार खोजने को वह एक समस्या और कर्तव्य के रूप में लेता है और गंभीरतापूर्वक उस समस्या और कर्तव्य का सामना करता है। यही उसकी आधुनिक कसौटी है।

(‘सर्जना और संदर्भ’ नामक पुस्तक से)

## उपन्यास की भारतीय विधा

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

साहित्य के 'राष्ट्रीय' रूप में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। क्यों हो? राष्ट्रीयतापरक साहित्य हो सकता है, विभिन्न समयों पर उसकी जरूरत भी हो सकती है और यह भी हो सकता है कि समूचे देश समाज की मुख्य संवेदना का प्रतिबिम्बन और वहन करते हुए साहित्य राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्रणित हो। जिस देश-समाज में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो, जो राष्ट्रत्व के लिए छटपटा रहा हो, उसका साहित्य इस अकुलाहट को व्यक्त करें, इससे अधिक स्वाभाविक क्या होगा? पर क्या वैसा होने से ही हम कह सकेंगे कि वह राष्ट्रीय साहित्य है?

भारतीय साहित्यहाँ! क्योंकि वह एक भारतीय संवेदना का वाहक हो सकता है ऐसी संवेदना, जिसके मूल में जैसे मूल्य हैं जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास और अनुभव की उपलब्धियाँ हैं, ऐसी संवेदना, जिसकी अभिव्यक्ति मिलने पर हर भारतीय अनुभव करेगा कि उसी को अभिव्यक्ति मिलती है।

साहित्य-विधाएँ : क्या उनके साथ ही हम देशवाची विशेषण लगा सकते हैं? इस अर्थ में क्या 'भारतीय उपन्यास' की बात कर सकते हैं?

प्रश्न पूछता हूँ और सोचने के लिए रुक जाता हूँ।

भारतीय भाषाओं के बहुत से उपन्यासों का अध्ययन-विश्लेषण करके हम कुछ सामान्य धारणाएँ उनके गुण-दोष या विशिष्ट प्रवृत्तियों के बारे में बना लें और कहें कि अमुक-अमुक बातें भारतीय उपन्यास में पाई जाती हैं या इसी बात को उलट कर कहें कि जिस उपन्यास में अमुक-अमुक हों वह भारतीय उपन्यास है तो वह कहना संगत हो सकता है, उससे भारतीय उपन्यास के अध्ययन के लिए कुछ प्रकाश भी मिल सकता है।

पर यह कहने में कि 'भारतीय उपन्यास' नाम सार्थक हो सकता है, और यह कहने में कि उपन्यास-विधा में एक विशेष रूप-संघटना है जिसे भारतीय उपन्यास-रूप कहा जा सकता है, काफी अंतर है। विधा और रूप में भेद करना चाहिए : रूपाकार के साथ कोई देश अथवा

जाति-वाचक विशेषण लग सकता है या नहीं यह सोचने की बात है अगर रूपाकार एक सौंदर्य-तत्त्व है तो उसे राष्ट्रीयता का अतिक्रमण करना चाहिए अतिराष्ट्रीय होना चाहिए। किसी कृति-उपन्यास-कृतिमें या तो रूपाकार है या नहीं; जातिवाचक विशेषण से वह कलावस्तु नहीं बन जाएगी और अगर कला-कृति है तो ऐसे बिल्ले की उसे जरूरत क्या है?

शैलियाँ, पद्धतियाँ, शिल्प, तन्त्र-रूपाकार को रूपायित और रूप बोध का सम्प्रेषण करने के लिए इनके विभेद हो सकते हैं, पर तन्त्र स्वयं रूपाकार नहीं है।

तन्त्र के साथ भी विशेषण की क्या आवश्यकता है, क्या किसी आत्यन्तिक महत्त्व है? केवल ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से उसकी सार्थकता या प्रयोजनीयता हो सकती है, कोई विशेष तंत्र किसी विशेष देश-काल की उपज हो सकता है, किसी युग या समाज विशेष की संवेदना का वहन करने का विशेष सामर्थ्य रख सकता है।

भारतीय उपन्यास की चर्चा इसी संदर्भ में सार्थक हो सकती है।

उपन्यास मूलतः एक कालबद्ध रचना है। काल में घटित का ही रूपयुक्त वृत्तान्त उपन्यास है। इसलिए अगर काल-बोध भिन्न है तो उपन्यास का रूप भी भिन्न होगा : अगर उपन्यास-रूप विशिष्ट है तो काल-बोध भी विशिष्ट होगा।

इस परिप्रेक्ष्य में आख्यान का अगर कोई विशिष्ट रूपाकार है जिसे भारतीय प्रतिभा का अनन्य उपज माना जा सके तो वह शृंखलाबद्ध कथा या कहानी के भीतर कहानी ही है। हितोपदेश-पंचतन्त्र इसके प्राक्तन रूप हैं। कथा-सरित्सागर, इसप की कहानियाँ, अलिफ लैला, बैताल-पचीसी और सिंहासन बत्तीसी, डेकामेरोन और तोता मैना उसी शृंखला की कड़ियाँ हैं। सम्बद्ध वृत्तों-दृष्टान्तों के द्वारा ठोस व्यावहारिक ज्ञान-दर्शन की परंपरा के रक्षण, प्रचार और प्रसार की ऐसी कथाएँ तो सारे संसार में मिलती हैं, पर यह मानना संगत है कि एक सुष्ठु और परिपक्व, परिमार्जित साहित्यिक विधा के रूप में इसका विकास विशिष्टतः भारतीय है। मैं समझता हूँ कि आख्यान या उपन्यास-साहित्य में किसी रूपाकार को हम वास्तव में भारतीय कह सकते हैं तो वह यही है।

आधुनिक उपन्यास वास्तव में पश्चिमी उपन्यास है। हर भारतीय भाषा में उपन्यास का आविर्भाव पश्चिम के सम्पर्क का परिणाम है और इस बात को आगे तक बढ़ाकर भी कह सकते हैं। आधुनिक काल भी पश्चिमी काल है। ऐतिहासिक काल के साथ ऐतिहासिक उपन्यास का विकास हुआ, फिर कालबोध के खंडित, कालाणुपरक, निर्वैयक्तिक होने के साथ-साथ उपन्यास में भी वही चीज प्रकट हुई : खंडित बोध के, क्षण-गत जीवन के निर्व्यक्तिक, 'अनुभूति' के उपन्यास अत्याधुनिक (पश्चिमी) काल-बोध के साथ अनिवार्यतः बंधे हैं।

यह दूसरी बात है कि पश्चिम से जो हमने पाया है, उसमें हम दोबारा ऐसे भी तत्त्व पहचानें जो हमारे अपने थे : जो हमने दिये पर, मूर्ख दाता होने के कारण, देने में गँवा दिये; देकर संपन्नतर नहीं हुए।

शृंखलित कथा की जड़ें दो हैं।

पहली तो यह है कि वह व्यवहार और व्यावहारिक ज्ञान की भूमि लोक-जीवन में खोजती और पाती है : उस ठोस, 'सयाने' सफलतापरक (प्रैग्मैटिक) चलती-का-नाम गाड़ी कोटि के व्यावहारिक ज्ञान की, जिसके सहारे हमारा दैनन्दिन जीवन चलता रहता है उस समय भी जब हम उच्चतर क्षेत्रों के सपने देख रहे होते हैं या गहनतर विषयों की थाह ले रहे होते हैं।

दूसरी यह है कि उसका काल-बोध पश्चिम से न केवल पृथक् है बल्कि अभी कुछ काल पहले तक पश्चिम के लिए दुर्बोध और अगम्य रहा है। पश्चिमी नाटकीय संदर्भ की काल की

एकता का भारतीय संदर्भ में कोई अर्थ नहीं रहा, क्योंकि भारतीय दृष्टि में सब काल सहवर्ती हो सकते थे।

पश्चिमी शार्ट-स्टोरी और भारतीय कथा में ये दो अलग-अलग कालबोध प्रतिबिम्बित और परिलक्षित होते हैं; उसका काल-बोध ऐतिहासिक, ऋजुरेखानुसारी, अप्रत्यावर्त्य है। 'हो चुके' पर 'हो रहा' वरीयता पाता है, और हर घटना का एक अंत होता है, परिणति होती है, भारतीय कथाकार या किस्सागो इत्मीनान में है, मजे-मजे चलता है, उसकी दृष्टि संग्राहक है; उसका काल-बोध सांस्कृतिक और वृत्तानुसारी है। उसमें आना और जाना तो है, पर अन्त या चुक जाना नहीं है। जो हो चुका है, वह घटित के नाते ही निरंतर घटमान है। न कोई आदि है, न अन्त है।

मैं तो भारतीय लेखक हूँ न? न्यूनाधिक भारतीयजैसा कि मेरा देश ही न्यूनाधिक भारत है! और मैं न्यूनाधिक आधुनिक लेखक भी हूँजिसका अभिप्राय यह है कि मैं उन नाना प्रभावों के प्रति खुला हूँ जो राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए आते हैं।

इस प्रकार मैं आधुनिक विधाओं में रचना करता हूँ, पर उसी रूप में जिस में एक भारतीय वैसा कर सकता है।

तो मैं कह सकता हूँ कि मेरा काल-बोध भी दोहरा हैबल्कि दोहरे से कुछ अधिक, क्योंकि मैं दो प्रकार का काल-बोध स्वीकार करके उनका परस्पर विरोध निराकृत करना चाहता हूँ।

इस विशेष परिस्थिति का भी प्रतिबिम्ब आज भारत के उपन्यास में हो सकता है : उसके लिए विशिष्ट तन्त्र का आविष्कार या विकास हो सकता है। होगा, तो जिस सीमा तक होगा या जिस मात्रा में होगा उसी में या उसी तक हम एक भारतीय रूपाकार की बात कर सकेंगे। पर वैसा करके भी हम उसे किसी दूसरे राष्ट्रीय या जातीय रूपाकार की प्रतिस्पर्द्धा में नहीं रखेंगेयही कहना होगा कि वह उपन्यास मात्र को एक देन है : उपन्यास मात्र की श्रीवृद्धि उससे होती है।

(‘सर्जना और संदर्भ’ नामक पुस्तक से)

## हिंदी-उपन्यास

---

नगेन्द्र

कुछ दिनों से हिंदी उपन्यास पर एक लेख लिखने का भार मन पर झूल रहा था। कल रात को उसी की रूपरेखा बना रहा था। कभी प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण की बात सोचता, कभी समस्याओं के, और कभी टेकनीक के आधार पर। रूपरेखा कुछ बनती भी थी। परंतु परसों शाम ही को सुना हुआ जैनंद्र जी का यह वाक्य गूँज उठता था कि तुम लोग, यानी पेशेवर आलोचक (और उनका यह विशेषण मुझ जैसे लोगों को ही नहीं, आचार्य शुक्ल, डॉक्टर ब्रैडले जैसे आलोचकों को भी आलिंगन-पाश में बाँधने के लिए अपनी विशाल बाँहें फैलाये हुए था।) लेखकों की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उस पर अपना ही मत थोपते रहते हों अंत में मेरे मन में एक बात आयी : क्यों न एक मूलग्राही प्रश्नावली द्वारा उपन्यासकारों से मिलकर अपने-अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में उन सभी के दृष्टिकोण जान लूँ, और फिर उन्हें ही मनोविश्लेषण के आधार पर संश्लिष्ट कर एक मौखिक लेख तैयार कर लूँ? यह विचार कुछ और आगे बढ़ता हुआ परंतु एक समस्या आकर खड़ी हो गयी कि यह सब इतनी जल्दी कैसे हो सकता है और फिर हिंदी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकारों से मिलने के लिए तो इहलोक ही नहीं परलोक की भी यात्रा करनी पड़ेगी। लेख की मौलिकता, उसके द्वारा हिंदी आलोचना में एक नयी दिशा प्रशस्त करने का लोभ अथवा और कुछ भी कम-से-कम इस दूसरे उपाय का प्रयोग करने के लिए मुझे राजी न कर सका। अंत में मानसिक श्रम से थककर मैं सो गया।

रात को मैंने देखा कि एक बृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन तो नहीं, क्योंकि उसमें इस प्रकार के नगण्य विषयों के विवेचन का लोगों को कम ही अवसर मिलता है। पर कुछ भी हो, मैंने देखा, उसी समारोह के अंतर्गत उपन्यास अंग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है, जिसमें हिंदी के लगभग सभी उपन्यासकार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्तव्य-कर्म

के विषय में यहाँ तक तो सभी सहमत हो गये कि जो साहित्य का कर्तव्य-कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत देवकीनंदन खत्री का इस विषय में मतभेद था, परंतु जब 'व्याख्या' के साथ 'आनंदमयी' विशेषण जोड़ दिया तो वे भी सहमत हो गये। स्वरूप पर काफी विवाद चला। अंत में मेरे ही समवयस्क-से एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्धि भी नहीं होगी। हिंदी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं, अच्छा तो यदि वे एक-एक करके बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट करते चले। उपन्यास के स्वरूप और हिंदी-उपन्यास के विवेचन का इससे सुंदर ढंग और क्या हो सकता है। प्रस्ताव काफी सुलझा हुआ था। फलतः सभी ने मुक्त कंठ से उसे स्वीकार कर लिया। विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाए रखने के विचार से उन्हीं सज्जन ने तत्काल एकप्रश्नावली भी पेश कर दी, जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाये। उसमें केवल तीन प्रश्न थे :

1. आपके मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है?
2. आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं?
3. अपने उद्देश्य में आपको कहीं तक सिद्धि मिली है?

यह प्रश्नावली भी तुरंत स्वीकृत हो गयी और प्रस्तावकर्ता से कह दिया गया कि आप ही कृपा करके इस कार्यवाही को गति दीजिए। अस्तु!

सबसे पहले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद जी से शुरू किया जाता। लेकिन प्रेमचंद जी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहा "नहीं, नहीं, मुझसे पहले मेरे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनंदन खत्री से प्रार्थना करनी चाहिए। देवकीनंदन जी हिंदी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं।" प्रेमचंद जी के आग्रह पर एक सामान्य-सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं, धीरे से खड़ा हुआ और कहने लगा "भाई, आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है, तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, यह हमारे ध्यान में नहीं आता था। मैंने स्वदेश-विदेश की विचित्र कथाएँ बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं और उनको पढ़कर मेरे दिल में यह आया था कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरंजन करके यश-लाभ करूँ। इसीलिए मैंने 'चंद्रकांता-संतति' लिख डाली। अद्भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजना भर सके। बस, वे साहित्य में उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत् रहस्यों का भंडार है, परंतु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कुतूहल जैसे इस तिलिस्म के द्वार से टकराकर लौट आता है और उसे यह इच्छा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों माँगें पूरी करते हैं—उसके मंद जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसकी कुतूहल-वृत्ति की तृप्ति करते हैं। इसलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं—असंख्य पाठकों को उनसे जो कहना चाहते थे मिला इससे बढ़कर उनकी या मेरी सिद्धि और क्या हो सकती है? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिंता भी नहीं की परंतु मनोरंजन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।"

इसके उपरांत मुंशी प्रेमचंद बिना किसी तकल्लुफ के आप-ही-आप खड़े हो गये और निहायत ही सादगी और सच्चाई से कहने लगे "भाई, सवाल तुम्हारे कुछ मुश्किल हैं। उपन्यास



के स्वरूप या अपने उपन्यास-साहित्य का तात्त्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नहीं कर पाऊँगा; पर मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। मानव-चरित्र कोई स्वतः संपूर्ण तथ्य नहीं है, वह वातावरण सापेक्ष है, इसलिए उस पर वातावरण अर्थात् आज की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन 'व्याख्या' शब्द को जरा और साफ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ स्वरूप, कार्य-कारण वगैरह का विश्लेषण करके उसके भिन्न-भिन्न तत्त्वों को अलग-अलग सामने रख देना नहीं, क्योंकि वह भी उस विशेषण में से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकालकर ही संतुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या तो इससे बहुत अधिक है वह तो निर्माण की अनुवर्तिका है। मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नहीं है, शुद्ध उपयोगितावादी है। यानी मैं मानता हूँ कि उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह परिस्थितियों के बीच में रखकर मानव-चरित्र का विश्लेषण करके यह समझ ले कि वहाँ क्या गड़बड़ है, और फिर क्रमशः उस अवस्था तक ले जाये जहाँ मैं स्वप्नलोक या स्वर्गलोक की सृष्टि की बात नहीं करता वहाँ तो वास्तव का आँचल ही आपके हाथ में से छूट जाता है। आज की भौतिक वास्तविकताओं में घिरे हुए मानव-चरित्र का निर्माण इस प्रकार नहीं होगा। परिस्थिति के अनुकूल उसका एक ही मार्ग है और वह है आज के यथार्थ में से ही आदर्श के तत्त्वों को ढूँढकर उसका निर्माण करना। मैं इसी भावना से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हूँ। मेरे उपन्यास कहाँ तक आज के मानव को आत्म-परिष्कार के प्रति, यानी परिस्थितियों के प्रकाश में अपनी खामियों को समझकर उनको दूर करने के लिए जागरूक कर सके हैं, यह मैं नहीं जानता। पर मेरी सिद्धि इसी के अनुपात से माननी चाहिए। मेरा उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है वह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का..(सहसा बाबू देवकीनंदन खत्री की ओर देखकर एकदम शर्म से लाल होकर फिर ठहाका मारकर हँसते हुए) आशा है आप मेरा मतलब गलत नहीं समझ रहे हैं।”

प्रेमचंद जी के बाद कौशिक जी खड़े हुए। मुझे अच्छी तरह याद नहीं उन्होंने क्या कहा, पर शायद उन्होंने प्रेमचन्दजी की ही बात को दुहराया।

अब प्रसादजी से प्रार्थना की गयी। पहले तो वे राजी नहीं हुए। परंतु जब लोगों ने विशेष अनुरोध किया तो वे शांत-संयत मुद्रा में खड़े हुए और कहने लगे “हिंदी के आलोचकों ने मेरी कविता और नाटकों को रोमांटिक आदर्शवाद की कक्षा में रखा है। और मेरे उपन्यासों को यथार्थवाद की कक्षा में। मैं नहीं कह सकता कि मूलतः मेरे साहित्य के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा खींची जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि मुझे कविता-नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ को आँकना सरल प्रतीत होता है। कारण केवल यही है कि वह अपेक्षाकृत सीधा माध्यम है। आज धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषमताओं के कारण जीवन में जो गहरी गुत्थियाँ पड़ गयी हैं, उनसे मैं निरपेक्ष होकर पलायन नहीं कर सकता आह, यदि यह संभव होता! परंतु प्रेमचंद जी की तरह सामूहिक बहिर्मुखी प्रयत्नों में मुझे उनका समाधान सरलता से नहीं मिलता। जिन संस्थाओं पर समाज बालक की तरह आश्रय के लिए झुकता है वे अंदर से कितनी कच्चे और घुनी हुई हैं? प्रवृत्ति की धक्के को भी संभालने का उनमें बल है? मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्थाओं का यह नया व्यसन जीवन का किसी भी प्रकार भी गतिरोध कर सकेगा। ऐसा क्या है, जिसके नाम पर प्रवृत्ति को झुठलाया नहीं जाये? और प्रवृत्ति भी क्या सत्य है? यही आज के जीवन का दर्शन है और इसकी पूरी चेतना के साथ अनुभव कर रहा हूँ। यह आपको मेरे संपूर्ण साहित्य में मिलेगा उपन्यास में प्रतीकों के अधिक परिचित होने के कारण यह शायद अधिक मुखर हो गया है।”

इसके बाद बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के नाम से एक सज्जन, जिनके सिर पर शोभित फैल्ट कैंप उनके परंपरा-प्रेम की दुहाई दे रही थी, उठ खड़े हुए और बोले“भई, उपन्यास को मैं उपन्यास की समझता हूँ, और बुंदेलखंड के ये ही नदी-नाले, झीलें और पर्वतवेष्टित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं। इसलिए मुझको हिस्टोरिकल रोमांस पसंद है। अन्य कारण जानकर क्या करियेगा। इसी रोमांटिक वातावरण में बाल्यकाल से मैं अपनी आँखों से चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खंडहर देखता आया हूँ, और अपने कानों से मैंने उनकी विस्मय-गाथायें सुनी हैं। अतएव स्वभाव से ही मैं आप-से-आप कल्पना के द्वारा उन दोनों को जोड़ने लगा। वे कहानियाँ इन खंडहरों में जीवन का स्पंदन भरने लगीं, और ये खंडहर उन कहानियों में जीवन की वास्तविकता। मैं उपन्यास लिखने लगा। मेरे पास उपन्यास आदि उस गौरव-इतिहास को अपने मन में जगा पाते हैं तो वे सफल ही हैं।”

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे एक हष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लंबे-लंबे बाल, अधनंगा शरीर एक अजीब फक्कड़पन का परिचय दे रहे थे बीच-बीच में काफी चुनौती भरे स्वर में फिकरे कसकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिंदी के निर्दंड कलाकार उग्र जी हैं। वृन्दावनलाल जी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे प्रार्थना करने ही वाले थे कि आप ही उठ खड़े हुए और बोले“ये लोग तो सभी मुर्दा हो गए हैं। जिसमें जोश ही नहीं रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा? और जोश, सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरों को धोखा देनेवालों में लोगों में कहाँ? जोश आता है नीति की चहारदीवारी को तोड़कर विधि-निषेधों का जी भरकर मजा लेने से। जोश आता है, जिसे ये लोग तामस और पाप कहकर दूर भागते हैं, उनका मुक्त उपभोग करने से, जबकि मनुष्य की सच्ची वृत्तियाँ दमन की शृंखलायें तोड़कर स्वच्छंद होकर जीवन का मांसल अनुभव करती हैं। आज यह जोश मैं और मेरे उपन्यास ही दे सकते हैं; जिनके आत्मरूप नायक अवसर आते ही नपुंसक बन जाते हैं, इससे इसकी क्या आशा की जा सकती है?” यह कहकर उन्होंने अपने व्यंग्य को और अधिक स्थूल बनाते हुए जैनेन्द्र जी की ओर देखकर हँस दिया।

जैनेन्द्र जी पर चोट का असर तो तुरंत ही हुआ और उन्होंने अपने को हतप्रभ नहीं होने दिया। हाथ घुमाकर नर्म को चादर से संभाला और एक खास सादगी के अंदाज से आँखों को मठराते हुए ऊपर के होंठ से नीचे के होंठ को लपेटकर बोले“अरे भई, उग्रजी के जोश में उबाल लाने वाली चीज हमें कहाँ प्राप्त है”, और फिर एक नजर यह देखकर कि उनके इस हाजिरजवाब का प्रेमचंदजी और सियारामशरण जी पर क्या असर पड़ा है, कहने लगे, “मुझे कुछ... मुझे कुछ ऐसा लगता है कि उपन्यास जैसे आज परिभाषा की मर्यादा तोड़कर विशृंखलित हो गया है उसका स्वरूप जैसे कुछ नहीं और सब-कुछ है। वह कोई भी स्वरूप धारण करता है। आज के जीवन की तरह वह जैसे एकदम अनिश्चित होकर दिशा खो बैठा है। इसीलिए आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही है। मैं उपन्यास क्यों लिखता हूँ, यह मैं क्या जानूँ? मेरे उपन्यास जैसे हैं वैसे हैं ही वे बड़े बेचारे हैं। परंतु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे मन में कुछ है जो बाहर आना चाहता है। वह है जीवन की अखंडता की भावना। मुझे अनुभव होता है कि जीवन और जगत् जैसे मूलतः एक अखंड तत्त्व है आज इसकी अखंडता खंडित हुई-सी लगती हैलगती ही है, दरअसल है नहीं। आज का मानव इसी भ्रम में पड़कर भटक रहा हैउसके हाथ से जीवन की कुंजी खो गयी है, और कुंजी है यही अखंडता की भावना। मैं चाहता हूँ कि वह इसे ढूँढ निकाले, नहीं तो निस्तार नहीं है। और इसे ढूँढने का साधन देनापीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्मपीड़न के ही

साधन हैं, और इसीलिए मैंने उनमें कामवृत्ति की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्मपीड़न का तीव्रतम रूप है। वे पाठक की जितनी आत्मपीड़न क प्रेरणा देते हैं, जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा करके जीवन की अखंडता का अनुभव कराते हैं, उतने ही सफल कहे जा सकते हैं।” इतना कहते हुए बड़े ही आहिस्ता से (मानो ऐसा करने में भी किसी प्रकार की हिंसा का डर हो।) वे बैठ गये।

इसके बाद सियारामशरण जी से प्रार्थना की गयी है कि वे अपना मंतव्य प्रकट करें। परंतु उन्होंने बड़े ही दैन्य से कहा “हम क्या कहेंगे, अभी जैनेंद्र भाई ने जैसा कहा है। हमारा भी वैसा ही मत है।”

तब पं. भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नंबर आया। अपने गोलाकार मुखमंडल को थोड़ा और गोल करते हुए वे बोले “उपन्यास-सम्राट श्रीयुत प्रेमचंदजी और साथियो, मेरे भाई जैनेंद्र जी ने कहा, अभी तक मेरा भी बहुत-कुछ वही मत था। परंतु आज मैं स्पष्ट देखता हूँ (और यह कहते हुए अंचलजी की ओर देखकर वे अत्यन्त गंभीर हो गये, जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं, वह उन्हें अंचलजी के मुख पर साफ नजर आ रहा है) कि आज के मानव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे शरत या गाँधी नहीं बनना, शोलोखोव और स्तालिन बनना है।”

अब वात्स्यायन जी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करेंमोंग हुई। वात्स्यायन जी ने अपना वक्तव्य आरंभ कर दिया। परंतु मैं चूँकि थोड़ा दूर बैठा था, मुझे सिर्फ उनके होंठ ही हिलते दिखायी देते थे, सुनायी कुछ नहीं पड़ता था। उग्रजी ने एक बार उनको ललकारा भी “अरे सरकार, जरा दम से बोलिए, आखिर आप स्वगत-भाषण तो कर नहीं रहे, मजलिस में बोल रहे हैं।” पर वात्स्यायन जी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हारकर मुझे भी उनके पास जाना पड़ा। कह रहे थे, ... “या यों कहिए कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें, जैसा कि मैंने प्रवेश में कहा है, मेरा दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से, अपने राग-द्वेष को सर्वथा पृथक् रखकर वस्तुगत चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनंद को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का विशेषकर उस व्यक्ति को जो अपनी ही सृष्टि हो, चरित्र विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं को अपने में एक बड़ी सफलता है। आप शायद यह कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं मैं स्वयं हूँ और यह विश्लेषण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है। तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्त्व और भी कई गुना हो जाता है। क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है; पर राग-द्वेषविहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण मानसिक शिक्षण और संतुलन की आवश्यकता होती है, इससे प्राप्त आनंद राग-द्वेष में बहने के आनंद से कहीं भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। ‘शेखर’ को पढ़ कर आप जितना ही इस आनंद को प्राप्त कर पाते हैं उतनी ही मेरी सफलता है।”

इतने में ही इलाचंद्रजी स्वतः प्रेरित-से बोल उठे “वात्स्यायन जी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनंद कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का कायल हूँ, परंतु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बनाकर ही छोड़ देना तो मनोविश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ्रायड ने भी मनोविश्लेषण को साधन ही माना है, साध्य नहीं। चरित्र में पड़ी हुई ग्रंथियों को सुलझाकर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विषमताओं का समाधान करता है। यही आनंद सच्चा आनंद-स्वस्थ आनंद है।”

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ रही थीशायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसीलिए मुझे सचमुच बड़ा संतोष हुआ जब प्रश्नकर्ता महोदय ने उठकर कहा कि अब देर काफी हो गयी है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों के अपने मंतव्यों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपाल जी ही अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।

यशपाल जी बोले“वात्स्यायन जी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूँ, परंतु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनंद की बात मेरी समझ में नहीं आती। वास्तव में यह वैज्ञानिक आनंद और कुछ नहीं शुद्ध आत्म-रति मात्र है। वात्स्यायन जी घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैंउन्होंने जीवन और जगत् को अपने सापेक्षता में देखा और अंकित किया हैजैसे सभी कुछ उनके अहं के चारों ओर चक्कर काट रहा हो। मेरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्तियों को अपनी व्यष्टि में ही केंद्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि को संपूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिल्कुल गलत अर्थ समझना है। आत्म-रति एक भयंकर रोग है। उससे जीवन में विषमयी ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं। जीवन का समाधान तो इसी में है कि व्यष्टि के घोड़े से निकलकर समष्टि की इस धूप में विचरण किया जाये। व्यक्ति में उलझे रहने से जीवन की समस्याएँ और उलझ जायेंगी। उनके लिए सामाजिकता अनिवार्य है। व्यक्तियों पर ध्यान केंद्रित करके उनको अनिवार्य महत्त्व देना मूर्खता है। सामूहिक चेतना जाग्रत कीजिए, गणशक्ति का अर्जन कीजिए परंतु इसके साथ ही जैनैन्द्र जी के आत्म-निषेध को भी मैं नहीं मानता। जो है उसका निषेध करना बेमानी है और न कोई आत्म-निषेध करता है। आत्म-निषेध की सबसे बड़ी बात करने वाले गाँधीजी ही सबसे बड़े आत्मार्थी हैं। अध्यात्मवाद, वैज्ञानिक तटस्थता आदि व्यक्तिवाद के ही विभिन्न नाम हैं। आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि भ्रमजाल से निकलकर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें। मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है।”

गोष्ठी की कार्यवाही अब समाप्त हो चुकी थी। अंत में प्रश्नकर्ता महोदय ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए निवेदन किया“अभी आपके सामने हिंदी के कुछ प्रतिनिधि उपन्यासकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों की सुंदर विवेचना की है। हिंदी उपन्यास के लिए वस्तुतः यह गौरव का दिन है जबकि हमारे आदि उपन्यासकार से लेकर नवीनतम उपन्यासकार तक (बाबू देवकीनंदन खत्री से लेकर यशपाल तक) सभी एक स्थान पर मौजूद हैं (यद्यपि ऐसा कैसे संभव हो सका, यह सोचकर वक्ता महोदय को बड़ा आश्चर्य हो रहा था।) और उन्होंने स्वयं ही अपने दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है। आपने देखा कि किस तरह इनका दृष्टिकोण क्रमशः बदलता गया है। किस तरह सामंतीय से वह भौतिक-बौद्धिक हो गया है। देवकीनंदन खत्री और यशपाल हमारे उपन्यास-साहित्य के दो छोर हैं। देवकीनंदन जी का दृष्टिकोण, उनके औपन्यासिक मान, शुद्ध सामंतीय हैं। साहित्य या उपन्यास उनके लिए एक जीवित शक्ति नहीं है, वह मनोरंजन का उपभोग का एक उपकरण मात्र है। वह जीवन की व्याख्या और आलोचना करने वाला एक चैतन्य प्रभाव नहीं है, उपभोग-जर्जर जीवन में झूठी उत्तेजना लाने वाली एक खुराक है। शारीरिक उत्तेजना के लिए जिस प्रकार लोग कुश्ती करते थे, मानसिक उत्तेजना के लिए इसी प्रकार के ‘तिलिस्म’ या ‘चंद्रकांता-संतति’ पढ़ते थे। इस तरह से उनके उस समय के जीवन के लिए ‘चंद्रकांता’ उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव था और कम-से-कम उसकी अनंत-विहारिणी कल्पना का लोहा तो सभी को मानना होगा। वह मन को बुरी तरह जकड़ लेती है, यही उसकी शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है। भारतीय जीवन की गति के अनुसार प्रेमचंद तक आते-आते

यह दृष्टिकोण बदलकर विवेक और नीति का दृष्टिकोण हो जाता है। उनके लिए उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करने वाला एक चेतन प्रभाव है, उपयोगिता और सुधार उसके ठोस उद्देश्य हैं, नीति और विवेक दो साधन। जीवन से उसका घनिष्ठ संबंध है। निदान उनका उपन्यास मानव-जीवन की ऊपरी सतह को छूकर नहीं रह जाता, वह उसके भीतर प्रवेश करता है। परंतु चूँकि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केंद्रित रहती है, इसलिए उसकी भी तो पैठ सीमित माननी ही पड़ेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचंद का उपन्यास प्राण-चेतना के आर-पार नहीं देख पाता विवेक को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। विवेक की आँखें बीच में ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नहीं कर पातीं। इसीलिए तो प्रेमचंद जी की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का कायल होकर भी मुझे उनमें शरत् या रवि बाबू में बहुत अंतर लगता है। प्रेमचंदजी की इस बहिर्मुखी सामाजिकता को उसी समय प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा और उग्र ने चैलेंज किया प्रसाद ने निर्मम होकर सामाजिक संस्थाओं का गह्रित खोखलापन दिखाया, वृन्दावनलाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोड़कर अतीत के विस्मय-गौरव की ओर संकेत किया, उग्र ने उनकी उथली नैतिकता को चुनौती दी। परंतु गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष का लोकरुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेमचंद का गतिरोध करना असंभव हो गया। उस समय लोगों की दृष्टि गाँधीवाद के व्यवहार पक्ष तक ही सीमित थी, उनके अध्यात्म तक नहीं पहुँच पायी थी। जीवन के इस तल तक पहुँचने का प्रयत्न जैनेंद्रजी ने किया है। विवेक और नीति से आगे आत्म-तत्त्व की ओर बढ़ने का उनको और सियारामशरण जी को आरंभ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीड़ा की फिलासफी में गाँधीवाद का अध्यात्म पक्ष ही तो है। इस दृष्टिकोण की दो तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ हमें भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' और अज्ञेय के 'शेखर' में मिलती है। भगवती बाबू आस्तिक प्रवृत्तिवादी हैं। पीड़ा में उनका विश्वास नहीं। उनकी आस्था स्वस्थ उपभोग में है अहं के निषेध में नहीं, अहं के परितोष में है। अज्ञेय का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और बौद्धिक है। ये नास्तिक बुद्धिवादी हैं। इनके इसी दृष्टिकोण की दृढ़ता और स्थिरता के कारण वास्तव में 'शेखर' हिंदी की एक अभूतपूर्व वस्तु बन गया। बुद्धि की इस दृढ़ता के साथ काश अज्ञेय के पास आस्तिकता का समर्पण भाव भी होता। यशपाल में यह प्रतिक्रिया एक पग और आगे बढ़ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न रहकर भौतिकवादी हो जाता है। अज्ञेय की बौद्धिकता उनमें भी है, परंतु वैज्ञानिक आत्मलीनता उनमें नहीं हैये अपने से बाहर जाते हैं; इनमें भौतिकवादी सामाजिकता है...।”

ऊबे हुए लोगों में से इतने में ही एक तेज आवाज आयी “आपने क्या खूब संश्लेषण किया है? बस अब छुट्टी दीजिए!” मैंने आँखें मलते हुए देखा कि काफी दिन चढ़ गया है और श्रीमती जी पूछ रही हैं “छुट्टी है क्या आज?”

(नगेन्द्र ग्रंथावली, भाग-7 से)

## हिन्दी-उपन्यास : उद्भव और विकास

नलिन विलोचन शर्मा

“सोता संसार, जागता परवरदिगार, कहानी ऐसी झूठी, बातें ऐसी मीठी, कहनेवाला झूठा, सुननेवाला सच्चा, भाई, कान की सुनी कहते हैं, आँखों की देखी नहीं कहते, मुल्क-मुल्क के बीच में एक...।”

कालिदास के शब्दों में, किंतु उनके बहुत-बहुत बाद और हिन्दी के लिखित उपन्यासों के पहले, हिंदी के ‘कथा-कोविद ग्राम-वृद्ध’ इसी प्रकार अपने मौखिक उपन्यासों का प्रारम्भ करते थे। शाम के वक्त, दिन के थके माँदे लोग, खाने-पीने के बाद, किस्सागो को घेरकर बैठ जाते और उस जमाने का धारावाहिक उपन्यास शुरू होता, जो पत्रिकाओं में ‘क्रमशः’ छपने के बदले, दिन के बाद दिन, क्रमशः चलता रहता। कालिदास ने लिखा है, ‘उज्जयिनी ही क्यों, देश के प्रत्येक ग्राम और नगर में ‘कथा-कोविद’ होते थेउनके चरित-नायक उदयन के बदले गोपीचंद या हीर ही क्यों न हो। जिस युग में छापेखाने नहीं खुले थे और बहुत मूल्यवान साहित्यिक ग्रंथ ही बड़े परिश्रम से हाथ से लिखे जाते थे, उस युग में भी उपन्यासों का अस्तित्व था, किंतु इसी मौखिक रूप में। जहाँ और जब संस्कृत का प्रभाव था, वहाँ संस्कृत की ‘वेतालपंचविंशति’ और ‘सिंहासनद्वित्रिंशिका’ जैसे यथार्थवादी उपन्यास ‘वेताल पच्चीसी’ और ‘सिंहासन बत्तीसी’ के रूप में बोलचाल की हिंदी में प्रचलित थे; जब मुसलमानों से संपर्क बढ़ा तो ‘तिलस्म-इ-होशरुबा’ और ‘दास्तान-इ-अमीर हमूजा’ भी जनप्रिय बने।

बात ऐसी है कि भारतेंदु के समय से तो हिन्दी-उपन्यास का लिखित, मुद्रित और साहित्यिक रूप शुरू हुआ किंतु हिन्दी-उपन्यास की परंपरा उतनी पुरानी है जितनी हिंदी काव्य की। अंतर इतना ही है कि हिंदी के प्राचीन काव्य का पर्याप्त अंश हस्त-लिखित पोथियों में सुरक्षित रह गया जबकि उसका गल्प-साहित्य मौखिक ही बना रहा।

हिंदी-उपन्यास की इस परंपरा का कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह मौखिक परंपरा थी। ऐसी हालत में, पूछा जा सकता है कि हमने इसको इतने विस्तार

से क्यों चर्चा की। इसके संबंध में हमें कहना यह है कि हिंदी के नाटक और उपन्यास की परंपरा पर विचार करते समय एक विकट प्रश्न उठ खड़ा होता है। उसका उत्तर हिंदी के विद्वानों ने नहीं दिया है, पर इस समस्या के समाधान के बिना हिंदी के इन साहित्यिक रूपों का अध्ययन शुरू भी कैसे किया जाए? प्रश्न है, वासवदत्ताकार सुबंधु, दशकुमार-चरितकार दंडी, हर्षचरित और कादंबरीकार बाणभट्ट जैसे संस्कृत के महान् उपन्यासकारों का उत्तराधिकार शताब्दियों के अंतराल के बाद भारतेंदु-युग को ही क्यों, उसके पूर्व के युगों को क्यों नहीं मिला?

नाट्य-परंपरा के विच्छिन्न होने के कारण विद्वानों ने बतलाये हैं, उनसे दूसरों को तो क्या, स्वयं उन्हें ही संतोष नहीं होता। फिर भी इसके संबंध में कुछ चलते कारण तो बता ही दिये जाते हैं; किंतु गल्प की खंडित परंपरा के विषय में विद्वान् मूक रह जाते हैं।

इस संबंध में मेरा निवेदन मान लेना कि संस्कृत और हिंदी के आधुनिक काल के बीच गल्प की परंपरा खंडित हो गयी थी; एक भ्रांत धारणा है। किस्सा-कहानी या उपन्यास की परंपरा के सदैव दो रूप रहे हैं एक, लिखित तथा साहित्यिक और दूसरा, मौखिक। दूसरे रूप के अविच्छिन्नता हम दिखा चुके हैं। हम यहाँ पहले रूप की सत्यता पर भी विचार कर लें। असल में संस्कृत-साहित्य का विकास हिन्दी के आविर्भाव के साथ तो बंद नहीं हो गया कि हमें मानना पड़ता कि भारत की साहित्यिक गल्प की धारा कुछ समय के लिए लुप्त हो गयी। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य को तत्कालीन परिस्थितियों के प्रकाश में देखने की चेष्टा की, किंतु हिंदी के समानान्तर रचित होने वाले संस्कृत साहित्य को वे पूर्णतः भूल गये। इसी का परिणाम है कि हम हिंदी के आविर्भाव-काल में जब काव्य के अतिरिक्त दूसरे साहित्यिक रूप ढूँढने लगते हैं और हमें निराश होना पड़ता है तो हम यह समझ लेते हैं कि संस्कृत-साहित्य की ये धाराएँ हिन्दी में रूपांतरित और स्वीकृत होने के पहले ही लुप्त हो गयीं। किंतु बात कुछ दूसरी ही है। हिंदी में प्रारंभिक युगों में पद्य के अतिरिक्त साहित्य का कोई दूसरा रूप स्वतंत्र रीति से अपना विकास नहीं कर सका। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि किसी भी नयी भाषा में पहले पद्य की ही रचना होती है और बाद में ही गद्य तथा साहित्य के दूसरे रूपों का प्रादुर्भाव होता है। हिन्दी जैसे-जैसे परिपुष्ट और परिपक्व होती गयी, वैसे-वैसे वह संस्कृत से, काव्य के भिन्न, अन्य साहित्यिक रूपों को पाती गयी और आज जाकर शायद वह भी समय आया है जब संस्कृत निश्चिंत होकर अपने सारे अधिकतर हिंदी को सौंप दे। जब हिंदी में बड़े परिमाण में काव्य-रचना हो रही थी तब संस्कृत में नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि के सैंकड़ों नये-नये ग्रंथों का निर्माण हो रहा था। हाँ, भारतेंदु के समय से हिन्दी का सर्वांगीण विकास होने लगा और संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य की व्यर्थता सिद्ध होती गयी। इसे संस्कृत और संस्कृत-प्रेमियों ने समझा है और उन्होंने हिंदी को उसकी वयः प्राप्त के बाद, इसका उत्तराधिकार सहर्ष सौंप दिया है माता बहू को तिजोरी की उसकी वयःप्राप्ति की ताली देती है, पर तभी जब बहू को वह अपने परिवार के संस्कारों में पगी हुई देख लेती है।

हिंदी की यदि अपनी समृद्ध परंपराएँ न होतीं तो सत्तर-अस्सी वर्षों की अल्प अवधि में उसके साहित्य का वैसा विकास कदापि संभव न होता, जैसा हम आज पा रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का साहित्यिक जागरण पश्चिम के संपर्क का परिणाम था। यह संपर्क जैसे-जैसे प्रगाढ़ होता गया, वैसे-वैसे साहित्य के क्षेत्र में, विशेष रूप से गल्प के स्वरूप में, परिवर्तन होता गया। भारतेंदु-युग के लेखक पूरी तरह संस्कृत-उपन्यास की भाषा और शैली का मोह कभी नहीं छोड़ सके। हाँ, उन्होंने स्वरूप-विधान के संबंध में अवश्य आधुनिकता अपनायी।

हम जैसे साहित्यिक उपन्यासों को आधुनिक हिंदी के प्रारम्भकाल से ही पाने लगते हैं,

वे सुबंधु, वाणी या दंडी की रचनाओं के स्वरूप-विधान और उद्देश्य से दूर हो चुके हैं और पाश्चात्य उपन्यासों के स्वरूप विधान के निकटनिकटतर आने के लिए सचेष्ट हैं।

## इतिहास

हिंदी-उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिंदी-भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है; जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में। हिन्दी-उपन्यास के लिए जैसे-जैसे कच्चा माल तैयार होता गया, वैसे-वैसे पश्चिम की तथाकथित भौतिक सभ्यता हमारी वाणी और वेश-भूषा को ही नहीं, प्रत्युत हमारी दृष्टि और चेतना को भी आक्रांत करने में सफल होती गयी। हमारे उपन्यास यदि आज पश्चिमी उपन्यासों के समकक्ष सिद्ध नहीं होते तो मुख्यतः इसलिए कि हमारी वर्तमान सभ्यता अपेक्षया आज भी कम जटिल, कम उलझी हुई और कहीं ज्यादा सीधी-सादी है।

उपन्यास सर्वत्र ही साहित्य का उपेक्षित अंग रहा है। उद्देश्य की दृष्टि से वह मात्र मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता था। साहित्यिक उत्कर्ष के लिए उसे 'गद्य-काव्य' बनकर उन गुणों से मंडित होना पड़ता था जो वस्तुतः काव्य के हैं। 'कथा सरित्सागर', 'अलिफ लैला', 'डिकामेरन' मनोरंजन के साधन-मात्र थे; हर्षचरित' या 'कादंबरी' की विशेषता यह है कि उनमें वे गुण हैं जो संस्कृत-काव्य के लिए शोभाकर होते हैं। शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद साहित्य का यह अंत्यज अपनी छिपी संभावनाओं को लेकर अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सका है और अब तो आभिजात्य का भी दावा कर सकता है। देवकीनंदन खत्री से लेकर अज्ञेय तक के हिंदी-उपन्यास का इतिहास इस सामान्य तथ्य का दृष्टांत है।

उपन्यास आज भी गल्प (fiction) की व्यापक श्रेणी में रखा जाता है, किंतु आज वह नाम को ही गल्प रह गया है। जब तक उपन्यास गल्प मात्र था तब तक उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन और गौण उपदेश रहता था। आज गल्प, गल्प नाम के बावजूद, सत्य और केवल सत्य की, नाना दृष्टियों से गृहीत और अनेकानेक पद्धतियों से अंकित चित्र-शृंखला बन चुका है। आज भी गल्प की एक शाखा गल्प बनी हुई है और मनोरंजन का लोकप्रिय साधन है, उदाहरण के लिए जासूसी उपन्यास, किंतु इस विवेचन में उसे ध्यान में नहीं रखा गया है। हिंदी-उपन्यास की छोटी अवधि में भी अंग्रेजी या फ्रेंच भाषा के उपन्यास के विस्तीर्ण इतिहास की विकास-प्रक्रियाओं की संक्षिप्त, परंतु पूर्ण रूप-रेखा वर्तमान है। गल्प किस तरह सत्य बन गया यह हिंदी में थोड़े में ही देखने को मिल जाता है।

हिंदी उपन्यास के स्वल्प-परिसर इतिहास के अध्ययन के लिए काल-विभाजनों को, जिन्हें साहित्यिक इतिहासकारों ने 'उत्थान'<sup>1</sup> की संज्ञा दी है, मैं निष्प्रयोजन पाता हूँ। इसी प्रकार उपन्यासकारों के नामानुसार विभिन्न 'स्कूलों' और साहित्यिक व्यक्तित्व के आधार पर पुकारे जाने वाले 'युगों' को भी, अपने उद्देश्य के लिए, मैं महत्त्व रहित विभाजक चिह्न-मात्र मानता हूँ। हिन्दी-उपन्यास के विकास की सीमा रेखाएँ उसके भीतर ही मिलती हैं, हालाँकि उन्हें सावधानी के साथ पहचानने और साफ करने की चेष्टा नहीं हुई है।

1. शुक्ल जी



ये सीमा रेखाएँ अधिक नहीं हैं, मुख्यतया केवल दो ही हैं, और दोनों ही केवल एक ही उपन्यासकार में निहित हैं। अवश्य वह उपन्यासकार प्रेमचंद हैं।

‘गोदान’ के पहले तक के प्रेमचंद हिंदी-उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथचिह्न हैं। ‘गोदान’ के रचयिता प्रेमचंद ही हिंदी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं। हमें पर्वत के दोनों भागों और उसके शिखर को दूर से और समीप से, अवलोकन का प्रयास करना है।

हिंदी में उपन्यास-रचना का प्रारंभ हुआ तो उसका संबंध प्रचीन औपन्यासिक परंपरा से नाम-मात्र का भी नहीं था। इस दृष्टि से हिंदी-उपन्यास की स्थिति हिंदी-काव्य की परंपरा अविच्छिन्न है; किंतु हिंदी का उपन्यास साहित्य का वह पौध था, जिसे अगर सीधे पच्छिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बैंगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबंधु, दंडी और बाण की लुप्त परंपरा पुनरुज्जीवित की गयी थी।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-उपन्यास अपने पैरों पर खड़ा होने के पहले घुटनों के बल भी काफी दिनों तक चलता रहा था। अपने इन आरम्भिक दिनों में उपन्यास मुख्यतः मनोरंजन का साधन था, यद्यपि वह नीति और उपदेश का स्वाँग भी भरता था। जिस जमाने में हिंदी का उपन्यास ही नहीं, हिंदी का पाठक भी शैशवावस्था में था तो देवकीनंदन खत्री के औपन्यासिक खिलौने मनोरंजन के परम लोकप्रिय साधन थे, किंतु उन्हें उनके निर्माता ने नीतिवादी आलोचकों का मुँह बंद करने के लिए, उपदेशप्रद भी सिद्ध कर दिखाया था।<sup>1</sup> उपन्यास के उद्देश्य के संबंध में इस दृष्टिकोण का वास्तविक रूप कुछ बाद के एक उपन्यास के विज्ञापन की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :“...इसमें मनोरंजन के अलावा उत्तम शिक्षा की भी पूर्ण मात्रा है। कोई परिच्छेद ऐसा नहीं जिसके पढ़ने से कोई-न-कोई उत्तम शिक्षा न मिलती हो...।”<sup>2</sup> समासतः देवकीनंदन खत्री के ऐयारी या तिलिस्म वाले उपन्यास<sup>3</sup> हों या किशोरीलाल गोस्वामी के एतादृश अथवा ऐतिहासिक-रूमानी उपन्यास<sup>4</sup> या गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास<sup>5</sup>, सभी उपन्यास का गल्प नाम सार्थक करते थे।

किंतु साहित्य का यह रूप जन्मना निम्न श्रेणी का होने पर भी कितना महत्त्वाकांक्षी था, यह इसी से पता चलता है कि जब वह मनोरंजन का साधन बनकर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था, यद्यपि उसे पूर्णतः कृतकार्य होने के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक प्रेमचंद ने उसका अछूतोद्धार नहीं कर दिया। प्रेमचंद के पूर्व श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास ने उपन्यास को मनोरंजन के स्तर से ऊपर जरूर उठाया था, किंतु उन्होंने प्रेमचंद को प्रत्याशित या प्रभावित किया था<sup>6</sup>, यह उद्भावना निराधार है।

1. देवकीनंदन खत्री के पत्र का एक लंबा अंश डॉ. वाष्णय की पुस्तक में उद्धृत है।
2. गया से प्रकाशित होने वाली ‘लक्ष्मी’ नामक मासिक पत्रिका के जनवरी 1917 के अंक में लाला भगवानदीन के ‘अघट घटना’ के विज्ञापन से। ‘हिन्दी-पुस्तक साहित्य’ में इस उपन्यास का उल्लेख नहीं है।
3. उपन्यासों के नाम ‘हिन्दी पुस्तक-साहित्य’ में देखे जा सकते हैं। वाष्णय की पुस्तक में तथा उपन्यास-संबंधी दूसरी पुस्तकों में, कुछ ब्यौरे मिलते हैं, आलोचना नगण्य हैं।
4. उपरिवत्।
5. उपरिवत्।
6. रामविलास शर्मा, ‘भारतेन्दु युग’ मे।

प्रेमचंद के उपन्यासों में हिंदी-उपन्यास की वे दोनों धाराएँ सहसा एक होकर अतिशय महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। प्रेमचंद के उपन्यास आपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचंद के उपन्यासों में भी 'गोदान' इसका अपवाद है वह मात्र सत्य का वाहक है।

प्रेमचंद में हिंदी-उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बनीं और उनके जीवन-काल में ही वे अनेक मंद-तीव्र धाराओं में विभक्त हो गयीं। मुख्य धारा से हटकर स्वयं प्रेमचंद भी एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर मुड़े थे। यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण, मौलिक और महान् प्रयास था, लेकिन उसके लिए ऐसे व्यापक अनुभव, मानवीयता और स्थापत्य-कौशल की जरूरत थी कि इसमें प्रेमचंद अकेले ही रह गये; उनके इस प्रयोग का अनुकरण उस तरह अनगिनत उपन्यासकारों ने नहीं किया जिस तरह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का किया था। 'गोदान' हिंदी की ही नहीं, स्वयं प्रेमचंद की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है, जिसके उच्चावच, विराट् विस्तार, निर्मम, तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर अत्यन्त विशिष्ट बन गयी शैली किसी एक भारतीय उपन्यास में एकत्र नहीं मिलती।

हिंदी के आलोचकों ने एक स्वर से 'गोदान' की यह आलोचना की है कि उसकी कथा-वस्तु असंबद्ध है। वस्तुतः यही 'गोदान' के स्थापत्य की वह विशेषता है जिसके कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है। नदी के दो तट असंबद्ध दीखते हैं, पर वे वस्तुतः असंबद्ध नहीं रहते-उन्हीं के बीच से जल-धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असंबद्ध-सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जन-जीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिंदी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि 'गोदान' की स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही वह भारतीय जीवन के वैविध्य और आँखों के सामने चलने वाली, अतः अस्पष्ट, परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं की व्यस्तता का चित्रागार नहीं बन पाता। बहुत पहले 'प्रेमाश्रम' में, फिर 'रंगभूमि' में, प्रेमचंद ने इन प्रक्रियाओं को पकड़ने की कोशिश की थी किंतु तब पात्रों के विलक्षण व्यक्तित्व के चित्रण और स्थापत्य के कृत्रिम बंधन के कारण प्रेमचंद ने 'पुराण-रीति' का 'व्यतिक्रम' किया और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए यदि हिंदी के रूढ़िवादी विद्वान् इसे उनकी असफलता मान बैठें।

प्रेमचंद के पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासकारों के लिए ही नहीं, स्वयं प्रेमचंद के लिए भी, भाषा दुर्लभ विघ्न-पाषाण सिद्ध होती रही। इस संपूर्ण अवधि के हिंदी उपन्यासकार

1. (क) "केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचंद सेवासदन को फिर न पा सके।" रामविलास शर्मा
- (ख) " 'गोदान' का कथानक किसान-महाजन संघर्ष को लेकर रचा गया है, उच्च वर्ग केवल चरित्र की पूर्णता के लिए है।" वही
- (ग) " 'गोदान' ग्रामीण जीवन का चित्र है।" प्रकाशचंद्र गुप्त
- (घ) "इस उपन्यास का वृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते हुए इतर प्रसंग 'क्षेपक' से लगते हैं; इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है।" शोतिप्रिय द्विवेदी
- (ङ) " 'गोदान' में गाँव के चित्र अधिकारी (आधिकारिक) रूप से तथा शहर के चित्र प्रासंगिक रूप से आए हैं।" गुलाब राय

अंग्रेजी गद्य की बारीकियों को समझ सकने में असमर्थ थे, क्योंकि उनका अंग्रेजी का ज्ञान अत्यल्प और अधिकतर नहीं के बराबर था। जिस प्रतिवेशी भाषा, बँगला, के उपन्यासों से हिंदी के लेखक उपन्यास-रचना की प्रत्यक्ष प्रेरणा पाते रहे और ज्यादा तो उनके उपन्यासों के अनुवाद ही कर जाते थे, स्वयं उसका गद्य भी अनुकरणीय आदर्श नहीं उपस्थित करता था। उस पर भी संस्कृत-गद्य का वह प्रभाव था जिसका मोह हिंदी लेखकों को छोड़ देना आवश्यक भी था, पर जिसकी ओर उसकी ललचाई आँखें दौड़ ही पड़ती थीं। श्रीनिवास दास प्रभृति लेखक, जो उपन्यास को साहित्य के सार्थक और गंभीर रूप की दृष्टि से ग्रहण करते थे, नाटक के कल्याणकर प्रभाव के परिणामस्वरूप उपन्यासों में भी स्वाभाविक भाषा में कथोपकथन प्रस्तुत करते थे, किन्तु अपनी ओर से वर्णन करने का अवसर मिला नहीं कि उनका गद्य काव्य की विडम्बना करने लग जाता था।

किशोरीलाल गोस्वामीजैसे पाठकों के मनोरंजनार्थ लिखने वाले उपन्यासकारों में भी हम भाषा-सम्बन्धी यह भ्रांत दृष्टिकोण पाते हैं।<sup>1</sup> यदि अपवाद हैं तो देवकीनंदन खत्री, जो निष्प्राण, पर निराडंबर गद्य लिखते थे और निस्संदेह इसीलिए हर-दिल अजीब बन सके थे। बाद के बहुतेरे ऐयारी और तिलिस्म वाले उपन्यासों में भी लच्छेदार भाषा मिलती है। देवकीनंदन खत्री की लोकप्रियता और सफलता की चाह रखने वाले लेखक यह नहीं समझते कि खत्री जी का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी। प्रेमचंद ने, जिन्होंने अपने समय के असंख्य युवकों की तरह देवकीनंदन खत्री की पुस्तकें चाव से पढ़ी थीं, भाषा की इसी सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपान्तरित और उन्नत किया था। यह प्रेमचंद के लिए तब संभव हुआ जब उन्होंने उर्दू-गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से पर कठोरतापूर्वक, धीरे-धीरे बिलकुल छोड़ दिया।

‘गोदान’ में प्रेमचंद की शैली-उर्दू-गद्य की आलंकारिकता के निर्मोक्त से सर्वथा मुक्त हो गयी है। ‘गोदान’ की महत्ता का, स्थापत्य-कौशल के अतिरिक्त, मुख्य कारण शैली है वह शैली, जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है, यों भाषा की सादगी के नाम पर चलते-चलाते प्रशंसा के कुछ शब्द भले कह दिये हों।

प्रेमचंद के समसामयिक सुदर्शन भी प्रेमचंद की तरह उर्दू से हिंदी में आये थे। उन्हें और ‘कौशिक’ को निरपवाद रूप से ‘प्रेमचंद-स्कूल’ के लेखकों के रूप में स्मरण किया जाता है।<sup>2</sup> ये वस्तुतः प्रेमचंद की तरह मुहावरेदार, चलती, सरल और टकसाली भाषा लिखते थे, पर इनकी भाषा के ये गुण विशिष्ट शैली-स्तर पर कभी नहीं पहुँच सके। फलतः प्रेमचंद के साथ इन गल्पकारों की तुलना ऊपर से दीख पड़ने वाली समानता के आधार पर ही की जा सकती है।

प्रेमचंद के समकालीनों में इनसे कहीं अधिक उल्लेखनीय हैं जयशंकर प्रसाद<sup>3</sup> और बेचन शर्मा ‘उग्र’, जिनके ‘स्कूलों’ की भी चर्चा हिंदी के साहित्यिक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में

1. बाद तक हिन्दी-उपन्यास में गद्य का यह रूप देखने को मिलता रहता है ‘प्रसाद’ और ‘निराला’ में अपने प्रकृत रूप में चण्डीप्रसाद ‘हृदयेश’ एवं नंदकिशोर तिवारी में अंतिम साँस लेता हुआ।
2. सुदर्शन ने केवल कहानियाँ लिखी थीं; कौशिक भी कहानीकार के रूप में ही प्रसिद्ध थे यद्यपि ‘माँ’ तथा भिखारिणी नामक दो उपन्यास भी हैं। ‘भिखारिणी’ हिन्दी-पुस्तक साहित्य में कहानी के अंतर्गत निर्दिष्ट है किन्तु यह गलत है, वह उपन्यास है न कि कहानी-संग्रह।
3. ‘प्रसाद’ के ‘तितली’ और ‘इरावती’ नामक उपन्यास सर्वथा महत्त्व-रहित हैं। उन्हें केवल ‘कंकाल’ के कारण ही उपन्यासकार के रूप में स्मरण किया जा सकता है।

अवश्य कर दी जाती है। ये दोनों ही उपन्यासकार विरोधाभास के विलक्षण दृष्टान्त हैं। काव्य और नाटक में परम आदर्शवादी बने रहने वाले 'प्रसाद कंकाल' में घोर प्रकृतवादी का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सुधार की भावना से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले 'उग्र' वर्जित विषयों पर लिखकर 'घासलेटी'<sup>1</sup> अर्थात् तथाकथित अश्लील साहित्य के रचयिता के रूप में पाठकों के प्रिय और संपादकों के कोप-भाजन बनते हैं। इन दोनों उपन्यासकारों ने जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने का निर्भीक साहस दिखाया था प्रथम ने सत्य का श्वासावरोध करने वाली फीलपॉवी भाषा में और दूसरे ने पर्चेबाज के 'जोश'<sup>2</sup> के साथ। इनके विषय की यथार्थता इनकी भाषा की अयथार्थता के कारण मारी जाती है और उपन्यासकार के रूप में ये उस महत्त्व के अधिकारी नहीं बन सके जिसके आसानी से बन सकते थे।

'प्रसाद' अपनी अलंकृत शैली के कारण बाद की पीढ़ी के उपन्यासकारों के द्वारा अनुकृत नहीं हुए, यद्यपि यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और साम्यवादी यथार्थवाद की द्विविध धाराओं में, विकसित हुआ। 'उग्र' की नाटकीय शैली का असफल अनुकरण लोक-साहित्य के कुछ लेखकों ने किया, किंतु उनमें न तो उनके आदर्श लेखक की सोद्देश्यता थी, न मर्मभेदी दृष्टि, जिनसे शैली की कृत्रिमता या विषय की तथाकथित अश्लीलता अंशतः क्षम्य हो जाती है।

प्रेमचंद के 'गोदान' का अनुकरण असंभवप्रायः कार्य था और वह हुआ भी नहीं। किंतु उसके पूर्व के प्रेमचंद का खूब ही अनुकरण हुआ। हिंदी के कुछ महत्त्वपूर्ण और अधिकतर साधारण उपन्यासकारों के लिए प्रेमचंद ने एक सुगम मार्ग उद्घाटित कर दिया था। 'देहाती दुनिया' के लेखक शिवपूजन सहाय ऐसे उपन्यासकारों में श्रेष्ठ हैं। राधिकारमण प्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, प्रफुल्लचंद ओझा 'मुक्त', अनूपलाल मंडल और भगवतीचरण वर्मा भी इसी श्रेणी में परिगणनीय हैं।

हमने हिंदी उपन्यास-साहित्य के चढ़ाव को पार कर लिया है और उसके शिखर 'गोदान' को तनिक ठहरकर, ध्यान के साथ देखने में समय लगाया है। शिखर के इस पार का देश हमारे लिए इतना परिचित, इतना समीप है कि हम उसकी बहुत-सी बातों को देख भी लेते हैं तो सम्यक् पर्यवस्थिति के अभाव में समझ नहीं पाते। पर इतना तो है ही कि यहाँ रेत है तो हरियाली की भी कमी नहीं है, गड्डे और दलदल हैं तो छोटी-मोटी चोटियाँ भी जरूर हैं।

1936 में प्रेमचंद का 'गोदान' प्रकाशित हुआ था,<sup>3</sup> 1936 में ही जैनेंद्र की 'सुनीता' प्रकाशित हुई थी। प्रेमचंद ने अपने दशाधिक उपन्यासों की उपलब्धि को एक ओर रखकर 'गोदान' में व्यापक से व्यापकतम भारतीय जीवन को विषय के रूप में आकलित किया। जैनेंद्र ने प्रेमचंद

1. 'घासलेटी साहित्य' का प्रयोग अश्लील साहित्य अर्थ में, कदाचित् 'उग्र' के बारे में ही सर्वप्रथम किया गया था। इस शब्द के निर्माण का श्रेय, जहाँ तक मेरा अनुमान है, बनारसीदास चतुर्वेदी को है। शब्द भोंडा और ग्राम्य है पर थोड़े दिनों तक उसने सनसनी खूब फैलाई थी। प्रस्तुत लेखक के निबंध-संग्रह 'दृष्टिकोण' में साहित्य में अश्लीलता और ग्राम्यता पर सामान्य रूप से और 'उग्र' पर विशेष रूप से विवेचन किया गया है।
2. 'उग्र' ने अपने बहुत बाद एक निबंध में, जो प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'कर्मयोगी' में छपा था, 'जोश' को साहित्य का बहुत बड़ा गुण सिद्ध किया था। 'जोश' इस प्रसंग में उन्हीं का शब्द है, उसकी महिमा अवश्य नहीं मानी गई है।
3. प्रकाशन-काल-संबंधी ऐसी समस्त सूचनाओं के लिए मेरे पास सुलभ आकर ग्रंथ है 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य'। यदि उसमें छोटी-मोटी भूलें भी हों तो उनसे वैसी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि मैं अपने इस प्रबंध में प्रवृत्तियों के निरूपण के लिए ही प्रयास कर रहा हूँ, विवरण तो बहुत कम ही दे पाया हूँ।

की, और अगर प्रेमचंद की नहीं तो समस्त हिंदी-उपन्यास-साहित्य की, उपलब्धि का प्रत्याख्यान करने का मौलिकतापूर्ण साहस दिखाया और 'गोदान' के रचयिता प्रेमचंद से उन्हें सबसे अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला। जैनेन्द्र ने गाँव, खेत, खुली हवा और सामाजिक जीवन के विस्तारों को छोड़कर शहर की गली और कोठरी की सभ्यता को, व्यक्ति के आभ्यंतर जीवन की गुत्थियों और गहराईयों को और भी पहले से अपने उपन्यासों का विषय बनाना शुरू कर दिया था। 'सुनीता' में उपन्यासकार ने सबसे गहरी डुबकी लगायी थी। पश्चिम के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की किंवदन्ती सुन रखने वाले हिंदी के आलोचकों ने जैनेन्द्र के उपन्यासों पर फ्रायड का प्रभाव घोषित करके अपनी पंडितमन्यता को संतुष्ट किया; स्वयं जैनेन्द्र ने ईमानदारी का परिचय देते हुए सदैव इस आरोपित प्रभाव को अस्वीकार किया। सत्य भी यही है कि व्यक्ति-केंद्रित होने पर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविश्लेषण की प्रणाली की छाया भी नहीं है। जैनेन्द्र में, वस्तुतः, हिंदी ने एक शरच्चंद्र के अभाव की पूर्ति पा ली। हिंदी-भाषी क्षेत्र के पिपठित्सु पाठक उन दिनों राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण और अपनी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक वयःसंधि के फलस्वरूप, अपरिणत, कुंठाग्रस्त और भावुकता के शिकार थे।

प्रेमचंद ने शरच्चंद्र की तरह स्त्रैण-भाव को अपनाते में अपनी अरुचि कबूल की थी।<sup>1</sup> कुछ छायावादियों ने, विशेष रूप से गौण छायावादियों ने, काव्य के माध्यम से शरच्चंद्र की अश्रुपंकिल भावुकता का समावेश हिंदी में किया था, पर वह अपर्याप्त सिद्ध हुआ था। उनकी अब्याख्येय पीड़ा की तुलना में जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न-सुख के लोभी पात्रों की कारुणिकता खूब ही लोकप्रिय हुई। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि इस फन के उस्ताद शरच्चंद्र की अनूदित पुस्तकें इस जमाने में जितनी संख्या में बिकीं, उसकी तुलना में जैनेन्द्र की भी तो लोकप्रियता नगण्य थी।

यदि जैनेन्द्र ने 'परख' या 'त्यागपत्र' आदि उपन्यास ही लिखे होते, और 'सुनीता' नहीं लिखी होती, तो वे शरच्चंद्र की छाया-मात्र बनकर रह जाते। किंतु जिस तरह 'गोदान' लिखकर प्रेमचंद्र अपने दूसरे उपन्यासों की औसत से अच्छी साधारणता से बहुत ऊपर उठ सके थे, उसी तरह जैनेन्द्र 'सुनीता' के लेखक के रूप में शरच्चंद्र की छाया से अधिक महत्त्व के अधिकारी बन जाते हैं। सुनीता की नग्नता को कम मानकर यशपाल ने 'दादा कामरेड' लिखा था और शायद उसे ही चुनौती मानकर द्वारकाप्रसाद ने, हाल में, 'घेरे के बाहर' लिख डाला है, किन्तु नग्न सुनीता की प्रतिमा गढ़ने में जैनेन्द्र ने जैसा तरुण-कौशल प्रदर्शित किया है, वह महान् उपन्यासों में भी क्वचित् ही देखने को मिल पाता है।

जैनेन्द्र की भाषा की भी बहुत बड़ी विशेषता है उसकी सादगी, किंतु वह न तो देवकीनंदन खत्री, सुदर्शन और कौशिक की भाषा की सादगी है, न प्रेमचंद की ही। पहले वर्ग के उपन्यासकारों की तुलना में जैनेन्द्र की भाषा की सादगी में प्रत्यभिज्ञेय में सचेष्ट असचेष्टता की अतिशयता बार-बार पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है और लेखक को गुर, ढंग के रूप में पहचान में आ जाती है। जैनेन्द्र सत्य को स्वयं बोलने के लिए छोड़कर संतुष्ट नहीं रह जाते, जैसा प्रेमचंद अपनी बाद की रचनाओं में सहज भाव से करते थे, बल्कि सत्य पर अपनी धार चढ़ाकर सामने रखते हैं। फलतः विषय के सत्य की तीक्ष्णता के कारण वह गौण पढ़ जाती है और समूची कृति क्षति-ग्रस्त हो जाती है।

1. प्रेमचंद ने अपने एक निबंध में इसका स्पष्टता के साथ निर्देश किया है। दृष्टव्यप्रेमचंद : कुछ विचार।

1919 में 'सौंदर्योपासक' लिखकर ब्रजानंदन सहाय ने उल्लेखनीय व्यक्तिपरक उपन्यास प्रस्तुत किया था। 1923 में अवधनारायण का भावुकता-प्रधान उपन्यास 'विमाता' प्रकाशित हुआ था। जैनेंद्र के भावुकता-प्रधान व्यक्तिपरक उपन्यासों में ये धाराएँ समन्वित हो गयी हैं। बाद के कुछ उपन्यासकारों ने जैनेंद्र की भावुकता ओरशैली का अनुकरण किया, पर वे हिंदी के अत्यंत गौण उपन्यासकार हैं।<sup>1</sup>

जैनेंद्र पर न तो फ्रायड का ही प्रभाव था, न अन्य पाश्चात्य साहित्यिक धाराओं का ही। जैनेंद्र के साथ और बाद में ऐसे प्रभावों का आधिक्य देख पड़ता है।

1932 में कृपानाथ मिश्र का 'प्यास' शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हुआ था, जिसमें आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासकारों और अंग्रेजी गद्य की प्रमुख विशेषताएँ सफलतापूर्वक सन्निविष्ट थीं। जेम्स ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ के युगांतरकारी प्रयोगों का इस उपन्यास में बड़े अधिकार के साथ समावेश किया गया था। फिर 'अज्ञेय' ने 'शेखर: एक जीवनी' में कुछ फ्रायड, क्राफ्ट-एबिंग, हैवेलोक एलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोतनराड की प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया। 'अज्ञेय' इस उपन्यास में न तो प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली के कठिन स्थापत्य का निर्वाह कर पाते हैं, न उपन्यास के मुख्य पात्र के प्रति निर्लिप्तता का। उनके सद्यः प्रकाशित उपन्यास का नाम, 'नदी के द्वीप', 'चेतना के प्रवाह' का रूपान्तरण है। 'नदी के द्वीप' हिंदी का एक उल्लेख्य मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जिसमें डी. एच. लारेंस की कविताएँ कठस्थ और समय-असमय उद्धृत करते 'नदी के द्वीप' के पात्र थकते नहीं, यदि उसकी स्पष्टवादिता कविता का शतांश भी 'अज्ञेय' में होता तो वे हिंदी के लारेंस कहलाने के अधिकारी होतेऔर यह कम गौरव की बात न होती।<sup>2</sup> इलाचंद्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' में मनोविश्लेषण-विज्ञान के कुछ प्रचलित परिभाषिक शब्दों का चर्चित-चर्वण किया है किंतु इस विज्ञान की प्रणाली का लाभ उपन्यास के लिए वे उठा नहीं पाये हैं। 'अज्ञेय' और इलाचंद्र जोशी की तुलना में द्वारकाप्रसाद ने 'घेरे के बाहर' में मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनायी है और 'रोगी का इतिहास' (case book) ही तैयार कर दिया है। द्वारकाप्रसाद ने 'अज्ञेय' की तरह यौन जीवन के तथ्यों पर कवित्वपूर्ण शैली और वर्णनों का रेशमी आवरण नहीं रखा है, न ताली के सुराख से शयनागार की झँकी भर दिखाकर निर्भीकता का श्रेय लेने की कोशिश की है। किंतु, दूसरी ओर, खल्लाट्-शैली के कारण उनका उपन्यास अधिकतर 'रोगी का इतिहास'-मात्र बनकर रह जाता है। यह निःसंदिग्ध है कि इन सभी कृतियों में केवल 'नदी के द्वीप' में ही यत्र-तत्र हिंदी का ऐसा दृढ़-बंध, प्रौढ़ और परिष्कृत गद्य मिलता है। जिसमें अंग्रेजी गद्य का उत्कर्ष आत्मसात् हो गया है।

विदेशी साहित्य की साम्यवादी धारा ने भी हिंदी के समसामयिक उपन्यासकारों को प्रभावित किया है। साम्यवादी विचार-धारा को यशपाल ने अपने बहुसंख्यक उपन्यासों में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है, किंतु वे घूम-फिरकर व्यक्ति की उस वर्जित परिधि में बँध जाते हैं, जिससे बचकर सामूहिक जीवन का चित्रण करने का सिद्धांत साम्यवादी लेखक दुहराते रहते हैं। साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गये राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास भी उपन्यास कम और नवीन दृष्टि से पुनर्निर्मित इतिहास अधिक हो गये हैं। हिन्दी के साम्यवादी साहित्यिक किसान-मजदूर के लेखक रूप में प्रेमचंद की वीर-पूजा करते हैं। इस वर्ग के संबंध में प्रेमचंद ने सचमुच ही

1. उदहारणार्थ, भगवती प्रसाद वाजपेयी, सियाराम शरण गुप्त आदि।

2. 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' पर मैंने तनिक विस्तार से त्रैमासिक 'साहित्य', जनवरी 1952, में विचार किया है।

आश्चर्यजनक ज्ञान और अनुभव के साथ लिखा भी है। उनके बाद किसी उपन्यासकार ने किसान-मजदूर वर्ग से संबद्ध उल्लेख्य उपन्यास नहीं लिखा हैघोर साम्यवादी उपन्यासकारों ने भी नहीं।

हिंदी-उपन्यास की एक ही अन्य धारा है जो क्षीण होने पर भी विचार के योग्य है। वृंदावनलाल वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिसने हिंदी में स्काट, राखालदास वंघोपाध्यय या मुंशी के अभाव की पूर्णतः पूर्ति हो जाती है। किंतु उपन्यास के लिए इतिहास का एकमात्र महत्त्व यह है कि वह विषय को बहुत दूर पर रखकर अवलोकनीय बना सकता है। अब जब तक इस दृष्टिकोण से ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे जाते तब तक उनका विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता।

शिवचंद्र, उपेंद्रनाथ 'अशक', रामचंद्र तिवारी, विष्णु प्रभाकर, देवराजऔर ऐसे तो अनेक दूसरे नाम हैंहिंदी-उपन्यास को बना-बिगाड़ रहे हैं। यह नव-निर्माण की अनिवार्य प्रक्रिया है।

(आलोचना-5, 1952 से)

## जासूसी और ऐतिहासिक उपन्यास

नलिन विलोचन शर्मा

### जासूसी उपन्यास

हिंदी-साहित्य की अपूर्णताओं और अभावों की तालिका काफी लंबी-चौड़ी है। आप चाहें तो इस तालिका के बिल्कुल नीचे ही सही, जासूसी उपन्यासों और कहानियों को भी स्थान दे सकते हैं, लेकिन स्थान देना जरूर पड़ेगा।

हिंदी के विद्वान् और गंभीर पाठक निस्संदेह इस शीर्षक को देखकर नाक-भौं सिकोड़ेंगे। जब हिंदी-साहित्य के सामने इतनी बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं तो यह बेवक्त की शहनाई कैसी?

मेरा नम्र निवेदन है कि हिंदी के साहित्यिकों की विद्वत्ता और गंभीरता गौरव की वस्तु है और उनका प्रदर्शन आवश्यकता से अधिक हो चुका है और हो रहा है। हिंदी के बालखिल्य कवि भी क्रांतप्रज्ञ दार्शनिक के रूप में अवतीर्ण होते हैं, नवसिखुए औपन्यासिक भी संसार को कोई अभिनव संदेश देना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। अब गीतों की कहानियों के 'पहले संग्रह' भी दूसरों की या अपनी लिखी हुई भूमिकाओं से भारी बन कर ही प्रकाशित होते हैं।

साहित्य के बहुत सारे रूप हिंदी में अछूते पड़े हुए हैंचूँकि, शायद, हम उन्हें साहित्य का हल्का भाग समझते हैं। लेकिन साहित्यिक यदि समर्थ हैं तो न कोई विषय हल्का हो सकता है, न साहित्य का रूप ही। हिंदी में व्यक्तिगत निबंध, पर्सनल एस्से, नहीं के बराबर है। अंग्रेजी साहित्य से जानकारी रखने वालों को मालूम है, वहाँ इसका क्या महत्त्व है। व्यक्तिगत निबंधों के कारण ही वहाँ के कितने लेखक साहित्य के महारथी माने जाते हैं। और व्यक्तिगत निबंध है क्या? संक्षेप में उनकी परिभाषा दी जाती हैएलेगैट नानसेंस, उनमें 'क्या' का कोई महत्त्व नहीं, 'कैसा' ही खास बात है। हिंदी में सियारामशरण जी ने एक हद तक 'सच-झूठ' में इस अभाव की पूर्ति की है, इधर काशी के साप्ताहिकों में भी इस ओर कभी-कभी कोई प्रयत्न दीख पड़ जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे निबंध भारतेन्दु-युग में काफी लिखे गए,



लेकिन विकास के विपरीत परिमाण में विविधता का हास होता गया; विद्वता ने मौलिकता को, गंभीरता से हास्य-प्रियता को साहित्य से अपदस्थ-सा कर दिया।

जासूसी गल्प का प्रारंभ भी विविधता-प्रधान भारतेंदु-युग में ही हुआ, लेकिन साहित्य के दूसरे अंगों के साथ-साथ उसका विकास नहीं हो सका। वह कला की पदवी पाने के बदले चार आना-सीरीज की चीज बन गई। जासूसी गल्प के नाम पर प्रधानतः अंग्रेजी की सस्ती पुस्तकों के अनुवाद या रूपांतर ही मिलते हैं। हीलर कंपनी की परम उदार नीति का भरोसा नहीं रहता तो शायद इनका प्रकाशन भी बंद हो चुका रहता जिसके लिए किसी को भी अफसोस नहीं होता।

लेकिन जासूसी गल्प कोई हेय चीज नहीं, न हिंदी के पाठकों में इसकी माँग की ही कमी है। हिंदी के पाठक ही कुछ नहीं तो प्रतिवर्ष लाखों रुपए के अंग्रेजी जासूसी उपन्यास पढ़ डालते होंगे।

अंग्रेजी में इसी बेहद माँग के कारण जासूसी गल्प, साहित्य का सम्मान्य नहीं तो उल्लेखनीय अंग बन ही चुका है। चेस्टरटन जैसे शरीर और बुद्धि से दिग्गज लेखकों ने जासूसी उपन्यास लिखे और कैनन डायल तो इस अंग के क्लासिकल राइटर हो चुके, आचार्य ही मान लिए गए हैं। साहित्य के इस अंग ने अंग्रेजी में इतनी उन्नति कर ली है कि साधारणतः कॉलेज की कहानियों की पाठ्य-पुस्तकों में एक-दो जासूसी कहानियाँ अवश्यमेव संगृहीत रहती हैं और उनकी विशेषताओं की आलोचना अध्यापक और आलोचक उसी प्रकार करते मिलेंगे, जिस प्रकार कविता, नाटक या उपन्यास कहानी की।

(‘हिन्दी उपन्यास : विशेषतः प्रेमचंद’ नामक पुस्तक से)

## ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यास की सरल परिभाषा है कि उसके पात्र, पृष्ठाधार और घटनाएँ अतीत से ली जाती हैं। लेकिन यह परिभाषा अब तक अपर्याप्त बनी रहती है जब तक हम ऐसे कुछ प्रश्नों के उत्थापन से उसे शाणित नहीं करते, जैसेपात्रों में से कितने ऐतिहासिक हैं? वे मुख्य पात्र हैं या गौण? पृष्ठाधार का क्या महत्त्व है? उसमें युग-विशेष के विवरणों पर जोर दिया गया है अथवा राष्ट्रीय जीवन के स्थायी तत्त्वों पर? अतीत से क्या तात्पर्य है? कागजात में बँधा हुआ सुदूर अतीत या सजीव परंपराओं का निकट अतीत?

ये प्रश्न ऐतिहासिक उपन्यासों को, सामान्य रूप से, तीन श्रेणियों में विभक्त कर देते हैं। पहली श्रेणी है युगीन उपन्यास (*The Period Novel*) की, जो ऐतिहासिक गवेषणा और प्रत्नतात्त्विक भावना से प्रेरित होकर लिखा जाता है और जिसमें किसी अतीत खुश या समाज का सांगोपाश निर्माण किया जाता है। इसमें साधारणतः पात्र सजीव मनुष्य होने के बदले युग-विशेष के व्याख्यात्मक उदाहरण मात्र बन जाते हैं। दूसरी श्रेणी में ऐतिहासिक (*The Historical Romance*) परिगणनीय है, जिसमें वर्तमान की एकरसता और जटिलता से पलायन कर सुदूर अतीत के राजाओं और वीरों के इतिहास-प्रसिद्ध कार्यों की कथा रहती है। तीसरी श्रेणी में वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यास आता है। इस प्रकार का उपन्यास यथार्थ से बचने का प्रयास नहीं करता, अपितु उसे तीक्ष्ण और परिवर्धित ही करता है। अतीत की घटनाएँ, कम या अधिक स्पष्टता के साथ, वर्तमान से संबद्ध हो सकती है। ऐसा उपन्यास समकालीन परिस्थितियों की वास्तविकता मात्र से मूलभूत और चिरंतन समस्याओं और उद्देश्यों को अलग कर देता है। चूँकि सच्ची ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाला लेखक वर्तमान की अपेक्षा अतीत को

अधिक महत्वपूर्ण नहीं मान सकता, इसलिए वह सुदूर अतीत से बचता है और ऐतिहासिक व्यक्तियों और इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं का कम-से-कम उपयोग करता है। यही कारण है कि प्रायः ऐसे उपन्यास में लेखक की एक पीढ़ी भर पहले का पृष्ठाधार रहता है। इससे लाभ यह होता है कि लेखक ने अपने शैशव में जो कहानियाँ सुनी हैं, उनकी स्मृति सशक्त सर्जनात्मक प्रेरणा बन जाती है।

ऐतिहासिक उपन्यास की एक चौथी श्रेणी भी है, जो अंग्रेजी के अनधिक प्रसिद्ध आधुनिक ऐतिहासिक उपन्यासकार एल. एच. मेयर्स की कृतियों से बन गई है, और जिसका निरूपण उन्होंने अपने उपन्यास 'द रूट ऐण्ड फ्लावर' की भूमिका में कुछ विस्तार से किया है। हम यहाँ उसका एक काफी बड़ा अंश प्रस्तुत करना उपादेय समझते हैं :

“यह (द रूट ऐण्ड द फ्लावर) ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है, यद्यपि इसका कार्य (action) अकबर (जो एलिजाबेथ का समसामयिक था) के काल में स्थापित किया गया है। इस उपन्यास में जीवन और चिन्तन की पूर्वीय प्रणालियों के सुनिश्चित चित्रण का भी प्रयास नहीं किया गया है। स्थानिक रीति-रिवाज, इतिहास और भूगोल के साथ भी मैंने यथेच्छ छूट ली है; जो तथ्य उपयोगी थे उनसे काम लिया है और जो असुविधाजनक सिद्ध होते थे उन्हें तोड़ा-मरोड़ा भी है या उपेक्षित कर दिया है। इस उपन्यास के केवल चार पात्र ही वास्तविक व्यक्तियों के नाम से अभिहित हैं : सम्राट् अकबर; उसके पुत्र सलीम और दानियल; और अकबर के आध्यात्मिक सलाहकार शेख मुबारक। यह भी उल्लेखनीय है कि इन पात्रों में से भी जो एक पात्र सत्य को ध्यान में रखते हुए चित्रित किया गया है वह है अकबर।

और अब मैं इस बात का खुलासा करना चाहता हूँ कि मैंने क्यों सोलहवीं शताब्दी के अवसानयुगीन भारत को अपने उपन्यास के चित्रपट के लिए चुना है। मेरा उद्देश्य रहा है कि मैं पाठक को जीवन के उस यंत्र से दूर हटा ले चलूँ जो उसके लिए सुपरिचित है; उन नामों और स्थानों के उल्लेख से बचूँ जो ऐसे साहचर्य के आधार हैं, जो मेरे लक्ष्य के लिए अनावश्यक हैं; पाठकों का ध्यान इस प्रकार आकृष्ट करूँ कि आज की सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ व्यवधान न बन पाएँ। यह होते हुए भी, मैं जानता हूँ कि बहुत ऊँची उड़ान भरना खतरे से खाली नहीं है। वह कथाकार जो इतिहास और भूगोल की परिधि के बिलकुल बाहर उड़ जाता है, प्रारंभ में ही अपने सामने निस्सीम शून्यता पाता है। ऐसी स्थिति में उसे सभी कुछ प्रारंभ से ही कहना पड़ता है; यह तो मान नहीं लिया जा सकता कि उसके अतिप्राकृत लोक में भी आकाश नीला ही है और घास हरी। फलतः इस प्रकार की आत्यंतिक स्वतंत्रता लेखक और पाठक दोनों के लिए समान रूप से दूभर हो जाती है।

किंतु अकबरकालीन भारतवर्ष का उदाहरण लीजिएचित्रपट पर तत्काल पर्याप्त, पर अत्यधिक नहीं, रेखाएँ उभर आती हैं। राजाओं और हाथियों, सफेद संगमरमर के महलों, खजूर के कुंजों इत्यादि के एक अस्पष्ट चित्र की मैं कल्पना करता हूँवह सुनिर्धारित तो नहीं है, किंतु उसमें पृष्ठभूमि के लिए उपयुक्त, सुंदर और घुले-मिले रंगों की प्रचुरता है। और यही वह चीज है जिसे मैं चाहता हूँ। आपका जो सुविधाजनक सहज अज्ञान है। उसका मुझे भरोसा है। उससे मुझे आवश्यक सभी चीजें मिल जाती हैं, बाकि तो मेरा काम है। हाँ, लेकिन जो क्षेत्र मैंने चुना है उसमें वह कौन-सी बात है जिसे करने का मेरा इरादा है? पाठक के मन में यह सदेह उत्पन्न हो सकता है कि उसके सम्मुख जो है वह एक दार्शनिक उपन्यास है, एक ऐसा उपन्यास जिसमें विभिन्न पात्र विचारों के मानवीकरण मात्र हैं। 'और अगर यह बात है', पाठक कहेगा, तो 'पुस्तक न तो उपन्यास के रूप में और न ही दर्शन के रूप में ही पढ़ने

के योग्य हो सकती है।' मैं उससे सहमत हूँ, और आशा करता हूँ कि यह उपन्यास दार्शनिक है तो एक दूसरे ही अर्थ में। ऐसे तो शायद ही कुछ प्राणी होंगे जो सृष्टि के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, जब वे इस पर विचार करते हैं तो जिज्ञासा, विस्मय, यहाँ तक कि आतंक की भावना से बचे रहते हों। फलतः जो लेखक दार्शनिक तत्त्व वे बिल्कुल ही बचे रहने को दृढ़ प्रतिज्ञा है, उसे जिस तरह भी हो सके, मानव-प्रकृति के इस पक्ष की पूर्ण अवज्ञा करनी पड़ेगी। बहुतेरे उपन्यासकार किसी-न-किसी कारण ऐसा करते ही हैं; और, मैं यहाँ यह भी जोड़ दूँ, सृष्टि की व्याख्या करते हुए अनेक पेशेवर दर्शनिक भी ऐसा कर गुजरते हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में ऐसा करना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि जिसकी हम अवज्ञा करते हैं, उसे हम भूल भी जा सकते हैं। और निश्चय ही वे प्रश्न, जो प्रत्येक शिशु के मन में उठा करते हैं, याद रखे जाने चाहिए और कुछ नहीं तो कम से कम इसलिए याद रखे जाने चाहिए कि वे मानवीय आवश्यकताओं में गंभीरतम है। आवश्यकताओं को उपेक्षा कर दीजिए, इन प्रश्नों को भूल जाइए, और होगा यह कि आप संतुष्ट हो जाएँगे ऐसी कला से जो क्षुद्र है, ऐसे तक से जो पंडिताऊ है, ऐसे ज्ञान से जो रोटी की तरह तृप्तिकर होने के बदले पत्थर की तरह अग्राह्य है।

व्यक्तियों का वर्णन करने वाले उपन्यास और सृष्टि का वर्णन करने वाले दर्शन में, मैं समझता हूँ, एक नैसर्गिक संबंध है। जब तक एक उपन्यासकार मनुष्यता की साधारण नैतिक और दार्शनिक समस्याओं के प्रति कलात्मक तटस्थता प्रदर्शित करता है, तो हममें कुछ है जो विरोध में उठ खड़ा होता है हम उस पर आत्मकेंद्रित वाग्जाल, या कलात्मक पाखंड का अभियोग लगाते हैं। उदाहरण के लिए सभी भावनाओं को समान रूप से महत्त्वपूर्ण, और चरित्र के सभी प्रकट रूपों का सार्थकता के स्तर पर, मान लेने के कारण अपनी उपलब्धि में कुछ भी जोड़ नहीं हो सके हैं, वे केवल अपना और हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, क्योंकि हम समझते हैं कि वे कलात्मकता के एक क्षुद्र रूप का उन्नयन करना चाह रहे हैं।

जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरा विश्वास है कि जिस मनुष्य में नैतिक रुचि है; उसके प्रति अगर वह आदर दिखाता है तो वह अपना हित करता है। इसके लिए, जैसा मैं देखता हूँ, यह जरूरी नहीं है कि बौद्धिक अखंडता का बलिदान किया जाय; जरूरी सिर्फ यह है कि विचारण का प्रयोग अधिक कल्पनात्मकवस्तुतः अधिक तटस्थ हो। इसमें शायद ही संदेह का अवकाश हो कि संप्रति विचार का यह सबसे आवश्यक कर्तव्य है कि वह संपूर्ण मानस में अपनी स्थिति की परीक्षा करे, यह सोचे कि किस प्रेरणा से वह काम करता है, किन क्षेत्रों में वह नियमों की स्थापना कर सकता है, अपने को छोड़ कर वह किन दूसरी मानसिक प्रक्रियाओं को कितने अधिकार दे सकता है, और अंततः नैतिक और सौंदर्यात्मक बोध की प्रतियोगी माँगोंयदि वे सचमुच प्रतियोगी हैंके संबंध में क्या निर्णय दे सकता है। जहाँ कलात्मक बोध और उसके परिष्कारों को बहुत महत्त्व दिया जाता है, वहीं हम नैतिक बोध के बारे में बहुत कम सुनते हैं। इसकी उपेक्षा की जाती है और उस बद्धमूल आध्यात्मिक ग्राम्यता की ओर, जो हमारी सभ्यता की आत्मा में व्याप्त है, साधारणतः हमारा ध्यान तक नहीं जाता। कलाओं के पारखी होते हैं, किंतु क्या चरित्र के भी पारखी होते हैं? ऐसा साधारण विश्वास है कि नैतिक और आध्यात्मिक विवेक का गुण सार्वभौम है, और कम या अधिक सभी मनुष्यों में वर्तमान रहता है। लेकिन क्या यह वस्तुतः सत्य है? और क्या चरित्र की सभी बातें सतह पर रहती हैं जो चाहे एक नजर में उनका पता पा जाए? क्या चरित्र में कम परिष्कार होते हैं, या उन्हें परख सकना कठिन है? क्या व्यक्तियों में कला-कृतियों से कम गुण विस्तार रहता

है? और अंत में, क्या यह सचमुच ठीक है कि जहाँ कला में गुण का मूल्यांकन किया जा सकता है वहाँ व्यक्तित्व में सुन्दर-असुन्दर का भेद केवल व्यक्तिगत पसंद और नापसंद का है? मुझे आशा है, ऐसा नहीं है।”

ऐतिहासिक उपन्यास, जैसा हिन्दी या गुजराती में लिखा गया है, गहन, दर्शनोत्क और सार्थक नहीं है। वह 'Big Bow-wow stories' से ज्यादा कुछ नहीं है। स्काट ने इन शब्दों में अपने वैसे ऐतिहासिक उपन्यासों का उल्लेख किया था जिनमें जीवन के उल्लास और अतीत के गौरव की भावना से पूर्ण साहस, रुमानियत और प्रकृति-वर्णन तो थे, किन्तु जिनमें 'वह ऐंद्रजालिक स्पर्श नहीं था, जो वर्णन और मनोवेगों की सत्यता से अतिशय साधारण वस्तुओं और चरित्रों को महत्त्वपूर्ण बना देता है।

हिन्दी या गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासकार क्या स्काट की तरह अपना वास्तविक मूल्य समझते हैं?

(त्रैमासिक साहित्य, वर्ष 4, अंक 1, 1953 ई. से)

## हिन्दी-उपन्यास का धरातल

देवराज

हिन्दी-उपन्यास अथवा हिन्दी-साहित्य की जिस समस्या का हम इस समय संकेत करना चाहते हैं, यह एक प्रकार से वर्तमान भारतीय संस्कृति की समस्या है। संक्षेप में यह समस्या यह है कि विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में हम अन्तर्राष्ट्रीय धरातल को किस प्रकार प्राप्त करें। हमारे देश में अभी ऐसा वातावरण ही नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में बहुत ऊँची कोटि का मौलिक चिन्तन कर सके। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में स्थिति कुछ अच्छी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ भी वातावरण सन्तोषप्रद है। पहली बात यह है कि साहित्य एवं साहित्यकार को शेष सांस्कृतिक वातावरण से अलग नहीं किया जा सकता। जिस देश में दूसरे क्षेत्रों में उच्चकोटि का सांस्कृतिक कार्य नहीं हो रहा है वहाँ, अनिवार्य रूप में, साहित्य का स्तर भी बहुत ऊँचा नहीं हो पाता। दूसरे क्षेत्रों में समृद्ध विचारों एवं उनकी वाहक व्यंजनाओं की कमी या अभाव होने के कारण साहित्यकार युगाभिव्यक्ति के साधनों से न्यूनानुचित रह जाता है। हमारे देशी साहित्यों, विशेषतः हिन्दी-साहित्य, के साथ एक दूसरी परिस्थिति भी रही है। इन साहित्यों का धरातल देश के श्रेष्ठतम विद्वानों के धरातल से प्रायः निम्नतर रहा है।

आगे हम कथा-साहित्य या उपन्यास की ही विशेष चर्चा करेंगे। अवश्य ही पिछले तीन-चार दशाब्दों में हमारे कथा-साहित्य ने तेजी से उन्नति की है। किन्तु हमारी समीक्षा इस उन्नति का ठीक-ठीक विश्लेषण कर पाई है, इसमें सन्देह है साथ ही इस समीक्षा को अभी यह भी ठीक अवगत नहीं है कि हमारे कथा-साहित्य में क्या कमियाँ हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी-लेखकों तथा समीक्षकों की प्रतिभा प्रायः उपचेतन धरातल पर व्याप्त होती रही है। प्रायः हिन्दी-समीक्षक अपने साहित्य के मूल्यांकन में ऐसे मानों का प्रयोग करते रहे हैं जो सार्वभौम नहीं हैं और जिनका समुन्नत देशों में साग्रह प्रयोग नहीं किया जाता। विशेष लक्षित करने की बात यह है कि हिन्दी-समीक्षक की रुचि एवं समीक्षा-बुद्धि का विकास प्रायः वर्तमान हिन्दी-साहित्य के विकास का समानान्तर रहा है। काव्य-क्षेत्र में 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' क्रमशः

हमारी साहित्यिक लब्धि एवं समीक्षात्मक अभिरुचि दोनों का प्रतिमान रहे हैं। कथा-क्षेत्र में 'गबन', 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'गोदान', 'सुनीता' और 'शेखर' उसी प्रकार हमारी उपलब्धि एवं रुचि के धरातल को प्रतिफलित करते रहे हैं। हिन्दी का समीक्षक हिन्दी से बाहर के साहित्यों तक कम पहुँचता रहा है, भले ही वह यूरोपीय समीक्षा-ग्रन्थों को उलटता-पलटता रहा हो; प्रायः हिन्दी लेखक ही अपनी शक्ति के अनुसार बाहरी साहित्य से प्रेरणा लेता या पाता है। किन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अब तक हिन्दी के लेखक और समीक्षक दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकसित धरातल से सुपरिचित नहीं हो सके हैं। स्थूल रूप से साहित्य में दो तत्त्व होते हैं, एक अनुभूति और दूसरा कल्पना। एक तीसरा तत्त्व भी है, जिसे हम लेखक के दृष्टि या 'पस्पेक्टिव' कह सकते हैं। श्रेष्ठ कथाकारों की कल्पना यथार्थनुकारी होती है, वह वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में, इस कल्पना की सृष्टि पूर्णतया विश्वसनीय एवं प्रेषणीय होती है। लेखक की 'दृष्टि' उसके द्वारा किये गए जीवन-स्थितियों के चयन एवं उनकी व्याख्या को प्रभावित करती है।

उच्चकोटि का कथाकार जीवन के उन्हीं पहलुओं का चित्रण करता है जिनसे वह सुपरिचित है। आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यास में कथा-वस्तु थोड़ी ही रहती है; अपेक्षाकृत छोटी कथा-वस्तु की परिधि में श्रेष्ठ उपन्यासकार जीवन के अनगिनत तत्त्वों को देख लेता है। प्राचीन कथाओं में कथावस्तु जितनी विपुल होती थी, जीवन की स्थितियों का विश्लेषण उतना ही कम मार्मिक। 'अलिफ लैला' की एक छोटी-सी कहानी में आप दर्जनों प्रसंगों का उड़ता विवरण पढ़ जाते हैं। मार्मिक विश्लेषणों की बहुलता के कारण ही टॉलस्टॉय की 'एना केरीनिना' तथा 'वार एण्ड पीस' बृहत् ग्रन्थ बन गए हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास मार्मिक नहीं बन सके हैं। उनके उपन्यासों में प्रायः कथा-वस्तु बहुत विस्तृत हो जाती है और मार्मिक विश्लेषण के स्थल उसी अनुपात में विरक्त हो जाते हैं। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का देश के बहुत-से वर्गों तथा विभिन्न कोटि के मनुष्यों से परिचय है, किन्तु सच यह है कि वे बहुत कम पात्रों का मार्मिक एवं गम्भीर चित्रण कर सके हैं। उनके उपन्यासों में 'गोदान' ही आधुनिक उपन्यास के विकसित धरातल पर पहुँचता दिखाई देता है, यद्यपि उक्त उपन्यास में भी जीवन के सतही विवरणों का अभाव नहीं है। प्रस्तुत लेखक को हाल ही में बंकिमचन्द्र का 'कपाल कुण्डला' पुनः पढ़ने का अवसर मिला। उसे यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि कुछ ही वर्ष पहले तक, सम्भवतः आज भी, ऐसे उपन्यासों की गणना ऊँचे साहित्य में होती रही या होती है। निस्सन्देह श्री वृन्दावनलाल वर्मा बंकिमचन्द्र से श्रेष्ठतर लेखक हैं, कम-से-कम यथार्थानुकारिता में यदि वर्मा की 'दृष्टि' कुछ अधिक परिष्कृत एवं विवेक-सम्पन्न होती है तो वे और भी अच्छे उपन्यासकार बन सकते हैं।

यथार्थानुकारिता की अनेक कोटियाँ और धरातल हैं। किन्हीं भी दो पात्रों की बातचीत और उसके सम्बन्ध का चित्रण मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है। सामाजिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों और उनकी विभिन्न प्रेरणाओं का उद्घाटन दूसरी ओर शायद उच्चतर, यथार्थ दृष्टि की माँग करता है। इससे भी अधिक दृष्टि एवं प्रतिभा की जरूरत है, जीवन के यथार्थ में से स्थितियों एवं मनोवृत्तियों का महत्त्वपूर्ण चयन करने के लिए। इतना काफी नहीं है कि लेखक अपने समीप के जीवन को और केवल अपने युग के जीवन को, जाने। श्रेष्ठ लेखक की दृष्टि जीवन के उन प्रसंगों को पकड़ेगी जो मानव-इतिहास की अपेक्षाकृत स्थायी प्रेरणाओं को प्रतिफलित करते हैं। 'एना केरीनिना' के प्रथम परिच्छेद में जिस समस्या का संकेत है अनेक बच्चों की माँ का यौवन ढल जाने पर उसके अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ या सप्राण

पति का अन्यत्र तृप्ति खोजनावह विशिष्ट वर्गों के दाम्पत्य-जीवन में एक स्थायी समस्या है। इसी तरह 'वार एण्ड पीस' में पीयरे या पीये के सहसा समृद्ध हो जाने पर उसके समाज की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का उसके प्रति आकृष्ट दीखने लगना, अभिजात सामाजिक जीवन, एक गम्भीर तथ्य को प्रकट करता है।

इन दृष्टियों से हिन्दी के, और कुछ हद तक भारत के, उपन्यास-लेखकों की यथार्थ चेतना अर्ध-विकसित हो रही है। इसका एक कारण हैहमारे लेखकों की उक्त चेतना का शिक्षण कर सकने वाली संस्थाओं या परिस्थितियों का अभाव। एक महान् लेखक की चेतना को शिक्षित करने के लिए समूचे राष्ट्र को साधना करनी पड़ती है; उस शिक्षण में देश के विभिन्न विज्ञान-विशारदों का उतना ही हाथ रहता है जितना कि इतिहासकारों का। हमारे देश में इन 'एजेन्सीज' का आज भी अभाव है। आज तक न तो भारतवर्ष का कोई बढ़िया वैज्ञानिक इतिहास की प्रस्तुत कया जा सकता हैऐसा इतिहास जो हमारी विभिन्न जय-पराजयों की तुलना मूलक एवं विश्वसनीय विवरण देता होऔर न हमारे किसी इतिहासकार ने सभ्यताओं के उत्थान-पतन जैसे प्रश्नों से उलझाने का प्रयत्न ही किया है। जो देश स्वतन्त्र नहीं हैं, जिसके नेता और इतिहासकार दोनों यथार्थ को देखने-समझने के अनभ्यस्त हैं, वहाँ के लेखकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे जीवन को प्रौढ़, इतिहासाधारित, यथार्थ दृष्टि से देखेंगे और चित्रित करेंगे।

हम भारतीय सदियों से स्वप्नदर्शी रहे हैं, 'विशफुल थिंकिङ्ग' या मन-मोदकों के अभ्यस्त। हमारी लम्बी गुलामी का, शायद, यह सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। यदि हमें अपने उपन्यासों में इस मनोवृत्ति का प्रतिफल मिले, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जैनेन्द्र जी के 'व्यतीत' में अमीर नायिका गरीब नायक के पीछे अपनी समृद्धि लिये घूमती-फिरती है, एक दूसरी महिला भी उसकी रुपये से मदद करने को सदैव तैयार रहती हैं। शरत् की राजलक्ष्मी, नायक श्रीकान्त की आर्थिक समस्या को अक्सर हल कर देती है, यद्यपि राजलक्ष्मी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह गायिका होने के कारण जहाँ धन पा सकती है, वहाँ किसी सहृद भले-मानुस का प्रेम आसानी से नहीं पा सकती। किन्तु, इस प्रकार की गायिका या वेश्या अपवाद रूप है, वह समाज का व्यापक ऐतिहासिक सत्य नहीं है। यही बात रमणलाल वसन्तलाल देसाई के 'पूर्णमा' उपन्यास के सम्बन्ध में कही जा सकती है। श्री इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' में एक फैशनेबिल परिवार की लड़कियों का कुरूप या विकलांग कवि-नायक की ओर आकृष्ट होना उसी प्रकार सामाजिक सत्य नहीं है। इस दृष्टि से 'पथ की खोज' का नायक बड़ा भाग्यहीन है; उसकी प्रेमपात्री साधना अमीर होते हुए भी कभी उसकी आर्थिक सहायता नहीं करती। यों 'पथ की खोज' के अनेक स्थलों में अप्रौढ़ता अर्थात् अयथार्थ दृष्टि का पर्याप्त पुट है।

हमारे उपन्यास में बहुत-सी अपरिपक्वता आदर्शवाद के नाम पर भी आती रही है। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया के प्रेम का चित्रण कुछ ऐसी ही चीज हैसन्देह होने लगता है कि प्रेमचंद को नर-नारी के तीखे प्रेम का अनुभव भी हुआ था या नहीं। इसका मतलब नहीं कि श्रेष्ठ लेखक आदर्शवादी नहीं हो सकते, या वे नैतिकता के प्रति उदासीन होते हैं। श्रेष्ठ कलाकार नैतिकता के नियमों को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं कि वे यथार्थ जीवन के यथार्थ नियम जान पड़ें। उच्चतम कोटि का लेखक पाठक की बोध-वृत्ति का प्रवञ्चन करके नहीं, अपितु उसका पूर्ण उन्मेष करके उनका नैतिक शिक्षण करता है। यदि नैतिकता असली जीवन का नियम हैव्यक्ति और समाज की जीवन-समृद्धि का उपकरण हैतो उसकी महत्ता सिद्ध करने के लिए जीवन के यथार्थ को झुठलाना आवश्यक नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से टॉल्स्टॉय

की 'ऐना' रंगभूमि की 'सोफिया' से ज्यादा प्रभविष्णु पात्री है। साधारण दृष्टि से व्यभिचारिणी होते हुए भी ऐना हमारी वृत्तियों का जितना परिष्कार करती है, उतना सोफिया नहीं। इस प्रकार 'गोदान' के आदर्श पात्र मेहता और मालती, हमारे मनोभावों का स्थायी उन्नयन करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं।

खेद है कि हिन्दी-समीक्षा अभी तक इन सूक्ष्म प्रभेदों को देखने की अभ्यस्त नहीं बन सकी है। कोई लेखक गहरे अर्थ में नैतिक परिष्कार करने की क्षमता रखता है, अथवा एक छिछले अर्थ में 'शिक्षाप्रद' है, उसकी दृष्टि गंभीर मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सचाइयों को पकड़ती है, या समाज के सतही यथार्थ को छूती है, इसका विवेक हिन्दी का औसत समीक्षक नहीं करता। ऐसे वातावरण में श्रेष्ठ कलाकार का पनपना कठिन हो जाता है। विद्यापति की राधा की भाँति उसे यह आशंका या शिकायत बनी रहती है कि कहीं उसकी कला का माणिक्य 'कुवणिक' या घटिया पारखी के हाथों में न पड़ जाय अथवा पड़ गया है।

हिन्दी का औसत समीक्षक आलोच्य कृति को उदात्त विश्व-साहित्य के सम्पर्क में विकसित संवेदना की कसौटी पर कम जाँचता है वह प्रायः अधसोचे और अधपचे वादों का प्रयोगमात्र करता है। विश्व की सभ्यताओं के उत्थान-पतन की व्याख्या करने के लिए ट्वायनबी को आठ-दस बड़े खण्डों के महाग्रन्थ की योजना बनानी पड़ी है; हिन्दी का औसत लेखक और समीक्षक बी. ए. की डिग्री पाते-पाते, अथवा उससे भी पहले प्रगति, प्रतिक्रियावादिता आदि से सम्पूर्ण रहस्य से परिचित हो जाता है। किसी बड़े विचारक का अनुयायी बन जाना, अथवा अपने को किसी फैशनेबल वाद का हामी घोषित कर देना, उस आजीवन साधना का स्थानापन्न नहीं है जो लेखक की संवेदना का उच्चतम विकास और उसकी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन करती है। हिन्दी के जोशीले युवक-लेखक बहुत कम समझते, या समझना चाहते हैं। किन्तु इसका परिणाम क्या है? हिन्दी के दर्जनों लेखक तथा आलोचकों ने प्रगतिवाद को अपनाया, पर उनमें से कितने शुक्ल जी की चिन्तनशीलता को पा सके, और कितने 'कामायनी' जैसा काव्य भी हिन्दी को दे सके? दस-पन्द्रह बरस उछल-कूद करके आज प्रगतिवाद अपनी निष्फलता के बोझ से श्रान्त नजर आ रहा है। आशंका यह है कि कहीं तथाकथित प्रयोगवाद का भी वही हथ न हो।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)



# ऐतिहासिक उपन्यास

प्रभाकर माचवे

## आरम्भिक

इतिहास का अर्थ है इति-ह-आस यानी 'यह ऐसा हुआ।' उपन्यास का अर्थ ही है 'नवलिका' (नौवले > नाविल) या कादम्बरी। पहला घटना का यथार्थ वर्णन है। दूसरा कल्पना का रोचक रम्य विलास है। तो क्या दोनों में कोई मौलिक विरोध है? क्या यथार्थ की गौर-मिट्टी से ही हमारी कल्पना नहीं बनती? और हमारे सपनों का कुछ असर हमारे यथार्थ के निर्माण पर पड़े बिना रहता है? और फिर ऐतिहासिक उपन्यास एक कला-कृति भी है। यानी कलाकार व्यक्ति की मेधा और मार्मिक भावना से छनकर नया रूप और रंग दिखलाने वाला समाज दर्शन! कलाकार व्यक्ति समाज-निरपेक्ष नहीं है और न ही समाज के व्यक्तियों से अप्रभावित रहा है।

मेरा विचार ऐतिहासिक उपन्यास की सृजन-समस्या के इस मौलिक अन्तर्द्वन्द्व पर कुछ कहना है; जिसमें मेरे पढ़े हुए इतिहास-वृत्तान्त और उन पर लिखे गए आख्यानों की बात भी आ जायगी। साथ ही अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, बाँग्ला, गुजराती और अन्यान्य देशी-विदेशी ऐतिहासिक उपन्यासों की चर्चा भी होगी। ऐतिहासिक उपन्यास की समस्याएँ भी इसी में आयेंगी।

## इतिहास का दर्शन

हेगेल की पुस्तक इस नाम से मैंने पढ़ी थी। बाद में मार्क्सवादियों की ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्याएँ, विशेषतः लेनिन-एंगेल्स की, और नव्य आदर्शवादी क्रोचे और तर्कवादी रसेल की भी इस विषय में गवेषणाएँ और मंतव्य मैंने पढ़े हैं। एंगेल्स से हेगेल के आदर्शवादी इतिहास-दर्शन के विरोध में 'एण्टी-डूहरिंग' में लिखा है 'The Hegelian system as such was a colossal miscarriage. It suffered from an internal and insoluble contradiction.' हेगेल एक ओर इतिहास को निरा विकास मानता है और दूसरी ओर इसी को चरम सत्य भी कहता है। यह परस्पर-विरोधी विधान है। मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जैसे मैंने अपनी एक कविता में

लिखा था

मानव, तेरा क्या इतिहास?  
ज्यादह आँसू, थोड़ा हास  
रक्तपात साम्राज्य-विनास,  
चक्र-नेमि-क्रम पुनर्विकास!

इतिहास की प्रगति द्वन्द्वात्मक निश्चित है। परन्तु इसके विषय में तीन तरह के मत-विश्वास बहुप्रचलित हैं। एक मत को हम आवर्तवादी कहें। इनके अनुसार इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। हम पुनः लौटकर वहीं पहुँचेंगे जहाँ पहले थे। और इस तरह से मनुष्य से कृतित्व का सारा दायित्व और सारी महत्ता छीनकर किसी अज्ञात, रहस्यवादी शक्ति (ईश्वर, कर्म, नियति प्रकृति या जो कुछ भी उसे कहें) के हाथों उसे सौंप देना है। इस मत के लोग पुनरुज्जीवनवादी होते हैं। उनके अनुसार फिर से हिन्दू या आर्य 'पद-पादशाही' का साम्राज्य हो सकेगा, या राम के राज्य की पुनरावृत्ति हो सकेगी। इन संकीर्ण पुनरुत्थानवादियों के तर्क से यदि कोई यह कहे कि पुनः 'कृष्णन्तो विश्वम् बौद्धम्' हो जायेगा या फिर से मुगलों की सल्तनत या गोरों की कम्पनीशाही भारत में आ जायेगी, तो लोग हँसने लगेंगे। परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसार जीव की यह पुनः मूल की ओर जाने की वृत्ति (एटैविज्म) एक प्रबल स्फूर्तिदायक प्रवृत्ति है। कहना नहीं होगा कि यह इतिहास-दर्शन चाहे कितना ही आदर्शवादी हो, कितना अवैज्ञानिक और अयथार्थ है। कलियुग के बाद फिर से प्रलय होगी और हजरत नूह की किशती में सिर्फ आदम और होआ मौज करेंगे, यह मानना अणु-युग में एक मजाक-मात्र है।

इसी आदर्शवादी पुनरुज्जीवनवादी वृत्ति को घटनाओं की तर्क-प्रतिष्ठा देकर और वैज्ञानिकता का बुर्का पहनाकर टायनबी-जैसे इतिहास-वेत्ता भी एक दूसरी दृष्टि इतिहास के बारे में देते हैं। वह है उत्थान-पतन की आवृत्ति, प्रतीस्य-समुत्पाद की तरह लहरियों का कार्य-कारण-परम्परा की तरह एक के बाद दूरी का आना, यही इतिहास का सत्य है। इसमें भी मनुष्य केवल तरंगों पर के फेन-बुदबुद की भाँति उठकर फूट जाते हैं। 'वे केवल महामिलन के चिन्ह की तरह बचे हैं।' यह वैसे तो बहुत-कुछ तर्क-संगत इतिहास-दर्शन जान पड़ता है, परन्तु यह पहले दर्शन की भाँति निराशावादी न होने पर भी स्थिति-व्यापकवादी दर्शन अवश्य है। इसमें मानवी प्रगति के लिए कोई प्रयोजन, संस्कृति की निरन्तर ऊर्ध्वगति का कोई अभिप्राय नहीं दिखाई देता। हमारे कई साहित्यिकों ने जैसे पहली शैली अपनाई थी, दूसरी शैली भी कम प्रमाण में नहीं अपनाई गई है। इस विचार-सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह महापुरुषों सा स्फोटक घटनाओं की संगति कैसे लगाई जाय।

इतिहास का यह तीसरा दर्शन भी है जो ऊपर के दोनों दर्शनों के ग्राह्यांश को ग्रहण करके, इतिहास और व्यक्ति-मानव या मानव-समूह के सम्बन्धों को अधिक वैज्ञानिक ढंग से देखने का यत्न करता है। अब इतिहास कोई महाकाल की तरह होआ नहीं है, और न ही महासागर की तरह सदा हिलोरें मारने वाला, पर उसी सीमा की मर्यादा में रहने वाला पंचतत्त्व में से एक महाभूत-मात्र है। अब इतिहास मनुष्य-निर्मित, सुनिर्दिष्ट, दिशा-युक्त गति-विधि है। काल मनुष्य की चेतना की मर्यादा ही नहीं, चेतना-सापेक्ष तत्त्व हैबुद्धिगम्य और परिवर्तनक्षम। अँग्रेजी कवि आडेन ने जैसे कहा था :

'दि सैंड्स आफ टाइम  
आर प्लास्टिसीन इन माइ हैंड!'

यानी काल-घटिका की रेती के कण-क्षण पर चुपचाप खिसकने वाले मनुष्य के बस के

बाहर के निमिष-मात्र नहीं; परन्तु वह मेरे (मनुष्य के) हाथों के निरन्तर रूपाकार ग्रहण करने वाले 'प्लास्टिसीन' (मूर्ति बनाने की गीली मिट्टी की भाँति एक अर्द्ध-घन पदार्थ) की तरह हैं। यानी मनुष्य इतिहास का निर्माता भी है। यह नई भावना उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद सामने आई। और यह इतिहास बनाने वाले कोई गिने-चुने महापुरुष मात्र ही नहीं, जमात-की-जमात, वर्ग-के-वर्ग, यूथ-के-यूथ भी इतिहास बना सकते हैं यह नया तथ्य फ्रांसीसी, रूसी, चीनी तथा अन्य क्रान्तियों से उपलब्ध हुआ है। यह नया इतिहास-दर्शन इतिहास की गति को द्वन्द्वात्मक मानता है, मानो यह प्राचीन के सर्वोत्तम का समाहार कर नित-नवीन की सृष्टि करता है। यह गति केवल चक्राकार या सर्पिल नहीं पर शंखाकार (स्पाइरल) है।

**भारतीय इतिहास के उदाहरण** पहली इतिहास-दृष्टि के अनुसार भारत में वैदिक आर्यों का राज्य फिर से होगा, जैसे सावरकर ने 11 मई, 1952 को पूना की एक सभा में 'अभिनव भारत-समाज' के उत्सव में कहाहमारे पूर्वजों ने जिस सिन्धु नदी के किनारे स्नान-सन्ध्या की, वह फिर से 'गंगे चैव गोदे चैव' हमारे अखण्ड भारत में मिलेगी और महाराष्ट्रवासियों ने भीमा नदी में जिन घोड़ों को पानी पिलाया, उन्हें सिन्धु नदी में जाकर पानी पिलायावही कार्य फिर से करेंगे।' कोई भी विवेकी व्यक्ति सहज कहेगा कि यह कोरी कल्पना-मात्र है।

दूसरी इतिहास-दृष्टि के अनुसार गुप्त-मौर्य साम्राज्य उठे, गिरे; पठान-मुगल, राजपूत-मराठे-सिख-राज्य उठे, गिरे; अँग्रेजों का राज्य हुआ और वह भी नहीं रहायों हर साम्राज्य जो उठेगा अवश्य गिरेगा और इसलिए यह गर्व व्यर्थ है कि 'यूनानो-मिस्र-रोमा सब उठ गए जहाँ से!' और अब हम ही शेष हैं। इस तरह का चिन्तन हमें कहीं भी प्रगति में आस्था और विश्वास नहीं जगाता, उल्टे हमसे एक प्रकार से 'ततः किम्' वाली अकर्मण्यता जगाता है।

इसलिए तीसरी आकृति बहुत-कुछ सही है, यानी आज जो हम है, यानी भारतीय संस्कृति है, वह इतिहास के प्रभाव से कटी हुई नहीं है। इतिहास हमारे लिए केवल 'भूमियों' से भरा या खण्डित पाषाणों से भरा अजायबघर नहीं है। उससे हमें सफूर्ति ग्रहण करनी है। मानव के बल-साहस और विक्रम तथा जीवन के प्रति दृढ़ निष्ठा का पाठ सीखना है, पर उसी में रम नहीं जाना है। उतना ही काफी नहीं है। पीछे देखना है इसलिए कि आगे भी बढ़ना है, वरना वह केवल पीछे देखना ही जो जायगा। प्रगति परा गति हो जायगी। वर्तमान को भूत से तोलना बेकार है। होंगे हमारे पुरखे बड़े शेरदिल, पीते होंगे वे मन भर घी, पर उससे हमें क्या? सारा इतिहास निरी गपबाजी नहीं है, परन्तु वह आज के यथार्थ की तुलना में बहुत-कुछ कपोलकल्पित अवश्य लगता है। मनुष्य को इतिहास ने बनाया, उसी तरह मनुष्य भी इतिहास बनाता है और हर क्षण यह क्रिया चल रही है। यह नहीं कि स्वातन्त्र्य-युद्ध का जो कुछ इतिहास था वह 1857 या 1904 या 1919-20 या ;30 या '42 में आकर समाप्त हो गया। आगे कुछ होने ही वाला नहीं है, यह मानना भूल है। यह निरन्तर-विकासनशील, चिरन्तन गतिमान, सततोर्ध्वगामी प्रक्रिया है। इतिहास, यों किसी एक विभूति-विशेष या सन्-संवत् विशेष की जागीर नहीं है, उनकी तालिका-मात्र भी नहीं। विभूति-पूजकों को यह भी उदाहरण इतिहास में मिलेंगे कि कल की विभूतियाँ आत की 'विभूति' (राख)-मात्र हैं, ता कल के रज-कण आज के रत्नकण बनते जा रहे हैं। रेडियम घूरे पर ही तो पाया था मादाम क्यूरी ने।

प्रा. गं. ब. ग्रामोपाध्ये ने अपने मराठी लेख 'ऐतिहासिक कादम्बरी : कांही विचार' (नवभारत, फरवरी, 1949) में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। उनके अनुसार(1) ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना ऐसे काल में होती है जब समाज में गत इतिहास के लिए आदर और श्रद्धा होती है। (2) इतिहास में कल्पना और भावना का रंग मिला हुआ नहीं होता। उसका

सत्य-दर्शन यथासम्भव वस्तुनिष्ठ होता है। परन्तु उपन्यास में सत्याभास-मात्र होता है। (3) अतः ललित कृति में ऐतिहासिक सत्याभास का क्या अर्थ है? उपन्यासकार उस समय की दन्तकथाएँ, जन-विश्वास आदि जानता है और उस काल के रम्याद्भुत वातावरण में डूब जाता है। इतिहास की घटनाओं के रूखे विवरण में वह नहीं पड़ता। (4) ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र काल्पनिक होते हैं परन्तु प्रतिनिधि रूप होते हैं। लेखक की कल्पना को भी इतिहास के बन्धन रहते हैं। (5) इस प्रकार से ऐतिहासिक यथार्थता एक भिन्न प्रकार की यथार्थता है। उसे यथार्थवादी रचनाओं की आलोचना की कसौटी से हम नहीं जाँच सकते। उसमें यथार्थवाद से अधिक अद्भुत रम्यतावाद ही होता है। इतिहास का यथार्थ आज के यथार्थ से अधिक रम्याद्भुत होता है। (6) इतिहास की मर्यादा कुछ दर्शकों तक या शक्तियों तक सीमित नहीं है। भारत का विभाजन और महात्माजी का निर्वाण आदि घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। उन पर आधारित ललित कृति भी ऐतिहासिक कहलायेगी।

अब इस विचारधारा में दो-चार बातें बहुत विवाद्य हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना केवल ऐसे समय में नहीं होती कि जब समाज-मन में प्राचीन के बहुत अधिक श्रद्धा-भाव हो। इससे उल्टे कई बार यह एक सामाजिक हासोन्मुखता का भी लक्षण माना गया है कि वर्तमान हत-बल और हत-वीर्य अवस्था में केवल प्राचीन की पूजा की जाय, अतीत ही ओर मुड़ा जाय और पुनरुज्जीवन का नारा दिया जाय।

दूसरी विवाद्य बात यह है कि मानव की यथार्थता का क्या एक ऐतिहासिक सत्य नहीं है, क्या वह एक प्रगतिशील तत्त्व नहीं है? इतिहास की यथार्थता भिन्न है, और सामाजिक यथार्थता भिन्न है, ऐसा नहीं माना जा सकता। जो आज की यथार्थता है वह आगामी कल का इतिहास बनेगा। हमारी सामाजिक वास्तविकता के निर्माण में इस ऐतिहासिक तथ्य का बहुत बड़ा हाथ है। हमारा चिन्तन-मात्र देश-काल के इन निरन्तर बदलते हुए साँचों से बँधा है और इसी कारण वह स्वतन्त्र इस अर्थ में नहीं है कि वह एकदम समाज-विमुख या समाज-निरपेक्ष हो जाय।

तीसरी विचारणीय बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक का दृष्टिकोण क्या हो? क्या वह पुनरुज्जीवनवादी की भाँति केवल इतिहास में रम जाय, या वह वर्तमान और भविष्यत का भी ध्यान रखे? 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (इस युग के हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास) की आलोचना में मैंने 'प्रतीक' में लिखा था, जिसका भाव यह था कि इस उपन्यास में यह डर है कि उस सामन्तकालीन मुमूर्षु संस्कृति के प्रति पाठक के मन में मोह न उत्पन्न हो जाय।

यह देखने के लिए कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालखण्डों पर हमारे उपन्यासकारों ने कहाँ तक क्या और कैसे लिखा है उनकी एक तालिका देना आवश्यक है। यहाँ मैं उन्हीं उपन्यासों की सूची दे रहा हूँ जो मैंने पढ़े हैं और जिनका नाम इस समय स्मृति से मुझे याद है। भारतीय इतिहास के कालखण्डों पर हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती उपन्यासकारों की रचनाओं के नाम देकर बाद में उन भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास के ऐतिहासिक क्रम-विकास का उल्लेख है :

**प्राग् ऐतिहासिक युग तथा आदिम वैदिक युग** 'संघर्ष', 'सवेरा' 'गर्जन' (भगवतशरण उपाध्याय); 'बोल्गा से गंगा' की आरम्भिक कहानियाँ (राहुल सांकृत्यायन); मुर्दों का टीला (रंगेय राघव); लोपामुद्रा (क. मा. मुन्शी)।

**रामायण-महाभारत-पुराण-काल** महाकाव्य-खण्डकाव्यजैसे आख्यान-काव्य और चरित-प्रधान पद्य-रचनाएँ बहुत हैं, उपन्यास कम। कुछ नाटक भी मिलते हैं परन्तु उपन्यास प्रायः नहीं है।

परशुराम (क. मा. मुन्शी), उत्तरा (एक पुराना मराठी उपन्यास) अपवाद हैं। वैसे महाभारत को 'उग्र' जी ने 'साहित्य-सन्देश' के उपन्यास-अंक से पूर्व के अंक में विश्व का एक श्रेष्ठ उपन्यास कहा है। रांगेय राघव कृष्ण पर शायद लिख रहे हैं।

**जैन-बौद्ध-प्रभाव से गुप्त-मौर्यादि युग** सम्राट् अशोक (वा. ना. शाह, मराठी से हिन्दी में अनूदित); शशांक, करुणा (राखालदास वन्धोपाध्याय); बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारी प्रसाद द्विवेदी); दिव्या (यशपाल); जय यौधेय, सिंह सेनापति (राहुल सांकृत्यायन); समुद्रगुप्त (मिश्रबन्धु); चित्रलेखा (भगवतीचरण वर्मा); वैशाली की नगर वधू (चतुरसेन शास्त्री); अम्बपाली (भटनागर) (अन्तिम तीन उपन्यास इतिहास से अधिक उस काल के वातावरण पर आश्रित हैं)।

**मध्य-युग और मुस्लिम राज्यकाल** पाटणनी प्रभुता, जुरातनों नाथ, काल-बाघेली, पृथ्वीवल्लभ (क. मा. मुन्शी); कलंकविष, गड़ आला पण सिंह गेला (ह. ना. आप्टे); देवी चौधुरानी, आनन्द मठ, दुर्गेशनन्दिनी (बंकिमचन्द्र); नाथ माधव की कादम्बरीमय शिवशाही और पेशवाई की बीस नाविलें (वि. वा. हडप); अकबराचे वेद साधन (मराठी); प्रजावती (निराला); जेबुन्निसा; बेगमाता के आँसू; मुगल-दरबार-रहस्य; वीर छत्रसाल, रानी सारन्धा और हरदोल (दीर्घ कथाएँ); चित्तौड़ की पद्मिनी; महाराणा प्रताप; शिवाजी आदि। (इनमें से अधिकांश ड्यूमा, स्काट, रेनाल्ड्स से प्रभावित उपन्यास रहस्य और रोमांच के प्रेमियों की रुचि के ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यासों की कोटि क, या विभूतिपूजक उपदेशपूर्ण उपन्यासों के ढंग पर हैं।) वृन्दावन लाल जी के उपन्यास गढ़कुण्डार, मृगनयनी, अचल मेरा कोट, कचनार इसी युग के सम्बन्ध में है।

**अंग्रेजी राज्यकाल और वर्तमान काल** झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई (वृन्दावनलाल वर्मा); चन्द्रशेखर (बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय); पथ के दावेदार (शरत्चन्द्र) 'दि कन्फेशन्स ऑफ ए ठग'; शृंगेरी-मठ (गोआ में पुर्तगाली अत्याचारों पर मराठी उपन्यास); काला पानी (सावरकर); कंठपुर (राजाराव का गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन पर अंग्रेजी उपन्यास); मुल्कराज आनन्द के तीन अंग्रेजी उपन्यास स्वाधीनता-आन्दोलन के विषय में; जीने के लिए (राहुल जी का महायुद्ध पर जाकर लौटने वाले सिपाही पर उपन्यास); इन्दुमती (सेठ गोविन्ददास का काँग्रेस के इतिहास पर उपन्यास); वैसे चार अध्याय, सुनीता, शेखर, टेढ़े-मेढ़े रास्ते में भी आतंकवादी आन्दोलन का एक चित्र है, पर वह एकांगी है; राष्ट्रीय आन्दोलन पर साने गुरुजी के दो उपन्यास; सन् '42 के आन्दोलन पर मराठी में 4 (प्रभद्वरा, शाकुन्तल; अमावस्या, क्रान्तिकाल); हिन्दी में देशद्रोही (यशपाल); पैरोल पर (ब्रजेन्द्रनाथ गौड़) आदि और बंगाल के अकाल पर मन्चनतर (ताराशंकर वन्धोपाध्याय), महाकाल (अमृतलाल नागर) और नोआखाली के दंगे पर खुद वहाँ घूमकर लिखा हुआ मराठी उपन्यास 'सुनीता'-बिबलकर) बहुत अच्छे हैं। 'पूर्वकडील कालोख' (हडप की जापान-विरोधी युद्धकालीन कथा मराठी में है) और भारतीय भाषाओं में शायद विदेशों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर बहुत कम मौलिक लिखा गया है। वैसे राहुल जी का 'मधुर स्वप्न' अपवाद है।

ऊपर दी हुई तालिका किसी भी प्रकार से सम्पूर्ण या यथाक्रम नहीं है। जैसे नाम याद आते गए, मैं लिखता गया हूँ। इसमें बहुत से लेखक या उनके ग्रन्थों के नाम छूट गए हों, यह हो सकता है।

अब मैं एक-एक करके भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास का क्या क्रम रहा है उसकी प्रवृत्तियों का संक्षिप्त इतिहास देता हूँ।

**अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाएँ** अंग्रेजी में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए। उनमें पहले गद्य में निबन्ध विकसित थे। स्वाभाविक था कि आरम्भिक उपन्यासों पर भी निबन्ध

की छाया गहरी हो। फिर भी फ्रांसीसी उपन्यासों के प्रभाव में घटना-बहुल ऐतिहासिक उपन्यास अधिक लिखे जाते थे, जैसे वाल्टर स्काट के उपन्यास या फ्रान्स में ड्यूमा के उपन्यास। इन उपन्यासों का अच्छा मखौल है ई. एम. फास्टर ने अपने 'आस्पेक्ट्स ऑफ दि नावेल' में उड़ाया है। ह्य वालपोल ने भी 'इंग्लिश नावल्स एण्ड नावलिस्ट्स' में इन्हें उच्चकोटि के उपन्यास नहीं कहा है। बल्कि बाद के बहुत से भीत्योत्पादक वीभत्स-रौद्र रस वाले उपन्यासों का जनक इन्हीं उपन्यासों को माना है। माना कि कुतूहल बुद्धि इन उपन्यासों में बराबर होती रहती है, परन्तु वह आधुनिक जासूसी उपन्यासों की भाँति क्षणिक प्रभाव मन पर डालती है।

इसमें अधिक स्थायी प्रभाव डालने वाले ऐतिहासिक उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं, जैसे तालस्ताय का 'वार एण्ड पीस' या डिक्नेस या विक्टर ह्यूगो या आत्याधुनिक अलेक्सी तालस्ताय के उपन्यास। इनमें इतिहास के जिस कालखण्ड का चित्रण है वह बहुत ईमानदारी और बारीकी के साथ किया गया है। आधुनिक अंग्रेजी लेखकों-जैसा दिशा-विशेष का आग्रह (टेंडेन्सनेस) नहीं दिखाई देता। अलेक्सी तालस्ताय का उद्देश्य यद्यपि आयवन टी टेरीबल के काल पर लिखना रहा है फिर भी उसमें युद्धकालीन सोवियत उपन्यासों की भाँति, घृणा का संगठित प्रचार नहीं, यद्यपि विभूति-पूजा अधिक मात्रा में है। शोलोखोव के 'दीन्' नदी-विषयक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

चाहे इस कारण से हो कि यूरोप-निवासी विशेष पुराण-पूजक नहीं या अन्य किसी कारण से, उन्होंने अपने देश के प्राचीन गौरव पर कम उपन्यास लिखे हैं 'पाम्पुआई के अन्तिम दिन' या 'नार्मन-विजय' या डिजरायली के दो-तीन उपन्यासों की भाँति वे किसी घटना-विशेष से प्रभावित अधिक है। अधिकांश पश्चिमी उपन्यास सामाजिक अधिक है, ऐतिहासिक कम।

**बंगाली** बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राखालदास वन्द्योपाध्याय और अन्य उपन्यासकारों के जो अनुवाद पढ़े हैं उनसे जान पड़ता है कि बंगाली स्वभाव की भावुकता और काव्यात्मकता इन उपन्यासों को अत्यन्त रोचक बनाने में सहायक रही है। उनमें रोमान्स का भाग अधिक है, यथार्थ का कम, फिर भी उनकी कल्पना और इतिहास के यथार्थ में सहज सम्मिलन जान पड़ता है। जैसे दूध और मिसरी। मुझे याद आता है कि रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' निबन्ध संग्रह में 'ऐतिहासिक उपन्यास' पर एक परिच्छेद है, जिसमें इस प्रकार के लेखन में काव्यमयता का समर्थन करते हुए कवि-गुरु ने लिखा है कि इस प्रकार के लेखन में लेखक को अपने-आप भुलाकर उस काल में प्रक्षिप्त करना होता है, और उस काल के भग्न प्राचीन-खण्डों और पाषाण-स्तम्भों को लेकर पुनः नव्य-स्थापत्य निर्माण करना होता है। वाल्टर बैगेहोट नामक अंग्रेज समालोचक ने ऐतिहासिक उपन्यास की तुलना बहते हुए जल-प्रवाह में पड़ी हुई प्राचीन दुर्ग-मीनार की छाया से की है। पानी नया है, नित्य परिवर्तनशील है, परन्तु मीनार पुरानी है, अपने स्थान पर स्थित है। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की भी यही समस्या है कि उसके पैर तो इस जमीन पर हैं। वह साँस इस युग और निमिष में ले रहा है, परन्तु उसका स्वप्न पुरातन है, और फिर भी नवीन है। एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न युग के लेखक इसी कारण से विभिन्न प्रकार के लेख लिखेंगे। रवीन्द्र-शरत्चन्द्र-तारा-शंकर-माणिक वन्द्योपाध्याय की परम्परा में बहुत कम लोगों ने ऐतिहासिक कथानक चुने। वैसे डी. एल. राय, मन्मथराय आदि ने ऐतिहासिक नाटक अवश्य बहुत से लिखे हैं। वह भिन्न विषय है।

**मराठी** मैंने सर्वाधिक ऐतिहासिक उपन्यास अपनी मातृभाषा में पढ़े हैं। हरिनारायण आप्टे, नाथमाघव, वि. वा. हड़प, चि. वि. वैद्य, वि. वा. भिड़े और अन्य कई लेखकों के सैकड़ों उपन्यास मुझे याद आ रहे हैं। उनमें अधिकांश शिवकाल-सम्बन्धी हैं। वैसे 'कोरसईचा किल्लेदार' और 'रूपनगर राजकन्या' और 'लाला वैरागीण' और 'अल्ला हो अकबर' और 'काला पहाड़' और

‘पिवका बागुलछोवा’ और ‘नीरूदेवी’ और न जाने कौन-कौन से बचपन में पढ़े हुए आख्यान याद आ रहे हैं। परन्तु अधिकतर उपन्यास रोमान्स और ऐयारी-तिलिस्मी प्रभाव वाले ही अधिक थे। किसी ने सचेतन रूप से इतिहास का अध्ययन उपन्यास में ढाला हो ऐसा नहीं जान पड़ता। इतिहास संशोधकों की एक गौरवशाली पीढ़ी महाराष्ट्र में हो गई राजवाड़े, खहे, पारसनीस, भांडार कर आदि। और उसी परम्परा में रियासतकार सरदेसाई, दत्तो वामन पोतदार, न. र. फाटक, बेन्द्रे, भ. खु. देशपांडे और अन्य कई व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। परन्तु इनके परिश्रम और अध्यवसाय को उपन्यास का आवरण बहुत कम लोगों ने पहनाया। उपन्यासकार सामाजिक समस्याओं से ही उलझे रहे। खांडेकर, माडखोलकर, पु. भ. देशपांडे बोकील, वरेरकर, शिराडकर, वनारेकर, बिवलकर, मालतीबाई बेडेकरगीता, साने आदि की सब कृतियाँ सामाजिक हैं। परन्तु ना. सी. फड़के ने एक-दो ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में लिखे थे। और सब तो केवल हरि नारायण आप्टे का नाम लेते हैं और उसके बाद वह सोता भी उसी तरह सूख गया जैसे बंगाल में राखाल बन्द्योपाध्याय के बाद। इसका प्रधान कारण हमारे उपन्यास पर पश्चिम के उपन्यास का पड़ा हुआ प्रभाव है। आधुनिक उपन्यासकार इतिहास की अपेक्षा अनतिदूर वर्तमान से प्रेरणा अधिक लेता है, ऐसा जान पड़ता है। वह अध्ययन से भी कतराता जान पड़ता है और उसकी बहुप्रसवा लेखनी त्वरा से अधिक काम लती है।

**गुजराती** ‘सरस्वतीचन्द्र’ को वैसे ऐतिहासिक उपन्यास एक दृष्टि से कह सकते हैं, परन्तु प्रधान नाम इस दिशा में कन्हैयालाल मुन्शी का है। उन्होंने अपने आत्मचरित में स्पष्ट लिखा ही है कि वे ड्यूमा के उपन्यासों से बचपन में बहुत प्रभावित रहे हैं। अतः उनके सभी उपन्यासों में पात्रों की, घटनाओं की, चरित्रों की पुनरावृत्ति-सी जान पड़ती है। इतिहास की पृष्ठभूमि मानों एक परदा है। जो पीछे से हटा लिया जाता है और वही प्रणय, वीरता, आदि भावनाओं का संग्राम बराबर चलता रहता है। फिर भी मुझे उनकी ‘काल वाघेली’ कृति अनन्य लगती है। ‘पृथ्वीवल्लभ’ भी भली प्रकार से एक श्रेष्ठ उपन्यास है, जिसमें नाटकीय गुण प्रधान हैं। परन्तु ‘राजाधिराज’ ‘जय सोमनाथ’ आदि उनकी इधर की कृतियों में स्पष्ट पुनरुज्जीवनवादी (रिवाइवलिस्ट) स्वर हैं। उन्होंने सोमनाथ की भूमिका में स्वयं लिखा है “यह शैली का अन्तर 25 और 52 वर्ष के पुरुष के विचारों का अन्तर है।” यह उपन्यास-रस की उतनी ही हानि करता है जितना राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में साम्यवादी प्रचार का अप्रच्छन्न आरोपित यत्न। यह बात मैंने ‘सिंह सेनापति’ की ‘विशाल भारत’ में आलोचना करते हुए लिखी थी। स्व. मेघाणी के ‘सोरठ तारा बहेता पाणि’ जैसे उपन्यास अधिक बलवान और कलापूर्ण जान पड़ते हैं।

**हिन्दी** हिंदी के अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में उपन्यास बहुत बाद में शुरू हुए और संख्या में भी कम है। उनमें भी सामाजिक अधिक हैं। ऐतिहासिक उपन्यास आरम्भ में तो अनूदित ही अधिक मिलते हैं। बंगाली से बंकिम के राखाल बन्द्योपाध्याय के, मराठी से हरि नारायण आप्टे या बालचन्द्र नेमचन्द्र शाह के। मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का यत्न न प्रेमचन्द्र ने किया न ‘प्रसाद’ ने न उनके पूर्ववर्ती देवकीनन्दन खत्री या गोपालराम गहमरी ने। ‘निराला’ जी की ‘प्रभावती’ वैसे एक अपवाद है। पं. शुक्रदेव बिहारी मिश्र ने भी गुप्त काल पर एक उपन्यास लिखा है, परन्तु उसे सफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता। साहित्य के इतिहास में संस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास लेखक केवल चार-पाँच ही हैं और वे हैं : राहुल सांकृत्यायन; भगवतशरण उपाध्याय (जिनकी उपन्यास से अधिक बड़ी कहानियाँ हैं); हजारी प्रसाद द्विवेदी; यशपाल; रांगेय राघव; चतुरसेन शास्त्री; और इन सबमें गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से सर्वाधिक और अच्छा लिखने वाले श्री वृन्दावनलाल वर्मा। ‘कचनार’ की आलोचना

दिल्ली रेडियो से मार्च 1948 में करते हुए कहा गया था कि वर्मा जी जनतन्त्र के उपन्यासकार हैं। उनकी भाषा-शैली जैसी सादी और प्रवाहमान है उनकी विषय-वस्तु का आदर्श भी वैसा ही सहज और प्राकृत है। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है; यही उनकी कृति की भी विशेषता है। उनकी रचनाओं में हजारीप्रसाद जी का वाग्वैदग्ध्य या यशपाल या राहुल जी का सोद्देश्य मत-प्रचार नहीं मिलता, इतिहास के प्रति निर्भय प्रामाणिकता या भगवतशरण या रांगेय राघव का-सा आग्रह भी नहीं मिलता, तो भी उनकी सबसे अच्छी विशेषता यह है कि वे अपनी भूमि के निकट का ही विषय चुनते हैं, उससे बाहर नहीं जाते। बहुत कम लेखकों में अपनी मर्यादा का इतना अच्छा भान होगा। हिन्दी के लिए विशाल ऐतिहासिक क्षेत्र खुला पड़ा है मध्यभारत-राजस्थान की गाथाएँ, बिहार, मध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश के प्राचीन आख्यान कोई नये लेखक छूते ही नहीं, इसका आश्चर्य है। प्रेम के सस्ते त्रिकोण से त्राण मिले तब न? अब हिन्दी के एक ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक वृन्दावनलाल वर्मा को उदाहरण के तौर पर ले लें और गुण-दोष-विवेचना कर तो मेरी अल्प मति में वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों के निम्न गुण हैं

- (1) अपनी विषय-वस्तु का गहरा और सन्निकट परिचय, अध्ययन और गवेषणा।
- (2) जनतांत्रिक दृष्टि। पात्रों को कहीं भी अतिमानुष नहीं होने दिया जाता, न सर्वसाधारण पाठकों का ध्यान ही भुलाया जाता है।
- (3) उपन्यास की रोचकता के लिए आवश्यक कुतूहल बनाए रखने वाली घटनाओं का गुम्फन।
- (4) भाषा-शैली में प्रादेशिक रंग।
- (5) चरित्र-चित्रण में पात्रों के परस्पर-सम्बन्धों का ध्यान और निर्वाह।
- (6) प्राकृतिक वर्णनों तथा युद्धादि घटनाओं के वर्णनों में कहीं भी अनावश्यक विस्तार की कमी।
- (7) देश की उठती हुई स्वाधीनता की चेतना का ध्यान। यानी परम्परा को पीटने या प्राचीन को उत्तम कहने का मोह टालते हुए भविष्य की ओर भी स्फूर्तिदायक इंगित।
- (8) किसी भी रस के चित्रण में (उदाहरणार्थ शृंगार, करुणा या वीर) अतिरेक की ओर झुकाव नहीं। भड़कीले रंगों की अपेक्षा सौम्य रंगों का अधिक उपयोग।
- (9) चरित्रों की रेखाएँ दृढ़ और स्पष्ट, कभी-कभी बहुत स्थूल भी। जिससे प्रत्येक पात्र की विशेषता, दूसरे से भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। 'मृगनयनी' में यही विशेषता है।
- (10) पूरा उपन्यास पढ़ जाने के बाद उस काल के वातावरण का सजीव पुनर्निर्माण सफल जान पड़ता है, जैसे 'गढ़कुण्डार' या 'लक्ष्मीबाई' में।

**इनके कुछ सामान्य दोष यह हैं :**

1. काव्यात्मकता की कमी। वर्णन-शैली के अधिक 'इतिवृत्तात्मक' होने के रस-भंग।
2. संवाद में नाटकीयता अधिक होने से कहीं-कहीं कृत्रिमता।
3. पात्रों के मन के अन्दर स्वयं उपन्यास-लेखक पैठता जान पड़ता है। उन पात्रों के व्यवहार या आचार से उनके मनोविकार अधिक व्यक्त नहीं होते।
4. तीन-चार उपन्यास पढ़ लेने पर जान पड़ता है कि काफी जल्दी में वे लिखे गए हैं। कुछ पुनःसंपादन से वे अधिक सँवरे-से जान पड़ते।
5. इतिहास के साथ कहीं तक स्वतन्त्रता ली जानी चाहिए यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि वह ली गई है और उपन्यास में सहज रोचकता लाने-मात्र के लिए।

इस कारण से वृन्दावनलाल जी की रचनाओं से जो आशाएँ हमारे मन में जगती हैं वे



इस प्रकार से हैकिसी भी उपन्यासकार के लिए कोई दण्डक (या नियम) बना देना उचित नहीं। वह अपने संस्कार, शिक्षण, आदर्श और विचारों के अनुसार ही इतिहास को देखेगा और उसका कलात्मक पुनर्मूल्यांकन करेगा। फिर भी चूँकि वृन्दावनलाल जी बुन्देलखण्ड की माटी की सौंधी पौध पहचानते हैं, हमारा आग्रह है कि 'मुसाहिबजू' की भाँति पिछले 30 वर्षों में बुन्देलखण्ड में जो सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं उन्हें बेतवा के मुँह से सुनवाएँ। 'झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई' की भाँति वे एक दूसरा बड़ा उपन्यास इन गए तीस वर्षों के गाँव शहरों में बुन्देलों की दो-तीन पीढ़ियों में हुए परिवर्तनों पर लिखेंगे तो हिन्दी को ही नहीं विश्व-साहित्य को एक अमर यथार्थवादी कृति की भेंट मिलेगी। उसमें वे जितनी प्रादेशिकता ला सकें लायें मराठी में कोंकण के किसान जीवन पर लिखे दो-तीन उपन्यासों में पीछे नोट दिये गए हैं, शब्दों-मुहावरों के अर्थों और स्थान-नाम, रीति-रिवाजों पर वैसी ही चीज इसमें हो।

**ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की शैली** ऐतिहासिक उपन्यास की विषय-वस्तु का विचार ऊपर बहुत किया जा चुका। अब उसके कलेवर यानी शैली को ध्यान में लें तो यह पता चलेगा कि विषय-वस्तु से शैली अवश्य निर्णीत होगी। कहीं-कहीं उपन्यास लेखक को छूट है कि वह आचार-शास्त्रीय या दार्शनिक चर्चा में उलझें, परन्तु वह इस सीमा तक नहीं जैसे आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने उपन्यास 'वैशाली की नगर-वधू' में अन्त में 'भूमि' में पृष्ठ 793 पर कहा है: "वास्तव में ऐतिहासिक काव्यों, उपन्यासों और कहानियों का इतिहास की सीमा का उल्लंघन करने के कारण इतिहासकुल से विच्छद कर दिया गया है। यह केवल भारतीय साहित्य की ही बात नहीं है, पाश्चात्य साहित्य में भी ऐसा हुआ है। इतिहास के 'विशेष सत्य' और साहित्य के भी 'चिर सत्य' के सिद्धान्तों पर हम थोड़ा विचार करेंगे। 'चिर सत्य' ऐसे साहित्य का प्राण है। ...इतिहास की विशिष्ट सत्य घटनाओं का उसे पूरा ज्ञान नहीं होता। होने पर भी वह जान-बूझकर उनकी उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं, तात्कालिकसमाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है।" यह कथन कितना भ्रांतिपूर्ण है यह कहना आवश्यक नहीं है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री एक 'इतिहास-रस' की सृष्टि करके वेश्याओं का इतिहास पृ. 853 से 859 तक देते हैं और अपने उपन्यास की भाषा शैली के बारे में पृ. 893-94 पर कहते हैं: "उपन्यास में लगभग दो सहस्र नये पारिभाषिक शब्द आए हैं। जिनका प्रचलन चिर-काल से भाषा-प्रवाह में समाप्त हो गया है।...भाषा और भाव, सब मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास सर्वसाधारण के पढ़ने योग्य नहीं है। परन्तु हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति से परिचित होने के लिए यह उपन्यास प्रत्येक शिक्षित भारतीय को दस-बीस बार पढ़ना चाहिए। खासकर उच्च सरकारी अफसर, जो अँग्रेजी भाषा के पण्डित और अँग्रेजी सभ्यता के अधीन हैं...अपनी टेबुल पर इस उपन्यास को अनिवार्य रूप में डाल रखें और निरन्तर इसे पढ़ते रहें तो उन्हें मौलिक भारतीय विचारधारा अपने रक्त में प्रवाहित करने में बहुत सहायता मिलेगी। उचित तो यह है कि भारतीय सरकार ही यह आदेश जारी कर दे और उपन्यास की एक-एक प्रति अपने अफसरों की टेबुल पर रख देने की व्यवस्था कर दे।" संक्षेप में, ऐतिहासिक उपन्यास क्यों नहीं होना चाहिए इसका परम उदाहरण यह 787 पृष्ठों का 'बुद्ध कालीन इतिहास-रस का मौलिक उपन्यास' (जो सन् 1949 में छपा) है। 1922 के 'शशांक' से अभी तक हम क्या आगे नहीं बढ़ पाये हैं?

बौद्धकाल पर और गुप्त मौर्यकाल पर कितने उत्तम उपन्यास लिखे गए हैं। इनका उदाहरण देखना हो तो राखालदास वन्धोपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास को देखिए, जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने अनूदित किया था, 1922 में। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने मूल लेखक की कृति को अन्त में

बदल दिया है, फिर भी मूल का आनन्द इस उपन्यास में सुरक्षित है। उदाहरण कहाँ तक दें। पृ. 214-215 पर ऋतु वर्णन देखिए:

“वर्षा के अन्त में गंगा बढ़कर करारों से जा लगी हैं। नावों का बेड़ा तैयार हो चुका है। नौसेना सुशिक्षित हो चुकी है। हेमन्त लगते ही बंग देश पर चढ़ाई होगी। सामान्य सैनिक से लेकर यशोधवल तक उत्सुक होकर जाड़े का आसरा देख रहे थे। वर्षाकाल में तो सारा बंग-देश जल में डूबकर महासमुद्र हो जाता था, शरद ऋतु में जल के हट जाने पर सारी भूमि कीचड़ और दलदल से ढकी रहती थी। इससे हेमन्त के पहले युद्ध के लिए उस ओर की यात्रा नहीं हो सकती थी।”

और पृ. 367 पर जनसाधारण की उत्सवप्रियता का यह सरल संक्षिप्त वर्णन “पाटलिपुत्र में आज बड़ी चहल-पहल है। तोरण-तोरण पर मंगलवाद्य बज रहे हैं। राजपथ रंग-बिरंग की पताकाओं और फूल-पत्तों से सजाया गया है। दल-के-दल नागरिक रंग-बिरंगे और विचित्र-विचित्र वस्त्र पहने ढोल, झाँझ आदि बजाते और गाते निकल रहे हैं। पहर-पहर भर पर नगर में तुमुल शंखध्वनि हो रही है। धूप के सुगन्धित धुएँ से छाए हुए मन्दिरों में से नगाड़ों और घण्टों की ध्वनि आ रही है। आज सम्राट माधवगुप्त का विवाह है।”

‘शशांक’ या ‘करुणा’ में लेखक अवान्तर वादविवाद या उपदेशों में नहीं उलझता। ‘निराला’ की प्रभावती में पृ. 63 पर लेखक बीच में ही अपने स्वाभाविक आवेश से कह उठता है “हाय रे देश! कितने फूल इस प्रकार सामयिक प्रवाह में चढ़कर दृष्टि से दूर अँधेरे में बहते हुए अदृश्य हो गए, पर किसी ने तत्त्व-रूप को न देखा; सब बाहरी चहल-पहल में भूले रहे इतिहासवेत्ताओं के सत्य के भुलावे में आश्वस्त। यह अँधेरा चिरन्तन है। ...देश अँधेरे में है, प्रकाश नहीं दीख पड़ता...” इत्यादि। इसे आरम्भिक ‘निवेदन’ में निराला जी ने ‘रोमाण्टिक उपन्यास’ कहा है और “अभी उस रोज भी डॉक्टर रामविलास शर्मा के लेख में इसके उद्धरण आये हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से पुस्तक मध्यम या उच्च कक्षाओं में रखने योग्य है। यदि अधिकारी ध्यान दें तो हिन्दी के साथ सहयोग और सराहनीय...” लिखा है। यह सफल ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है।

राहुल जी की रचनाओं में भी ‘सिंह सेनापति’ और ‘जय यौधेय’ अधिक सफल ऐतिहासिक कृतियाँ थीं। ‘मधुर स्वप्न’ में तो कई स्थल अवान्तर चर्चा से भर गए हैं। यथा पृ. 51 पर का यह उद्धरण देखिए:

“अबकी सियाबख्श ने हठात् पूछ दिया अर्थात् जिस प्रकार हमारे यहाँ एक पुरुष की बहुत-सी पत्नियाँ होती हैं, वहाँ इससे उल्टा होता है।

मज्दकइसमें क्या आश्चर्य है? देश-काल-भेद से हर जगह के सदाचारों में भेद होता है। एक जगह जो बात निषिद्ध है, वही दूसरी जगह विहित।

कवात्क्या स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में यह शिक्षा हिन्दी-ऋषि बुद्ध ने भी दी थी। मित्रवर्मानहीं, बुद्ध ने तो उच्च श्रेणी के शिष्यों के लिए स्त्री-पुरुष सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया था। इसलिए उनके उच्च श्रेणी के अनुयायी स्त्री-पुरुष अविवाहित रहते हैं।

मज्दकमानी ने भी अपने उच्च अनुयायियों को परिवार और पत्नी से असंग रहने का उपदेश दिया था। यवन-विचारक प्लातोन ने बतलाया कि महान उद्देश्य को लेकर चलने वाले नर-नारियों को सम्पत्ति से ही मेरा-तेरा सम्बन्ध नहीं हटाना होगा, बल्कि उनके लिए स्त्री में मेरा-तेरा का भाव होना भी हानिकारक है, क्योंकि स्त्री में केन्द्रित वह मेरा-तेरा का भाव फिर पुत्र-पुत्रियों में केन्द्रित हो जायगा, फिर उनकी सन्तानों में। मेरा-तेरा के लिए संसार में लोग

क्या नहीं करते? जगत्-कल्याण के लिए आदमी अपनी शक्ति को तभी पूरी तरह लगा सकता है, जबकि उसके पास अपनी सन्तान न हो।

कवात्तो क्या प्लातोन ने भी साधु-साधुनी बन जाने का उपदेश दिया था?

मज्दकनहीं, प्लातोन व्यावहारिक विचारक था। उसने सोचा कि इन्द्रियों पर पूरी तरह से संयम विरले ही कर सकते हैं, इसलिए उसने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का विरोध नहीं किया, किन्तु उसने यह अवश्य बतलाया कि उच्च जीवन और आदर्श के अनुयायियों को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है, कि उनका स्त्री-पुरुष के तौर पर पारस्परिक सम्बन्ध भी मेरा-तेरा के भाव से मुक्त हो।

मित्रवमहि यह बड़ा ही लोक-विद्रोहकारी आचार-विचार, किन्तु जनता के पथ-प्रदर्शकों के लिए जन-मंगल की भावना से प्रेरित परम त्यागियों के लिए यही एक व्यवहार-पथ दिखाई पड़ता है। मैं समझता हूँ, लोकरूढ़ि के विरुद्ध मार्ग पर चलने के लिए अयरान में इस पर जोर न दिया जाता, यदि वहाँ पहले से ही भगिनी-विवाह, पुत्री-विवाह, मातृ-विवाह जैसी प्रथाएँ प्रचलित न होतीं। लेकिन यह तो ऐसी चीज है, जिस पर अन्दर्जगर का बहुत जोर नहीं है। वह इसको अप्रतिषिद्ध -भर मानते हैं, जीवन का लक्ष्य नहीं मानते।

मज्दकमानव की प्रवृत्तियों को नीचे जाने से बचाना और उसकी सारी शक्ति को नवीन संसार के निर्माण में लगाना, यही हमारा उद्देश्य है। अकामेनू की पराजय के बाद अब समय आ गया है कि हम नये संसार की दृढ़ नींव रखें। भीषण अकाल के बाद आज जनता सारे आयरान में भूख के कष्ट से मुक्त हो जल्दी-जल्दी अपने दोषों को छोड़ती जा रही है। आज उसकी भावना में जो भारी परिवर्तन देखा जा रहा है, क्या वह इसका प्रमाण नहीं है कि नये युग का आरम्भ हो गया है? आज मनुष्य से पूछा जा रहा है कि विजयी अहुर्मज्द के पथ पर कौन आना चाहता है।”

इस प्रकार से ऐतिहासिक उपन्यास की शैली में हिन्दी ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है। इस विषय में अभी बहुत-सा कार्य करने को शेष हैसंशोधकों को, औपन्यासिकों को और समीक्षकों को भी। ऐतिहासिक उपन्यास की समीक्षा में कौन से मानदण्ड हों, यह भी एक विचारणीय विषय है, जिसके संकेत ऊपर आरम्भिक चर्चा में हमने दिये हैं।

(‘हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ’ नामक पुस्तक से)

## उपन्यास

---

रघुवंश

हिन्दी के कथापरक रचना-विधान का एक रूप उपन्यास विकसित हुआ है। अंग्रेजी के नावेल के रूप में इसका प्रयोग किया गया है। इस नावेल का अर्थ नया है और इसका प्रयोग कल्पना प्रधान कथात्मक रचनाओं के लिए तैयार किया गया। जीवन के यथार्थ पर आधारित रचनाओं के आन्दोलन के क्रम से यह नाम प्रचलित हुआ। इस दृष्टि से स्टील ने कहा कि 'हमारी भावशीलता केवल रोमांस द्वारा ही परितुप्त नहीं हो सकती, अब नावेल उसका प्रतिरूप बनेगा।' इस कथा-रूप का रोमांस के क्रम में विकास माना जा सकता है। रोमांस कथानकों में असम्भव, तथा दुर्लभ, अद्भुत तथा वैचित्र्यपरक कार्यों का आधार रहा है, जबकि उपन्यास सम्भव, सहज, यथार्थ जीवन के आधार पर नियोजित हुआ है। 'उपन्यास' शब्द इस दृष्टि से इस कथा-रूप के लिए प्रचलित हुआ है। इसके अर्थ में समीप-स्थिति का भाव है और इस दृष्टि से यह कथात्मक रचना-विधान हमारी ही कथा का हमारी ही भाषा में संयोजित होना है। इसमें हमको अपने जीवन का प्रतिबिम्ब मिलता है। अंग्रेजी में 'नावेल' शब्द का प्रयोग यूरोप के फ्रांस तथा इटली आदि के समान्तर हुआ है। उपन्यास रचना-विधान का विकास जिस प्रकार विविध रूपों तथा शैलियों में हुआ है, उसके देखते हुए उसके परिभाषित कर पाना सम्भव नहीं है। परिभाषाओं की सीमाओं में रचना-रूप निश्चित और विजड़ित होता है, पर उपन्यास की रचना का क्रम अधिक गति तथा विविधता के साथ विकसित हुआ है। कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तकों की परिभाषाओं से ही यह स्पष्ट हो जाता है। फील्डिंग 'उपन्यास को एक मनोरंजनपूर्ण महाकाव्य' मानते हैं, तो फ्रांसिस बेकन उसे 'कल्पित इतिहास' कहते हैं।

क्लारा रीव उपन्यास को ऐसी विधा मानते हैं, जिसमें समकालीन युग के सामाजिक यथार्थ और उसमें प्रचलित रीति-रिवाजों का चित्र होता है। बेकर के अनुसार यह कल्पित गद्य-कथा मानव-जीवन की व्याख्या का रूप है। रिचर्ड बर्टन अपनी व्याख्या में 'उपन्यास को समसामयिक समाज और उसके मंगलकारी तत्त्वों का अध्ययन, प्रेम-तत्त्व की प्रेरक शक्ति से अनुप्रेरित' मानते हैं। व्यापक रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि इस रचना-विधान में व्यक्ति और समाज

के नानाविध सम्बन्धों अनुभवों-भावों, विकसित होने वाले चरित्रों, अनेक स्तर पर विकसित होने वाले मनोभावों तथा मानसिक स्तर पर घटित होने वाली नानाविध मनःस्थितियों के यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। और इसके अनुसार उसकी अनेकानेक शैलियों का प्रयोग हुआ है।

मानवीय जीवन को सम्पूर्ण वैविध्य तथा व्यापकता से कथावस्तु में संयोजित करने के कारण उपन्यास का रचना-विधान एक रूप अथवा निश्चित नहीं होता। इस कारण उसको स्पष्ट रूप से परिभाषित करना सम्भव नहीं है। उसकी कथावस्तु के विभिन्न उपकरणों में मुख्य दृष्टि, विचार, आधारभूत विषय या कार्य, अथवा संवेदना के रूप में कथासूत्र कहा गया है, क्योंकि सम्पूर्ण औपन्यासिक विधान उसी पर आधारित रहता है और विकसित होता है। इस सूत्र को जीवन के व्यावहारिक परिवेश में विकसित करने के लिए प्रत्यक्ष घटना-क्रमों, कार्य-व्यापारों से लेकर मन की अन्तःप्रक्रियाओं तक का वर्णन किया जाता है। इस योजना-क्रम को मुख्य कथानक कहा जाता है। फिर कथावस्तु का ताना-बाना अनेक कथाओं, घटनाओं वृत्तों से निर्मित होता है। इनमें केन्द्रीय कथा मुख्य होती है और अन्य शेष उसकी सहायक लघुकथाएँ या वृत्त होते हैं। इन सबके संयोजन से उपन्यास का रचनात्मक रूप विकसित होता है। बड़े उपन्यासों में मुख्य कथानक के साथ दूसरे समानान्तर कथानक का भी उपयोग किया जाता है। पर रचना के स्वरूप के समुचित संयोजन तथा विकास के लिए सार्थक प्रयोग आवश्यक है। इसके अलावा कथावस्तु में कथानक के अनुसार तथा उसके विकास की दृष्टि से अनेक वस्तुओं, स्थितियों, समाचारों, लेखों, पत्रों, अभिलेखों, कथोपकथनों, अधिकार-पत्रों, न्यायालयों के निर्णयों, डायरी के पृष्ठों आदि का उपयोग किया जाता है। अनेक स्तर के सम्बन्धों के नानाविध रूपों का उपयोग भी इस दृष्टि से मिलता है।

उपन्यास की रचना में यथार्थ जीवन के अनुभव का व्यापक आधार रहता है। परन्तु रचनाकार अपनी कल्पना द्वारा कथानक का ढाँचा निर्मित करता है। यह वस्तु-योजना यथार्थ का यथातथ्य प्रस्तुतीकरण नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार का विवरण सूचनार्थ पत्रकारिता के स्तर का होगा। उसमें अनुभव तथा संवेदन का रचनात्मक बोध व्यक्त नहीं होता और रचना के लिए आवश्यक है कि वह आकर्षक रूप में पाठक के मन को प्रभावित करे, अस्वादनीय रहे और विशिष्ट अनुभव प्रदान करे। सामान्य जीवन-क्रम में घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ सीमित होती हैं, बार-बार दोहराई भी जाती हैं। इसी प्रकार पात्र के चरित्र और व्यवहार स्पष्ट और सरल होते हैं, उनमें सामान्य रूप में विविधता और जटिलता कम होती है। विशिष्ट कार्य-व्यापार को व्यक्ति करने वाली घटनाएँ जीवन-क्रम में कम देखी जाती हैं, उसी प्रकार विशिष्ट तथा विषम चरित्र सीमित ही मिलते हैं। उपन्यासकार रचना का संयोजन इस सारे यथार्थ के विस्तार से कल्पना के रूप-विधान में करता है। इस क्रम में वह चयन करता है, विशिष्ट तथा प्रभावी रूप में कथानक विधान करता है। अपने कौशल से एक ही भाव और स्थिति को अनेकविध रूपों में रचता है, प्रस्तुत करता है। चयन की प्रक्रिया से कल्पना में घटनाओं-स्थितियों-पात्रों का विशेष प्रकार का कथा-क्रम निर्मित करता है। यह वस्तु काल्पनिक होकर भी यथार्थ के तत्त्वों से संयोजित होती है। जैसा कहा गया है, उपन्यास के वस्तु-विन्यास का एक केन्द्रीय तत्त्व होता है और वह पूरे कथानक को धारण तथा विकसित करने वाला होता है। यह कथानक का केन्द्रीयरूप प्रभाव को सघन और गतिशील रखता है। समानान्तर कथा यदि इस रूप में रचना के स्तर पर संयोजित नहीं हो पाती तो रचना के केन्द्रीय भाव को बाधित करती है। इसी प्रकार अवान्तर घटनाओं और प्रसंगों के प्रयोग का रचनात्मक रूप ही स्वीकार्य माना गया है।

उपन्यास के वस्तु-विन्यास में कार्य-कारण सम्बन्ध 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के रूप में पाठक के मन में घटना सम्बन्धी उत्कट आशा और अपेक्षा को जाग्रत रखता है और तत्क्षण उसके घटित

होने का क्रम चलता रहता है। पाठक की रुचि को केन्द्रित रखने के लिए और भावों को जाग्रत करने के लिए इसका प्रयोग करना अपेक्षित है। कथानक के विकास के साथ पाठक की उत्सुकता को जाग्रत रखने की दृष्टि से घटनाओं के क्रम के बारे में उसकी सम्भावनाओं को लेकर स्वयं विविध कल्पनाओं के लिए रचना में अन्तराल का विधान भी होता है। पाठक को कई बार आसन्न विपत्ति, दुर्घटना, संकट का बोध हो जाता है, जबकि पात्र उससे अनभिज्ञ रहते हैं। रचना विधान के अनुसार कथानक में घात-प्रतिघात से संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है, घटना-क्रम पराकाष्ठा की ओर अग्रसर होता है और चरमोत्कर्ष में समाप्त होता है। परन्तु अनेक प्रकार के भिन्न रचना विधान भी हैं, जिनमें वर्णन-क्रम भिन्न स्तरों पर, भिन्न रूपों में तथा विविध शैलियों में चलता है। भविष्य संकेतों से पाठक के कुतूहल को बढ़ाया जाता है। इस प्रकार कथावस्तु की सम्पूर्ण रचना जिज्ञासा, उत्सुकता, आकर्षण, प्रभावशीलता (जिसमें रोचक तथा मनोरंजक होने की बात शामिल है) सौन्दर्यबोध के आधार पर संयोजित होती है। आधुनिक प्रयोगों में कथानक के विधान में घटना, परिस्थिति पात्र (चरित्र) आदि परम्परित तत्त्वों को उस स्तर पर स्वीकार नहीं किया जाता है। मनोविश्लेषण आदि पर आधारित चेतना-प्रवाह के रूप में लिखे गये उपन्यासों में कथानक का यह रूप नहीं मिलता। परन्तु व्यापक अर्थ में कथानक उसमें निहित रहता है।

उपन्यास का रचना-विधान इतने व्यापक स्तर पर संयोजित तथा विकसित होता है कि उसमें परम्परित वस्तु तथा चरित्र जैसे तत्त्वों के उपयोग को निर्धारित कर पाना सम्भव नहीं है। उनका उपयोग एवं प्रयोग नानाविध रूपों में होता है, निरन्तर किया जाता रहा है। आधुनिक उपन्यासों में पात्रों के चरित्र कथावस्तु से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वीकार किया गया है। सामान्यतः पात्रों के कार्य-व्यापारों, क्रियाकलापों, आचरण-व्यवहारों से उपन्यास की कथावस्तु का संयोजन होता है। यथार्थ के स्तर पर पात्रों की सप्राणता, सजीवता और उनके सामाजिक सन्दर्भ उपन्यास की विश्वसनीयता और प्रभावशीलता के आधार हैं। इसके लिए लेखक में कल्पना-शक्ति व्यापक अध्ययन तथा अनुभव, मानव चरित्र और मन के गहन ज्ञान तथा रचनात्मक क्षमता की अपेक्षा है। चरित्र को विविध स्तरों एवं रूपों में प्रस्तुत-अंकित करने के लिए तत्त्वों का प्रयोग ही साधन है। रचनाकार प्रभावगत उद्देश्यों के अन्तर्गत मूल्य-दृष्टियों को भी व्यंजित करता है। चरित्रों के अंकन की सफलता इस बात में मानी जाती है कि पाठक चरित्रों के साथ किस स्तर पर और किस सीमा तक तादात्म्य स्थापित कर पाता है। चित्रण चिन्तन में मानव मन के विभिन्न स्तरों को किस रूप में प्रस्तुत किया जाता है और जिन संकेतों और संदर्भों में उसकी आन्तरिक अनुभूतियों-संवेदनाओं को व्यंजित किया जाता है, उनसे उसकी विशेषता को जाना-परखा जा सकता है। उच्च स्तरीय उपन्यासों में देश-काल की सीमाओं में पात्रों के चरित्र को इस रचनात्मक प्रतिभा से अंकित किया जाता है कि उनका स्वरूप सार्वभौम तथा सार्वजनिक व्यंजित होता है।

चरित्र की योजना अनेक विधियों से की जाती है। बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि उपन्यास की कथावस्तु की योजना किस रूप में की गयी है अथवा उपन्यास का पूरा रचना-विधान किस शैली में हुआ है। सामान्यतः वर्णनात्मक पद्धति से लेखक स्वयं पात्रों के आचरण व्यवहार के वर्णन से चरित्रगत विशेषताओं को व्यक्त करता है। दूसरे रूप में वह नाटकीय शैली का प्रयोग करता है। इस स्तर पर पात्रों के वार्तालाप, उनके हाव-भाव, उनके कार्य-व्यापारों में व्यक्त होने वाले हाव-भाव के अंकन में चरित्र की विशिष्टताओं को व्यक्त किया जाता है। पात्र स्वयं अपने आत्मकथनों में चरित्र को व्यक्त करता है। इस शैली में अपने भावों, विचारों, अनुभवों तथा चित्रवृत्तियों को आत्मकथा तथा पत्र आदि के रूप में पात्र व्यक्त करता है। इसी प्रकार पात्र के चरित्र के स्तर असीम प्रकार के होते हैं, परन्तु दो मुख्य भेदों में वर्णगत तथा व्यक्तिगत पात्र माने जा सकते हैं। लेखक जिस प्रकार के जीवन की कल्पना

करता है, उसके अन्तर्गत पात्रों की सृष्टि करता है। वस्तु योजना के अनुकूल चरित्रों की उद्भावना भी की जाती है। उनमें एक प्रकार के पात्रों का चरित्र विशिष्ट न होकर सामान्य रूप में अंकित होता है और दूसरे प्रकार के पात्रों की व्यक्तिगत अस्मिता को निजता तथा विशिष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

उपन्यास की कथावस्तु का विकास देश-काल की सीमाओं में होता है। अपने व्यापक स्वरूप एवं विस्तार के कारण देश-काल तथा वातावरण का समुचित उपयोग उसमें होता है। पात्र के रूप में व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व, उसके कार्य-व्यापार, उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ उसके देश-काल के परिवेश के प्रभाव के अंतर्गत रूपायित-व्यक्त होती हैं। इस दृष्टि से कथावस्तु के यथार्थ के विश्वसनीय तथा प्रभावी संयोजन के लिए पात्रों के जीवन अंकन के लिए आवश्यक है कि उसको उपयुक्त वातावरण परिवेश की पृष्ठभूमि प्रदान की जाय। उपन्यास की घटनाएँ और पात्र अपने परिवेश में प्रस्तुत होते हैं। ये पात्र अपने ग्राम-नगर के सम्पूर्ण परिवेश में प्रस्तुत होते हैं, पूरे सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वातावरण में जीवन-यापन करते हैं और अपने पूरे रीति-रिवाज व्यवहार और भाषा-बोली की यथार्थ भूमिका पर विकसित होकर सजीव रूप में पाठक के देखे-समझे जाते हैं। कुछ उपन्यासों में देश-काल और वातावरण की स्थानीय स्थिति, उसका रंगरूप अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इनमें कथानक और चरित्रों की अपेक्षा वातावरण प्रधान केन्द्र बन जाता है और इन्हें आँचलिक माना गया है।

उपन्यास में बाह्य प्रकृति को भी अनेक बार अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से अंकित किया गया है। यह देश-काल और वातावरण का रूप-विधान समस्त मानवीय परिस्थिति को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के लिए किया गया है। परन्तु उसके माध्यम से भाव-व्यंजना और सांकेतिक अर्थ-ग्रहण करने का उपक्रम भी रहा है। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति बाह्य वातावरण का अंग है। चरित्रों के भावों के साथ उपस्थित होकर उनको सघन करती है, व्यंजक बनाती है। रचनाकार कभी मानवीय भावना और बाह्य प्रकृति को विपरीत अथवा विलोम स्थिति में प्रस्तुत कर परिवेश का ऐसा निर्माण करता है जो पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को अधिक भाषिक तथा सघन स्तर पर व्यक्त करने में सहायक होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल और वातावरण का चित्रण उस दृष्टि से प्रामाणिक, विश्वसनीय और मान्यताओं के अनुसार होना अपेक्षित है। और इस बात का बहुत महत्त्व है कि इसका संयोजन रचनात्मक कल्पना के स्तर पर किया गया है, क्योंकि उपन्यासकार का लक्ष्य परिचय देना, ज्ञान प्रदान करना न होकर अनुभव के स्तर पर वस्तु को संवेदनीय बनाना है। भौगोलिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक जीवन के यथार्थ को रचनाकार इसी मूल दृष्टि से अपने उपन्यास के रचना-विधान में योजित करता है। इस कारण उसकी यथातथ्यता की अपेक्षा विश्वसनीयता का अधिक महत्त्व माना गया है, क्योंकि रचना में दृश्य या स्थिति का महत्त्व नहीं होता।

रचना का उद्देश्य, उसमें निहित विचार उसके हर विधान में निहित माना गया है और केंद्रीय तत्त्व है। रचना-विधान के स्तर पर उपन्यास या उद्देश्य के रूप में मनोरंजन, रसानुभव, आनन्द, विशिष्ट बोध, उदात्तीकरण को स्वीकार किया गया है। साहित्य के परिवेश में सर्जन-कर्म के सामान्य उद्देश्य के रूप में मनोरंजन, रसानुभव, आनन्द, विशिष्ट बोध, उदात्तीकरण को स्वीकार किया गया है, जो विशिष्ट अनुभव के स्तर पर सामाजिक को भावसम्पन्न करने में सहायक होते हैं। कलाकार, रचनाकार अपने सौन्दर्य-बोध को विशेष स्तर के अनुभव को, संवेदना को सामाजिक, दर्शक-पाठक के लिए सम्प्रेषित करने के लिए प्रेरित होता है। इसके अतिरिक्त इस अनुभव को अभिव्यक्त करने के क्रम में वह आपे पाठकों को किसी जीवन-दर्शन, सन्देश, मूल्य-बोध से संवेदित-प्रेरित करना भी चाहता है और उसकी यह दृष्टि रचना के सारे विधान

में व्यंजित रहती है। उसके अनुसार उपन्यास अपना रचना-विधान संयोजित करता है, पात्रों का नियोजन करता है, घटनाओं का विकास करता है, मनःस्थितियों-मनोभावों को व्यंजित करता है। उपन्यास की रचनात्मक श्रेष्ठता के मूल्यांकन में इस प्रकार के जीवन-दर्शन की रचनात्मक उपलब्धि को महत्त्व दिया जाता है। पर यह भी स्पष्टतः उसकी अभिव्यक्ति, रचना में निहित होनी चाहिए, क्योंकि आरोपित होने पर वह उपन्यास को असफल रचना भी सिद्ध करता है।

उपन्यास की भाषा-शैली भी वैविध्यपूर्ण रही है, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति के रूप-विधान के अनुसार उसका उपयोग होना अनिवार्य है। उपन्यास का यह विधान, भाषा के गद्य-रूप से संयोजित होता है, अतः उसमें काव्य की अलंकृत, व्यंजक, चित्रात्मक तथा अनेकार्थी भाषा का उपयोग नहीं मिलता है, अथवा केवल विशेष दृष्टि से सीमित रूप किया जाता है। परन्तु रचनात्मक स्तर पर उसकी सरल-सहज भाषा और सामान्य जीवन के स्तर से ग्रहण की गयी भाषा में चरित्रों, परिस्थितियों, भावों मानसिक ऊहापोहों हो तथा जटिलताओं को व्यक्त करने की क्षमता अपेक्षित होती है। अगर उसकी भाषा-शैली सामान्य व्यावहारिक जीवन का विवरण-परिचय मात्र विस्तार से दे पायेगी, तो वह उपन्यास सफल रचना नहीं स्वीकार किया जा सकता। यह अवश्य है कि उपन्यासकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, समाज के विविध स्तरों तथा वर्गों के नानाविध कार्यों-व्यापार में लगे व्यक्तियों की भाषा का उपयोग इस रचनात्मक स्तर पर करता है और उस परिवेश और चरित्र की विशेषताओं को व्यंजित करने का उपक्रम करता है। विभिन्न स्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा के मुहावरों, लोकोक्तियों, कहावतों का उपयोग किया जाता है। और आधुनिक उपन्यासों में मानसिक द्वंद्वों, चेतना-प्रवाह आदि का वर्णन भाषा के उसी स्तर के रूप-विधान में किया गया है।

औपन्यासिक रूप-विधान के प्रकार-भेद व्यक्ति और समाज के नानाविध सम्बन्ध के आधार पर किये गये हैं। इस प्रकार व्यक्ति के आन्तरिक मन की प्रक्रिया और उस सम्बन्धित रचना-प्रक्रिया के अन्तर्वर्ती सम्बन्ध की दृष्टि से भी उसके रूप-विधान स्वीकार किये गये हैं। इसी प्रकार व्यक्ति के आन्तरिक मन की प्रक्रिया और उस संबंधित रचना-प्रक्रिया के अन्तर्वर्ती संबंध की दृष्टि से भी उसके रूप विधान स्वीकार किये गये हैं। पूर्ण रचनात्मक स्तर अपनी अभिव्यक्ति का रूप विकसित कर पाने के पहले उपन्यास साहसिक रोमांसपरक प्रेम कथाओं के रूप में लिखे गये हैं। इस प्रकार रहस्य-कल्पना के आधार पर भी प्रचलित रहे हैं। एक दृष्टि उपन्यासों के वर्गीकरण की, तत्त्व के आधार की रही है, घटना-प्रधान, चरित्र प्रधान, वातावरण प्रधान आदि इतिहास के इतिवृत्तों के आधार पर रचे उपन्यास ऐतिहासिक माने गये हैं, और इसी प्रकार की व्यापक समस्याओं अथवा सामाजिक जीवन-क्रम पर आधारित सामाजिक उपन्यास स्वीकार किये गये। क्षेत्र विशेष के जीवन को अंकित करने वाले आँचलिक उपन्यास हैं। जिन उपन्यासों के विधान में पात्रों के चरित्र का विकास और चित्रण उनकी मानसिक स्थितियों और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भाव-स्थितियों के आधार पर किया गया है। उन्हें मनोवैज्ञानिक कहते हैं। इन उपन्यासों में एक ऐसा प्रकार भी है, जिनमें मनुष्य के दमित भावनाओं-इच्छाओं-वासनाओं के आधार पर अन्तश्चेतना का उद्घाटन किया जाता है। इनमें भी काम-वासनाओं को प्रधानता देने वाले उपन्यास फ्रायड के यौन-सिद्धान्त और एडलर युंग के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त के आधार पर रचना-विधान संयोजित करते हैं। दूसरे प्रकार के मनोविश्लेषणवादी उपन्यास दमित वासनाओं को उभार कर मानस-ग्रंथियों को खोलने की प्रक्रिया में अपना रचना विधान संयोजित करते हैं। स्पष्ट इनमें जिस प्रकार के जो भी उपन्यास रचना के स्तर पर भावों-संवेदनाओं को, अनुभव आयामों, विशिष्ट अनुभव रूपों को अभिव्यक्त करते हैं, उनको सफल रचना माना जायेगा।

(‘साहित्य चिंतन रचनात्मक आयाम’ नामक पुस्तक से)



## उपन्यास और यथार्थ चित्रण

मोहन राकेश

सबसे पहले हमारे सामने यह प्रश्न है कि यथार्थ क्या है? क्या जिसकी स्थूल सत्ता का प्रमाण हमारे पास है वही यथार्थ है? जिस अनुभूति के आधार में स्थूल की चेतना किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है क्या वही यथार्थ की अनुभूति है? यथार्थ के विषय में हम आदर्श और कल्पना इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। आदर्श का अर्थ एक ऐसी स्थिति या ऐसी अवस्था है जो हमें अप्राप्त का एक मानसिक चित्र बना रहने से आदर्श यथार्थ और कल्पना के बीच की चीज है। कल्पना आदर्श द्वारा अनुप्रणित भी हो सकती है और उससे रहित भी। आदर्श की प्राप्ति के पीछे सदा वर्तमान यथार्थ से आगे प्रगति करने की चेतना निहित रहती है। कल्पना के क्षेत्र में प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य नहीं। कल्पना चेतना की वह स्थिति है जो किसी भी असंगति को संगति में बदल लेती है। जो संगति संभव को लेकर चलती है वह आदर्श या उसके विपरीत हो सकती है। पर जो संगति असम्भव को लेकर चलती है वह कोरी कल्पना रह जाती है। मनुष्य में कल्पना-शक्ति का होना यथार्थ है। भावुकता का प्रवृत्ति होना यथार्थ है। यथार्थ का चित्रण करने वाला लेखक जब उचित संगति में अपने चरित्र की कल्पना या भावुकता का चित्रण करता है तो वह यथार्थ का ही चित्रण है। भेद वहाँ पैदा होता है जहाँ लेखक जीवन की संगति को छोड़कर किसी अप्राप्त या अप्राप्य संगति को सामने ले आता है। जिस मात्रा में वह जीवन की प्राप्त संगति से दूर जाता है उसी मात्रा में उसकी रचना यथार्थ से दूर हट जाती है। जीवन की परिस्थितियों द्वारा पुष्ट भावुकता के अनेक उदाहरण हमें शरत् की रचनाओं में मिलते हैं। इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यथार्थवादी रचना का क्षेत्र मनुष्य की अंतर्मन और उसकी अंतवृत्तियाँ भी हैजहाँ तक उनका अनुकूल संगति में चित्रण किया जा सकता है। अनुकूल संगति में जो अपील एक अर्धध्वनित शब्द में होती है वह अनुकूल संगति के अभाव में किसी के पचास बार 'भुवन, भुवन, मेरे भाव-शिशु, देवशिशु' कहने में नहीं आ सकती। जीवन की संगति से ही वेदना को भी शक्ति प्राप्त होती

है। वेदना की बौद्धिक स्वीकृति किसी को वेदनाक्षम नहीं बना देती। वेदना निसंदेह हृदय को पिघलाती है पर वेदना का दर्शन हृदय को नहीं पिघलाता। इसलिए 'ले मिजराब' के ज्याँ-वेल्ल्याँ की वेदना तो हृदय को द्रव की अवस्था में ले जाती है पर 'नदी के द्वीप' के भुवन और रेखा की वेदना स्वीकृति हृदय को द्रव की अवस्था में नहीं ला पाती।

## 2

इसी संदर्भ में हम उपन्यासों में लम्बे-लम्बे सैद्धान्तिक विवेचन या व्याख्यान-भर देने की प्रवृत्ति पर भी दृष्टिपात कर सकते हैं। कुछ उपन्यासों में तो कथा का ढाँचा जैसे पहले से तैयार किये हुए भाषणों को स्थान देने के लिए ही खड़ा किया जाता है। ऐसे भाषणों द्वारा यथार्थ या आदर्श का पोषण किसी रचना को यथार्थवादी या आदर्शवादी नहीं बना देता। यदि ऐसे किसी उपन्यास में कोई नई शृंखलाबद्ध चिन्तन-धारा मिले तो उसे अधिक-से-अधिक उपन्यास-रूप में लिखा गया सिद्धान्त-ग्रंथ ही कहा जा सकता है। वह उपन्यास तभी होगा जब उसके पात्रों द्वारा कहा गया एक-एक शब्द उनके जीवन की परिस्थितियों द्वारा उन्हें विवश करके कहलाया गया हो। तभी उसमें हम यथार्थ की शक्ति का परिचय पा सकते हैं। तब यदि लम्बे-लम्बे भाषण भी हों तो वे रेडीमेड बाहर से लाकर वहाँ रखे गए प्रतीत उदाहरण के लिए हम शरत् के 'चरित्रहीन' की किरणमयी के उद्गारों को ले सकते हैं। किरणमयी का आक्रोश उसके जीवन की परिस्थितियों द्वारा पृष्ठ होते हैं। इसीलिए उसके एक-एक शब्द में जान है, चुभ जाने और छा जाने की शक्ति है। यह शक्ति आज के कथा-साहित्य के उन सिनिक पात्रों के उद्गारों में नहीं है। जो अपने को हीरो की स्थिति में देखते हुए जीवन के प्रति आक्रोश प्रकट करते हैं। इसी तरह दास्ताएव्की के पात्रों को धर्म और नैतिकता आदि के सम्बन्ध में लम्बे-लम्बे भाषण उनकी रचनाओं के उपन्यास-तत्त्व को हीन नहीं करते, क्योंकि वे भाषण कथा के प्रवाह में अनिवार्य कड़ियाँ बनकर आते हैं। जीवन की पृष्ठभूमि उनके लिए स्थान तैयार करती है। परन्तु 'मुक्तिदूत' जैसे उपन्यास में हमें जो भाषण मिलते हैं, वे जीवन की पृष्ठभूमि के आगे उभरकर नहीं आते। ऐसे उपन्यास का वातावरण यथार्थ का वातावरण नहीं कहा जा सकता।

## 3

यथार्थ चित्रण के प्रसंग में एक प्रश्न यह भी पैदा होता है कि जीवन की पृष्ठभूमि में स्थानीय रंगों का लाना कहाँ तक वांछनीय है। कुछ लोगों की यह धारणा संगत प्रतीत नहीं होती कि स्थानीय रंगों के लाने से उपन्यास की अपील एक वर्ग-विशेष तक ही सीमित रह जाती है। यह ठीक है कि मानव-प्रकृति में और उसकी भौगोलिक पृष्ठभूमि में बहुत-कुछ ऐसा है जो सब जगह मिल सकता है और उसका ऐसा ही चित्रण होना चाहिए जो व्यापक रूप से ग्राह्य हो। परन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा अन्यान्य कारणों से एक देश या देश-खण्ड की प्रकृति में कुछ विशेषताएँ पैदा हो जाती हैं जो उसे दूसरों से किन्हीं दिशाओं में भिन्न कर देती है। 'जोश' मलीहाबादी की जमीन 'जरति खाकी' से बनी है; मगर त्रिवांकुर के लेखक के लिए जमीन खाकी नहीं है, गेरुए रंग की है। कन्याकुमारी के तट के रेत में हम कई तरह के रंग झलकते देखते हैं, जो अरब सागर, हिंद महासागर और बंगाल की खाड़ी की अलग-अलग देन का परिणाम हैं। संस्कृति के इतिहास में भी नाना जातियों की ऐसी देन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथार्थ का तकाजा है कि हमारी रचनाओं में उन रंगों का सही चित्रण होवे रंग मिट्टी के हों या मानव के सामाजिक व्यवहार के। जमीन एक

है मगर दिल्ली और त्रिवांकुर में उसके अलग-अलग रंगों का उल्लेख अनिवार्य है। इसी तरह मानव एक है, पर पंजाब के जाट और लखनऊ के नवाब की बातचीत और व्यवहार-चेष्टा आदि के भेद को दृष्टि में रखे बिना उनका यथार्थ चित्रण नहीं किया जा सकता। जीवन के स्थानीय रंगों की वास्तविक और सहानुभूतिपूर्ण चित्रण और उनके वैसा होने के कारणों का विश्लेषण रचना की अपील को कम नहीं करता बल्कि उसमें जान डाल देता है। हार्डी, टाल्स्टाय, चेखव, शरत् और प्रेमचन्द की रचनाओं की सबसे बड़ी शक्ति जीवन के स्थानीय रंगों की पहचान और उन्हें उनकी वास्तविकता में अंकित कर देने की योग्यता ही है।

सामान्यतया भारतीयों को भावुक-प्रकृति कहा जाता है। भावुकता मन की तरल दशा है; और एक गरम देश के लोगों का भावुक होना स्वाभाविक है। इसी से हमें सहिष्णुता, स्निग्धता और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि मिलती है। साथ ही यही कारण हमारी स्नायविक दुर्बलता का है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में हमारी भावुकता ने भिन्न-भिन्न रूप ले लिए हैं। कहीं यह भावुकता रुढ़ियों के प्रति विशेष आग्रह के रूप में दिखाई देती है, तो कहीं नवीन के प्रति अन्ध आस्था के रूप में। हमारी भावुकता ही हमारे लिए राजनीति को धर्म, और धर्म को राजनीति बना देती है। पिछली कई शताब्दियों की आर्थिक परिस्थितियाँ भी हमारी स्वभावगत विशेषताओं के लिए उत्तरदायी हैं। इन विशेषताओं के सम्पन्न विशुद्ध भारतीय चरित्र हमें शरत् और प्रेमचन्द की रचनाओं में तो मिलते हैं पर उनके बाद के सहित्य में बहुत कम दिखाई देते हैं। शरत् का विप्रदास और प्रेमचन्द्र का सूरदास इसी भूमि की उपज हो सकते हैं, और हैं। परन्तु 'अज्ञेय' का शेखर किसी भी भूमि की उपज हो सकता है। ऐसे सार्वभौम से चरित्रों साथ संवेदनशील, हृदय निजत्व का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता अधिक-से-अधिक वे देव-प्रतिमाओं की तरह उसकी आस्था के विषय बन सकते हैं। रोम्यों रोलों का ज्याँ क्रिस्तफ भी, जिससे शायद लेखक ने शेखर की रचना की प्रेरणा ली है, शेखर की अपेक्षा कहीं अधिक अपने देश की स्थानीय मिट्टी का बना चरित्र है। उसके शरीर में जर्मनी का खून खौलता है और फ्रांस में रहकर भी अपनी भिन्नता को छिपा नहीं सकता। फिर क्रिस्तफ के चरित्र में वह सन्तुलन भी है, जो उसके कदमों को सामान्य जीवन के धरातल पर टिकाए रखता है। उपन्यासकार की सफलता ऐसे चरित्रों की सृष्टि में नहीं, जो लेखक के निजी अहं का या किन्हीं बँधी हुई विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि ऐसे चरित्रों की सृष्टि में है, जो आस-पास के जीवन में पहचाने जा सकते हैं, जिनके नक्श, जिनकी भाव-मुद्राएँ और जिनके पसीने की गन्ध तक हमारी पहचानी हुई होती है और जिनके विषय में हम तुरन्त कह देते हैं कि ऐसी परिस्थिति में इस व्यक्ति का यह आचरण स्वाभाविक था ऐसी परिस्थिति में यह व्यक्ति ऐसा आचरण कर ही नहीं सकता था। वे चरित्र हमारे इतने अपने होते हैं कि सहज ही हमारा उनके जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

#### 4

पिछले पैंतीस वर्षों में भारत के इतिहास में कई महत्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं। इस काल के आरम्भ में हम जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड देखते हैं। कांग्रेस का स्वतन्त्रता-आन्दोलन उस हत्याकाण्ड के बाद नई दिशा लेने लगता है। युवकों का एक गिरोह कांग्रेस के रास्ते को छोड़कर आतंकवादी बन जाता है। ये आतंकवादी युवक समाज की भावुकता के आदर्श बन जाते हैं। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा ऊँचे स्वर में बुलन्द होता है। भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को विदेशी हुकूमत द्वारा फाँसी दे दी जाती है। जनता के हृदय में विदेशी सत्ता के प्रति घृणा बहुत ही

तीव्र हो उठती है। उधर हिन्दू-मुस्लिम फिसाद विषम रूप धारण करने लगते हैं और कांग्रेस के अंदरूनी झगड़े उसकी शक्ति को कमजोर करते नजर आते हैं। शहीदगंज के प्रश्न पर बहुत से मुसलमान कांग्रेस को छोड़कर चले जाते हैं। प्रान्तीय शासनाधिकार प्राप्त होते हैं और फिर महायुद्ध छिड़ जाता है। सन् बयालिस में 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन उठता है और कांग्रेसी नेता कैद कर दिए जाते हैं। बंगाल में अकाल पड़ता है, जिसके परिणाम देश की चेतना में भूकम्प पैदा कर देते हैं। आर्थिक परिस्थितियाँ सदियों की मान्यताओं को जल्दी-जल्दी तोड़ने लगती हैं। जीवन के आर्थिक न्याय के प्रति लोगों की रुचि जाग्रत होती है और समाज पुरानी केंचुली में से निकलने के लिए सचेष्ट हो उठता है। युद्ध समाप्त होता है और कांग्रेसी नेता छोड़ दिए जाते हैं। मुसलिम लीग के आन्दोलन के कारण साम्प्रदायिक भावना जोर पकड़ जाती है। अंग्रेज भारत छोड़कर चले जाने के निश्चय की घोषणा कर देते हैं। देश का विभाजन हो जाता है। विभाजन से जीवन में क्रन्दन और चीत्कार की ध्वनि आ मिलती है। स्वदेशी सत्ता के आ जाने से कुछ दिशाओं में प्रगति दिखाई देती है, पर साथ ही अवसरवाद का बोल-बाला दिखाई देने लगता है। अनेक संकीर्ण स्वार्थ उभर आते हैं और जिस वायु से करोड़ों व्यक्ति प्राण पाने की आशा रखते थे वह धूल से भर जाती है; जहाँ श्वास लेना भी कठिन है और न लेना भी। फिर वायुमण्डल को साफ करने से कुछ हार्दिक प्रयत्न दिखाई देते हैं और नया उठता हुआ गर्दो-गुबार!

## 5

इन पैंतीस वर्षों में हिन्दी में जो उपन्यास लिखे गए हैं उनमें कुछ तो ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिनकी अपनी एक श्रेणी है। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, इलाहचन्द्र जोशी और उपेन्द्रनाथ अशक प्रभृति लेखकों ने इस काल में अपने आस-पास के जीवन और उसकी परिस्थितियों को लेकर लिखा है और जीवन के प्रवाह में रहकर उससे दिशा ग्रहण करते हुए और उसे दिशा देने की चेष्टा करते हुए लिखा है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में निःसन्देह प्रेमचन्द का समय मुखर हो उठा है। उनके चरित्रों के साथ हमारा तादत्म्य तुरन्त स्थापित हो जाता है। परन्तु वहाँ उनके चरित्र कमजोर हो गए हैं जहाँ उन्होंने अपने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के दृष्टिकोण के निर्वहन के लिए उनसे प्रचार का काम लिया है। वे चरित्र उसी हद तक कमजोर हैं जिस हद तक वे यथार्थ के पुत्र न होकर आदर्श के पुत्र हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि मानव में आदर्श भाव का होना यथार्थ है। एक आदर्शवादी चरित्र का सन्तुलित चित्रण उसे अयथार्थ नहीं होने देता। वह यथार्थ तब हो जाता है जब चरित्र में नहीं, चित्रण में आदर्श का पुट आ जाता है। चित्रण की भावुकता चरित्र की भावुकता से अलग चीज है। 'गोदान' में आकर प्रेमचन्द की दृष्टि उतनी भावुक नहीं रही। वहाँ उनकी दृष्टि ने यथार्थ को उसके अधिक सत्य के रूप में देखा है। इसीलिए उस रचना की अपील प्रेमचन्द की अन्य रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक है।

जैनेन्द्र ने अपनी रचनाओं में राजनीति को केवल बौद्धिक रूप में ग्रहण किया है। उनके चरित्र राजनीतिक हलचलों से उतना प्रभावित नहीं होते जितना उनके विषय में सोचते हैं। उन पात्रों के आदर्श भी समय की परिस्थितियों द्वारा बोधित होने वाले भविष्य के आदर्श नहीं। 'सुनीता', 'सुखदा' और 'व्यतीत' में जो जीवन हमारे सामने आता है वह एक बुद्धिवादी की टेबल पर बनता और घटित होता हुआ जीवन है, हमारे चारों ओर उमड़ता और हमें प्रभावित करता हुआ जीवन नहीं। सुनीता जैसी नारी की चरम भावुकता जिस संगति में उत्पन्न होती

है वह संगति किसी फैंटेसी की संगति प्रतीत होती है। और फिर राजनीतिक जागरूकता के बावजूद, जैनेन्द्र की रचनाओं में ऐसा तत्त्व बहुत कम है जो उनके और केवल उनके समय की ही देन होउस समय की जो जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड से आरम्भ होता है और आज के 'आत्मन एवं समर्पणे' के युगों तक आता है।

'अशक' ने 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' में जो चित्र दिये हैं वे उनके समय के चित्र तो हैं पर वे एक वर्ग के एक बहुत छोटे से अंग के चित्र हैं। फिर उन्होंने जिन इन्सानों को लिया है उनके भी अस्वस्थ पहलुओं को ही उघाड़ा है, उनके स्वस्थ पहलुओं या वैसी सम्भावनाओं को देखने का प्रयत्न नहीं किया। 'गर्म राख' के हरीशजी, जो अस्वस्थ वायु-मण्डल में रहकर भी उससे अछूते हैं, एक बोलने वाले सुन्दर खिलौने की तरह ही जीवित हैं, जिसके मुख से लेखक ने जब जो चाहा है कहला दिया है। यशपाल, भगवतीचरण वर्मा और इलाचन्द्र जोशी की कृतियों में हमें अपने काल के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के कई यथार्थ चित्र मिलते हैं, परन्तु यह सवाल बार-बार सामने आ जाता है कि हमारे जीवन में जितनी हलचल हुई और हो रही है, क्या उसका सही अनुमान हमारे उपन्यास-साहित्यों को पढ़कर हो सकता है? परिस्थितियाँ निःसन्देह ऐसी रही हैं कि उन्हें लेकर महाभारत लिखे जा सकते थे। परन्तु क्या वे लिखे गए हैं? यदि नहीं तो क्यों? निःसंदेह 'शेखर', 'संन्यासी' और 'चित्रलेखा' की रचना करने वाली प्रतिमा उनकी सृष्टि कर सकती थी। फिर उनकी सृष्टि क्यों नहीं हुई?

आज हमारा जीवन प्रतिदिन विश्व की और अपने देश की आंतरिक हलचलों से प्रभावित हो रहा है। आज हम निरन्तर एक उत्कम्प की स्थिति में जी रहे हैं। इस उत्कम्प में मिले हुए हैं कुछ संकुल स्वार्थ, कुछ पंकिल-से ईर्ष्या-द्वेष, कुछ नन्हीं-नन्हीं चोंचों के उन्मीलन जैसी महत्त्वाकांक्षाएँ, कुछ थैली पर बैठे साँपों जैसे अहं और इन सबके प्रति असन्तोष, इन सबके प्रति विद्रोह भाव और इन सबको उखाड़ फेंकने की कामना और प्रवृत्ति। साथ ही राजनीतिक हलचलें जीवन पर इस तरह हावी हो रही हैं कि हमारा सांस्कृतिक जीवन रूखा और फीका पड़ता जा रहा है। कुछ बड़े-बड़े केंद्रों की बात छोड़ दें तो अन्यत्र हमारा सांस्कृतिक जीवन बहुत-कुछ सिमटा-सिमटा-सा रह गया है। पुरानी परम्पराएँ हमसे छूटती जा रही हैं और नई परम्पराएँ विकसित नहीं हो पा रही। हमारी इकाइयों में उबलती हुई स्पिरिट वर्तमान है, पर उस स्पिरिट के सामूहिक उफान के अवसर नहीं आ पाते। आज वर्तमान की यही संकुल पृष्ठभूमि हमें प्राप्त है। इस पृष्ठभूमि के आगे, तेज से बनते हुए इतिहास की साक्षी में, हम जो-कुछ देख रहे हैं, जैसे जीना चाहते हैं और जैसे जी रहे हैं, इस सबका चित्रण आज के उपन्यास में तो और कहाँ होगा?

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)

## ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल’ और भारतीय उपन्यास

नामवर सिंह

कैसी विडंबना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेजी ‘ओरिएंटलिस्ट’ कादम्बरी, कथा सरित्सागर, पंचतंत्र जैसी भारतीय कथाओं के पीछे पागल थे, स्वयं भारतीय लेखक ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल’ लिखने के लिए व्याकुल थे।’ ये हैं उपनिवेशवाद के दो चेहरे।

निस्संदेह कुछ लोग अपनी भाषा में ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल’ लिखने में कुछ-कुछ कामयाब भी हो गये। उदाहरण के लिए लाला श्रीनिवास दास का ‘परीक्षा-गुरु’ (1882), जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘हिंदी में अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास’ माना है। लेकिन पूरा-पूरा ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल’ सबसे न बन पड़ा। खास तौर से उनसे जो सर्जनशील रचनाकार थे, जैसे हिंदी से ही उदाहरण लें तो ठाकुर जगमोहन सिंह, जिनकी कथाकृति ‘श्यामास्वप्न’ किसी भी तरह ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल’ नहीं है। ऐसे सर्जनशील रचनाकारों के सिरमौर हैं बंकिमचन्द्र, जिन्हें प्रथम भारतीय उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है।

छब्बीस वर्ष की कच्ची उम्र में बंकिमचन्द्र ने ‘दुर्गेशनदिनी’ (1865) नाम का अपना पहला बंगला उपन्यास प्रकाशित किया और एक साल बाद ‘कपालकुण्डला’ (1866) फिर तीन साल के अंतराल के बाद ‘मृणालिनी’ (1869)। इनमें से एक भी ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल’ नहीं है। जगमोहन सिंह के ‘श्यामास्वप्न’ के समान ही ये तीनों उपन्यास किसी ‘अंग्रेजी ढंग के नावेल’ की अपेक्षा संस्कृत की ‘कादम्बरी’ की याद दिलाते हैं। यह भी एक विडम्बना ही है। एक लेखक कथा की पुरानी परंपरा से मुक्त होकर एकदम आधुनिक ढंग की नई कथाकृति रचना चाहता है और परंपरा है कि उसके सर्जनात्मक अवचेतन का संचालन कर रही है। कम्बल बाबाजी को कैसे छोड़े! इस तरह बंकिमचंद्र की रचना-प्रक्रिया से गुजरकर जो चीज निकली उसके लिए सही नाम एक ही है रोमांस!

उपन्यास का अर्थ जिनके लिए ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल’ है फिर उसकी परिभाषा जो भी होवे इसे बंकिमचन्द्र की विफलता मानेंगे लेकिन मेरी दृष्टि में लेखक की इस विफलता

में ही भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित है। भारतीय उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेजी ढंग के उपन्यास! उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है, 'परीक्षागुरु' नहीं। 'परीक्षागुरु' का महत्त्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी सिर्फ हिंदी के लिए! जबकि 'कपालकुंडला' अपने जमाने की अत्यधिक लोकप्रिय कृति होने के साथ ही स्थायी कीर्ति की हकदार है। तथाकथित 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' का तिरस्कार करके ही बंकिमचन्द्र के रोमांसधर्मी उपन्यासों ने भारतीय राष्ट्र और भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की है।

अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' का तिरस्कार वस्तुतः उपनिवेशवाद का तिरस्कार है। भारत से पहले 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' को उत्तरी अमेरिका अस्वीकार कर चुका था। हाथोर्म और मेल्विन ने 'रोमांस' की रचना की थी, किसी 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' का अनुकरण नहीं किया। 'स्कार्लेट लेटर' और 'मोबी डिक' ऐसे 'रोमांस' हैं जिन्हें 'राष्ट्रीय रूपक' के रूप में आज भी ग्रहण किया जाता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद से अपने आपको मुक्त कर अमेरिकी प्रतिभा ने आख्यान के रूपबंध में भी स्वतंत्रता प्राप्त की। इस प्रकार उत्तरी अमेरिका में राष्ट्र और उपन्यास का जन्म साथ-साथ हुआ। तब तक के 'अंग्रेजी नावेल' के रूपबंध में एक स्वतंत्र राष्ट्र की उद्दाम आकांक्षाओं का अँटना संभव न था। नये राष्ट्र ने एक नितान्त उन्मुक्त रूपबंध का सृजन किया।

भारत के ऐसे भाग्य न थे। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का अंत राष्ट्रीय पराजय में हुआ।

किंतु राष्ट्र की आत्मा ने पराजय स्वीकार न की। कल्पना में स्वतंत्रता संग्राम गोया अभी भी जारी था। कहने वाले लाख कहें कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य नहीं डूबता और इस न्याय से 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' को ही आख्यान की सार्वभौम विधा का आदर्श मानते रहे, लेकिन भारत के स्वतंत्रचेता लेखक ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसके लिए तो सितारों से आगे जहाँ और भी है...तेरे सामने आसमाँ और भी हैं।'

इस जहान और आसमान का ही दूसरा नाम है भारत। स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत। आँखों के सामने रोज-रोज दिखाई पड़ने वाला भारत नहीं है। असली भारत। मनोवांछित भारत। कल्पना का भारत। इस भारत का निर्माण ही मुख्य मुद्दा था। निश्चय ही यह एक प्रकार की कल्पसृष्टि है। कल्पसृष्टि कल्पसृजन से ही संभव है। उपन्यास सही कल्प-सृजन है। गल्प-से-गल्प की सृष्टि। एक गल्प-उपन्यास, दूसरा गल्प राष्ट्र। यह दूसरा 'गल्प' गले से जल्दी नहीं उतरता। पर विचार करें तो राष्ट्र भी एक गल्प ही है। कुल मिलाकर राष्ट्र एक प्रतिमा ही तो है। इसके निर्माण में अतीत की कितनी पुरागाथाएँ, मिथक, किंवदंतियाँ, लोककथाएँ, स्मृतियाँ, इतिहास-पुराण आदि का योग होता है? कहना कठिन है कि इसमें कितना वास्तविक है और कितना काल्पनिक। बेनेडिक्ट एंडरसन ने शायद इसीलिए राष्ट्र को 'कल्पित जनसमुदाय' (इमैजिण्ड कम्युनिटी) कहा है।

आधुनिक युग में इस राष्ट्र नाम के गल्प के निर्माण का सबसे सशक्त माध्यम उपन्यास है : छापकर पढ़ने के लिए तैयार की गई गद्य-कथा। छापेखाने के साथ ही उपन्यास अस्तित्व में आया। लगभग समाचारपत्रों के साथ और यह आकस्मिक नहीं कि अनेक उपन्यास पहले पहल पत्रिकाओं में ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। इन धारावाहिक उपन्यासों के द्वारा धीरे-धीरे पढ़नेवालों का एक सुनिश्चित समुदाय बना। इसे कुछ विद्वान 'प्रिंट कम्युनिटी' कहना पसंद करते हैं। यह समुदाय वाचिक परंपरा द्वारा निर्मित समुदायों से भिन्न है अपनी चेतना में भी और अपने ढाँचे में भी। इस प्रकार आधुनिक राष्ट्र को उपन्यासों की 'निर्मिति' भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

इतिहास भी उपन्यास के समान ही एक प्रकार की कल्पसृष्टि है। आख्यान दोनों का आधार है और आख्यान-रचना मूलतः कल्पना का ही व्यापार है। आकस्मिक नहीं कि इतिहास-लेखन और उपन्यास-रचना का आरंभ लगभग साथ-साथ हुआयहाँ तक कि अधिकांश आरंभिक उपन्यास 'ऐतिहासिक उपन्यास' हैं। बंकिमचन्द्र को इतिहास और उपन्यास की तरह सजातीयता का पूरा एहसास था। अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'राजसिंह' (1882) के चौथे संस्करण के 'विज्ञापन' में उन्होंने लिखा है : "इतिहास का उद्देश्य कभी-कभी उपन्यास द्वारा सिद्ध हो जा सकता है। उपन्यास-लेखक सर्वत्र सत्य (तथ्य) की शृंखला में नहीं बँधे होते। इच्छानुसार वे अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए कल्पना का आश्रय ले लेते हैं। पर सर्वत्र उपन्यास इतिहास के आसन को ग्रहण नहीं कर सकता।"

फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में राष्ट्र-निर्माण की दिशा ने जो भूमिका निभाई, उससे इतिहास की तुलना संभव नहीं है। इसका मुख्य कारण उपन्यास के रूपबंध की सर्जनात्मकता है। जैसा कि रूसी चिंतक बाख्तीन ने दिखलाया है, उपन्यास के ढाँचे में समाज के विभिन्न स्तरों के चरित्र आपस में मिलते हैं और अपनी-अपनी बोली-बानी में एक-दूसरे से बात करते हैं इस प्रक्रिया में उपन्यास का संसार सहज ही एक ऐसे राष्ट्र के रूप में सामने आता है। जिसमें सभी सदस्यों की भागीदारी एक समान नागरिक की सी प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त, किसी राष्ट्र की अपनी पहचान उसकी भाषा है; और कहना न होगा कि गद्य के सबसे लोकप्रिय रूपबंध के रूप में उपन्यास ने ही भारत की आधुनिक भाषाओं को मानक रूप दिया। यह मानकीकरण छपे हुए गद्य के बिना संभव ही न था। संतों-भक्तों ने आधुनिक भारत की लोक-भाषाओं को साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित किया तो उपन्यास ने उन्हें राष्ट्रीय रूप प्रदान किया। इस दृष्टि से हिंदी भाषी क्षेत्र में उपन्यास की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आधुनिक खड़ी बोली हिंदी का उदय एक ऐतिहासिक घटना है।

उपन्यास ने यदि राष्ट्र का रूप निर्मित किया तो राष्ट्रीय कल्पना ने उपन्यास के रूप-निर्माण में भी नियामक भूमिका अदा की। इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण और उपन्यास के बीच द्वंद्वत्मक संबंध है। इस द्वंद्व के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भारतीय उपन्यास 'राजनीतिक' हैं। कथानक चाहे ऐतिहासिक हो चाहे सामाजिक अथवा नितानि निजी प्रेम की कहानी, अंततः उनसे कोई न कोई राजनीतिक अर्थ ध्वनित होता है। संभवतः इसी बात को लक्षित करते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध मार्क्सवादी समालोचक फ्रेडरिक जेम्सन ने भारत-सहित तीसरी दुनिया के सभी देशों के उपन्यासों को 'नेशनल एलिगरी' (राष्ट्रीय रूपक) कहा है।

बंकिमचंद्र के उपन्यासों के माध्यम से 'राष्ट्रीय रूपक' की परिकल्पना को आसानी से समझा जा सकता है। 'राजसिंह' (1882) के संदर्भ में तो बंकिमचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि "हिंदुओं का बाहुबल ही मेरा प्रतिपाद्य है।" इसका कारण यह है कि "अंग्रेज साम्राज्य में हिंदुओं का बाहुबल लुप्त हो गया है।" इस प्रकार 'मृणालिनी' (1869) में भी उनका स्वदेश-प्रेम स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। सिर्फ सत्रह घुड़सवारों को लेकर बख्तियार खिलजी ने बंगाल को जीता था, इस कहानी पर बंकिमचंद्र को बिल्कुल विश्वास न था। वे बंगाली जाति के शौर्य-वीर्य के प्रति इतने आस्थावान थे कि 'मृणालिनी' के द्वारा वे इस जातीय कलंक को दूर करने में प्रवृत्त हो गए। कहने की आवश्यकता नहीं कि बख्तियार खिलजी की बंगाल-विजय भी एक रूपक ही है। इससे अनायास ही अंग्रेजों की बंगाल-विजय व्यंजित है।

बंकिमचंद्र इस राष्ट्रीय कलंक से इतने उद्वेलित थे कि अपने पहले उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' में भी इसका जिक्र करना न भूले। तीसरे ही अध्याय में वे लिखते हैं : "यह परिच्छेद इतिहास-संबंधी



है। पाठकवर्ग बहुत अधीर हों तो इसे छोड़ सकते हैं; किंतु ग्रंथकार की यह सलाह है कि अधैर्य अच्छा नहीं। पहले पहल बंगदेश में बख्तियार खिलजी के मुहम्मदीय जयध्वजा फहराने पर मुसलमान बेरोकटोक कई शताब्दी तक उसके राज्य का शासन करते रहे।”

वैसे, ‘दुर्गेशनदिनी’ मुख्यत्वा ‘रोमांस’ है जिसके केंद्र में हिंदू राजकुमार जगतसिंह और मुस्लिम शाहजादी आयशा की प्रेम कहानी है। यह प्रेम कहानी दुःखांत है। प्रेम की परिणति विवाह में नहीं होती। फिर भी आयशा का आत्म बलिदान मन पर अमिट छाप छोड़ जाता है। आयशा के आदर्श-प्रेम के सामने राजकुमार का सारा शौर्य पराक्रम फीका पड़ जाता है। रोमांस में जो एक जीवत या साहस होता है, वह इस प्रेमकथा का अतिरिक्त आकर्षण है। इसमें अद्भुत का भी पुट है और रहस्य की भी सृष्टि है। इन सबको आकर्षक रंग देता है बंगाल के प्राकृतिक परिवेश या आँखों देखा वास्तव-सा चित्रण। क्या यह सब रूपक नहीं है?

राष्ट्रीय रूपक का इससे अच्छा उदाहरण है ‘कपाल कुंडला’, शुद्ध रोमांस। दुःखांत यह भी है। ‘दुर्गेशनदिनी’ की तरह यहाँ भी नायक की एक पूर्वपत्नी है अधिक ईर्षालु और पतित भी। पृष्ठभूमि है गंगा सागर का वन्य, असाधारण और रोमांचक परिवेश। अंतिम दृश्य हहराते समुद्र में कपाल कुंडला की छलांग और उसे बचाने के प्रयास में नायक की भी जल-समाधि। लगता है गोया कपाल कुंडला स्वयं ही वह हहराता हुआ सागर है। एक हहराते हुए समुद्र-सी युवती। पुरुष की काम्या! उस ज्वार में निमज्जित होता पुरुष! क्या यह सब कुछ रूपक नहीं प्रतीत होता?

यदि रोमांचक ‘मोबी डिक’ अमेरिका का राष्ट्रीय रूपक हो सकता है तो ‘कपालकुंडला’ बंगभूमि का रूपक क्यों नहीं? कुछ समीक्षक तो ऐसे ‘प्रेमकेंद्रित ‘रोमांस’ को ‘राजनीति का कामशास्त्र’ (इरोटिक्स ऑफ पालिटिक्स) कहना चाहते हैं।

जो हो, इसमें कोई शक नहीं कि बंकिम के प्रेम-केंद्रित रोमांस को प्रेम से कुछ अधिक अर्थ व्यंजित करते हैं। प्रेमियों का आत्मबलिदान ‘कहीं राष्ट्रीय आदर्श के लिए आत्मबलिदान का संदेश देता है तो कहीं प्रेमियों का मिलन-प्रसंग अधिक व्यापक एकता की ओर संकेत करता है।

तात्पर्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय ‘रोमांस’ लोकरंजन तक सीमित न थे, बल्कि उनमें एक राष्ट्रीय भावना भी अंतर्निहित थी, जिससे समसामयिक पाठक कहीं-न-कहीं परिचित थे। इस प्रकार वे ऊपर-ऊपर से यथार्थ से दूर दिखते हुए भी अपने निहितार्थ में कहीं अधिक वास्तविक थे : सत्य के निकट, सत्य के निदर्शक काल्पनिक होते हुए भी ये रोमांस यथार्थ में हस्तक्षेप करने में समर्थ थे बहुत कुछ अनैतिक होते हुए भी इतिहास के निर्माण में प्रयत्नशील थे; और विषयवस्तु में स्पष्टतः राष्ट्रीय न होते हुए अंतर्वस्तु में राष्ट्रीय रूपक का आभास देते थे।

इनके विपरीत तथाकथित ‘अंग्रेजी ढंग के नावेल’ चाहे जितने यथार्थवादी दिखाई पड़े अंततः अनुकरणधर्मी थे : रूपबंध में एक पराई विधा के अनुकरणकर्ता और अंतर्वस्तु में प्रदत्त यथार्थ के पीछे चलने वाले; क्योंकि उनके पास यथार्थ में हस्तक्षेप करने वाली ‘कल्पना’ ही नहीं थी। अधिक-से-अधिक वे पुरानी नीतिकथाओं के समान अंत में नीरस उपदेश देकर ही संतुष्ट को सकते थे; जैसे कि ‘परीक्षागुरु’ औसत अंग्रेजी उपन्यासों की तरह उस जमाने के ज्यादातर भारतीय सामाजिक उपन्यास बहुत कुछ ‘घरेलू उपन्यास’ बन कर रह गए।

विरोधाभास प्रतीत होते हुए भी यह तथ्य है कि भारतीय उपन्यास में सच्चे यथार्थवाद का विकास इन ‘घरेलू उपन्यासों’ के द्वारा नहीं, बल्कि बंकिमचंद्र जैसे ‘रोमांसकारों’ के उपन्यासों

से ही हुआ। वैसे, बंकिम के रोमांसधर्मी उपन्यासों में भी यथार्थ के चित्र कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'आनंदमठ' में ही बंगाल के गाँवों की दुर्दशा के चित्र। निश्चय ही शताब्दी का अंत होते-होते क्रमशः इस यथार्थवाद में व्यापकता भी आई और गहराई भी। फकीर मोहन सेनापति का उड़िया उपन्यास 'छः माण आठ गुंठ' विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की अंतिम परिणति है और सर्वोत्तम उपलब्धि भी। यह उपन्यास एक प्रकार से प्रेमचन्द्र के उपन्यासों का पूर्वाभास है। उपनिवेशवादी दौर का ही दलित किसान, जमींदार द्वारा किसान के खेत का हड़प लिया जाना, गाय का छिन जाना, मुकदमेबाजी, कोर्ट-कचहरी, वकील मजिस्ट्रेट, अंग्रेजी न्याय, जेल, क्षुब्ध किसान का हिंसात्मक प्रतिशोध आदि। फिर भी यह किसी अंग्रेजी ढंग का नावेल नहीं है। बंकिमचंद्र की तरह ही बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक, श्लोकों की मनोरंजक व्याख्याएँ, ठेठ भारतीय व्यंग्य, फिर भी आद्यन्त व्याप्त करुणा! उन्नीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय उपन्यास-साहित्य में 'छः माण आठ गुण' अनूठी कृति है, अनुपम और अद्वितीय। उपन्यास के अंत में 'छः माण आठ गुंठ' का विक्षिप्त प्रलाप करते हुए मगराज का प्राणत्याग अमिट छाप छोड़ जाता है। यथार्थ और फैंटेसी एक साथ। यह उपन्यास भी अंततः एक 'राष्ट्रीय रूपक' है। किसी एक व्यक्ति की व्यथा-कथा यह नहीं है, बल्कि जैसे पूरे समूह की देश की आत्मा की चीत्कार है! 'छः माण आठ गुंठ' पूरा भारत है!

इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने बहुत पहले अपने 'कादम्बरी' (1902) शीर्षक लेख में चेतावनी दी थी कि केवल अंग्रेजी उपन्यासोंयह भी 'सोसायटी नावेल्स' का परिचय भारतीय उपन्यासकारों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है। इसके बदले भारतीय उपन्यासकारों का साक्षात्कार यदि उन्नीसवीं शताब्दी में ही रूस के तोल्सतोय और फ्रांस के बालजाक जैसे उपन्यासकारों की महान् कृतियों से हो गया होता तो भारतीय उपन्यास का नक्शा कुछ और ही होता!

कभी-कभी यह ख्याल भी आता है कि यदि सभी भारतीय भाषाओं ने मराठी की तरह 'नावेल्स' के लिए 'कादंबरी' संज्ञा स्वीकार कर ली होती तो शायद अपनी जातीय स्मृति अधिक सुरक्षित रहती और अपनी परंपरा का प्रत्यभिज्ञान हमारी कथात्मक सर्जनात्मकता में कुछ और रंग लाता।

इस धारणा की पुष्टि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) से होती है। इस तरह से देखें तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भारतीय उपन्यास की भी आत्मकथा है। रूपबंध में प्राचीन और नवीन का अद्भुत संयोग। 'कादंबरी' कथा की तरह आरंभ में मिस कैथराइन का कथान्तर लेकिन कथानक का विकास व्योमकेश शास्त्री के शब्दों में "आजकल की डायरी शैली" में। "कथालेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है।" तात्पर्य यह कि 'नैरेटर' भूत-वर्तमान-भविष्य सब कुछ का जानकार सर्वज्ञ नहीं है। 'कादंबरी' की तरह ही अपनी कथा की अपूर्णता का उल्लेख करके लेखक ने क्या यह संकेत देना चाहा है कि उसकी दृष्टि में उपन्यास ऐसा रूपबंध है जो कहीं खत्म नहीं होता और एक जगह समाप्त होने के बाद भी कल्पना के लिए खुला रहता है?

कुल मिलाकर प्राचीनता का आभास देती हुई 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कितनी नई है नई और ताजा। किसी कालजयी कृति के लक्षण इसके अलावा और क्या होते हैं?

इसी प्रकार यदि अंतर्वस्तु पर दृष्टिपात करें तो पूरी कथा 'एलिगरी' (रूपक) है 'ओरिएंटलिस्ट' कैथराइन अपने 'बाण' को खोजती हुई भारत आती है; शोणनद के किनारे की बीहड़ यात्रा करती है। हाथ लगती है एक पुरानी पोथी और वो तन्मय होकर नैश जागरण करती हुई उसका

हिंदी अनुवाद करती है। कैसी विडंबना है कि जिस समय भारतीय उपन्यासकार अंग्रेजी 'नावेल' की नकल में विकल थे, एक यूरोपीय महिला भारत की एक अति प्राचीन पोथी में अपने लिए जाने क्या पा जाती है कि उल्था करने में प्राणपण से जुट जाती है। यह किसकी 'आत्मकथा' है? बाण की? भट्टिनी की? निउनिया की? कैथराइन की या स्वयं 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के आपाततः सम्पादक और प्रकाशक व्योमकेश शास्त्री की? यह व्योमकेश शास्त्री वही हैं जिन्हें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपना अभिन्न कहते हैं। कैथराइन की डॉट और व्योमकेश पंडित का अनुचिंतन सुनें तो यह किसी व्यक्ति की कथा नहीं है, बल्कि 'आत्मा' की कथा है। और आत्मा सार्वभौम है, किसी देश या व्यक्ति तक सीमित नहीं। तात्पर्य यह कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'ऑटोबायोग्राफी' के अर्थ में किसी व्यक्ति का आत्मचरित नहीं, बल्कि समूह की अंतर्कथा है। 'एलिगरी' या रूपक और किसे कहते हैं? यहाँ व्यक्ति और समूह में कोई अंतर नहीं; व्यक्ति की कथा ही समूह की कथा बन जाती है। फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार यह 'नेशनल एलिगरी' (राष्ट्रीय रूपक) है और पश्चिमी दुनिया के विकसित पूँजीवादी सभ्यता से भिन्न विकासशील देशों में कथा-सृजन का स्वधर्म!

इस अर्थ में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आधुनिक भारत का 'राष्ट्रीय रूपक' नहीं तो और क्या है? इस राष्ट्र द्वारा अपनी अस्मिता की खोज और उसका पुनः प्रत्यभिज्ञान! फिर इतनी आत्मसजगता कि फिर से अपने आपको पहचान लेने पर भी मन पूरी तरह आश्वस्त नहीं है। संतुष्ट भी नहीं। इस स्वचेतनता का प्रमाण है उपन्यास का एह अंतिम वाक्य : "अंतरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा, "फिर क्या मिलना होगा?"

क्या यही प्रश्न आज के भारतीय उपन्यास के भविष्य को लेकर नहीं किया जा सकता?

(‘प्रेमचंद और भारतीय समाज’ नामक पुस्तक से)

## भारतीय उपन्यास की अन्तर्धारा

---

नामवर सिंह

प्रेमचन्द हिन्दी और उर्दू में लिखते हुए भी सच्चे अर्थों में भारतीय साहित्यकार थे। भारतीय उपन्यास में उनका स्थान, उनका योगदान और उनका महत्त्व-इन विषयों पर विचार करने के लिए आवश्यक है कि हम पहले भारतीय उपन्यास के स्वरूप पर विचार करें। और भारतीय उपन्यास पर विचार करने के लिए जरूरी है कि भारत में उपन्यास के उदय और विकास की रूपरेखा से परिचित हों। हम आप सभी जानते हैं कि भारत में उपन्यास के उदय और विकास पर कोई भी विचार तब तक समीचीन नहीं हो सकता है, जब तक हम 'उपन्यास' शब्द के मूल 'नावेल' के उदय और विकास पर विचार न करें। 'नावेल' नामक रूप विधा की चर्चा करते हुए स्वभावतः हमें केवल अंग्रेजी नहीं, बल्कि सम्पूर्ण योरप में नावेल के उदय और विकास की चर्चा करनी पड़ेगी। इस विषय सूची को देखते हुए आपको लग रहा होगा कि यह काफी बड़ा और पेचीदा विषय है। जाहिर है कि समय की अवधि ही नहीं, बल्कि मेरे जैसे एक साहित्य के विद्यार्थी के लिए भी कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है, जो न इतनी भाषाएँ जानता है, न इतने साहित्यों का परिचय रखता है। फिर भी उसकी एक झलक आपके सामने भी विचारार्थ प्रस्तुत करने की अनुमति चाहूँगा।

योरप का यह दावा है कि योरप ने कुछ ऐसी विधाएँ दी हैं जो ठेठ योरोपीय सभ्यता और समाज की अपनी सृष्टि हैं और विश्व साहित्य को उसकी अपनी देन हैं। उस प्रसंग में जिन चीजों की गणना योरोप करता है, उनमें एक है ट्रेजेडी और दूसरा है नावेल। अब इससे किसी के स्वाभिमान को ठेस लगे तो लगे लेकिन यह विचार का भी विषय हो सकता है कि योरोप का दावा सही है कि नहीं। ट्रेजेडी और नावेलये दोनों शब्द जब योरोप के लोग इस्तेमाल करते हैं तो पारिभाषिक अर्थ में करते हैं। यह उसी तरह की पारिभाषिक अवधारणाएँ हैं जैसे भारतीय संस्कृति में 'धर्म' या 'आत्मा'। इनके अनुवाद दूसरी भाषाओं में किए गए हैं। लेकिन

हम आप अच्छी तरह जानते हैं कि 'धर्म' की संकल्पना ठेठ प्राचीन भारतीय संस्कृति की अपनी संकल्पना है। 'रेलिजन' या 'मजहब' अनुवाद मात्र हैं, ये शब्द उसके मूल अर्थ को ग्रहण नहीं करते। उसी तरह से आप 'आत्मा' का अनुवाद सोल या रूह भले ही कर लें, लेकिन 'आत्मा' के पीछे जो पूरा चिन्तन है, वह ठीक-ठीक वही अर्थ नहीं देता है जो 'रूह' में या 'सोल' में है। इस क्रम में हमें योरोप के 'ट्रेजेडी' और 'नावेल' इन दोनों शब्दों को लेना चाहिए। वैसे स्वयं योरोप में भी 'नावेल' शब्द सभी भाषाओं में प्रचलित नहीं है। ऐंग्लों सेक्शन और ट्यूटानिक भाषाओं में तो 'नावेल' शब्द मिलता है लेकिन उससे इतर भाषाओं में यानी फ्रेंच में, रूसी में, इटैलियन में और सम्भवतः स्पैनिश में जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह 'रोमान' है। इसलिए आज भी रूसी में नावेल नहीं चलता, फ्रेंच में नावेल नहीं चलता रोमान शब्द चलता है। 'नावेल' और 'रोमान' दोनों एक हैं या अलग हैं? ये दोनों भिन्न शब्द हैं अथवा दो भिन्न संकल्पनाएँ हैं यह विचार का विषय हो सकता है। इन संकल्पनाओं में केवल रूपगत भेद ही नहीं है बल्कि मूल्यगत भेद भी है। इसलिए इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि भारत में हिन्दी और बँगला के लोग तो नावेल के लिए 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग करते हैं। लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं में यही शब्द गृहीत नहीं है। उदाहरण के लिए इसे गुजराती में 'नवल कथा' मराठी में 'कादम्बरी' और उर्दू में 'नावेल' कहते हैं-नावेल न कहके 'नाविल' कह लीजिए। इसलिए स्वयं भारत में भी 'नावेल' के लिए अनेक शब्द प्रचलित हैं। ये शब्द केवल एक ही संकल्पना के अनेक नाम हैं अथवा इन नामों में विभिन्न संकल्पनाएँ निहित हैं, विभिन्न रूप निहित हैं यह भी विचारणीय विषय होना चाहिए।

अंग्रेजी में उपन्यास के उदय और उसके विकास की चर्चा हुई है। सामान्यतः नावेल नाम की जिस विधा का दावा योरोप करता है उसका एक ऐतिहासिक और सामाजिक आधार है और दूसरा उसका रूपगत या मूल्यगत आधार है। ऐतिहासिक और सामाजिक आधार यह है कि नावेल योरोपीय सन्दर्भ में नए उभरने वाले मध्यवर्ग का महाकाव्य माना गया है। ये बात हीगेल ने कही है। उसके बाद तमाम आलोचकों ने इसे दुहराया है। चूँकि योरोप में औद्योगीकरण पहले हुआ, पूँजीवाद का उदय पहले हुआ इसलिए उसके साथ पुराने अभिजात्य वर्ग और कुलीनतन्त्र के बाद उस नए वर्ग का उदय भी सबसे पहले वहीं हुआ। जिसे हम सामान्यतः मध्यवर्ग (Middle class) या फ्रांसीसी भाषा में बुर्जुआ कहते हैं। विभिन्न वर्गों के उदय के साथ अनेक रूप विधाएँ जुड़ी हैं, जिस प्रकार एपीक का सम्बन्ध एक विशेष वर्ग के साथ था, उसी प्रकार गद्य में लिखे जाने वाले कथात्मक प्रबन्ध का उदय मध्यवर्ग के साथ जुड़ा है जिसे नावेल कहा गया। उनका कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से इस नए वर्ग का जन्म योरोप में पहले हुआ। उस वर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं, विचारधाराओं और कलाबोध के रूप में नए कथात्मक गद्यरूप का उदय हुआ, इसलिए नावेल योरोपीय विधा है। दुनिया के अन्य देशों में देर-सबेर औद्योगीकरण हुआ, पूँजीवाद का उदय हुआ और उसके साथ मध्यवर्ग आया। इसलिए दुनिया के दूसरे देशों में, जिनमें भारत भी एक है, जब मध्यवर्ग का उदय हुआ देर-सबेर उन्होंने योरोप के इस नए रूप को अपना लिया। इसलिए इसका श्रेय योरोप के लोग लेना चाहते हैं।

इतनी दूर तक अगर समाजशास्त्रीय व्याख्या होती तो कठिनाई न थी, किन्तु धीरे-धीरे यह मालूम हुआ कि योरोप में भी नावेल का रूप केवल ऐतिहासिक सामाजिक वर्ग से बँधे हुए साहित्य रूप की तरह नहीं है, बल्कि उस रूप विधा में एक मूल्यबोध भी है। मूल्यबोध का अर्थ यह हुआ कि जो भी कथात्मक गद्य प्रबन्ध लिखा गया, वह सारा नावेल नहीं है।

इसलिए योरोप के लोगों ने और अलग-अलग आलोचकों ने इस पर गहराई से विचार किया और एक मूल्यबोधक संकल्पना के रूप में नावेल को रखा। उन्होंने कहा कि इस तरह के जितने कथात्मक गद्य प्रबन्ध-लिखे गए हैं, सब नावेल नहीं हैं बल्कि नावेल उसमें से कुछ ही हैं। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए मैं कहना चाहता हूँ कि अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक डी. एफ. आर. लेविस ने 1948 में 'ग्रेट ट्रेडीशन्स' नाम की किताब लिखी। लेविस जिसको इंगलिश नावेल कहते हैं, उस इंगलिश नावेल में उन्होंने केवल 6 लेखकों का नाम लिया। उसमें सबसे पहला नाम जेन आस्टिन और जार्ज इलियट का है। इस क्रम में हेनरी जेम्स और जोसेफ कोनरॉड पर सूची समाप्त हो जाती है। जेन आस्टिन से पहले रिचर्डसन और फील्डिंग जैसे बड़े उपन्यासकारों को एफ. आर. लेविस उपन्यासकार नहीं मानते। उनका मानना था कि इन्होंने उपन्यास की पृष्ठभूमि तैयार की थी। सच्चे अर्थों में इंगलिश नावेल की शुरुआत जेन आस्टिन से होती है। यहाँ तक कि सबसे लोकप्रिय उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स को लेविस ने यह कहते हुए खारिज कर दिया कि वह एक बड़े मनोरंजनकर्ता (इण्टरटेनर) थे किन्तु उपन्यासकार नहीं। 'अब आप देखें कि स्वयं इंगलिश में ही नावेल केवल वर्णनात्मक शब्द नहीं रहा, बल्कि नावेल एक मूल्य बोधक शब्द हो गया। मैं केवल उदाहरण दे रहा हूँ। सारी आलोचनाओं का न मुझे ज्ञान है और न उनके विवरण के द्वारा मैं आपके मस्तिष्क को बोझिल करना चाहता हूँ।

जर्मन भाषा में लिखने वाले जार्ज लुकाच हंगरी में पैदा हुए। 1910-11 के आस-पास उन्होंने 'थ्योरी ऑफ नावेल' नाम की किताब लिखी। जार्ज लुकाच नावेल के रूप विधान और उसके सिद्धान्त पर विचार करने वाले महत्वपूर्ण आलोचकों में हैं। 1910-11 में वे मार्क्सवादी नहीं थे, इसलिए उनकी रचना मार्क्सवाद से पहले की है। लेकिन मार्क्सवादी होने के बाद भी उन्होंने उस स्थापना में कोई परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने कहा कि नावेल एक विशेष प्रकार का रूप विधान है, जिसकी आत्मा और निर्धारक तत्त्व है Probiematic Hero अर्थात् समस्याग्रस्त नायक। मैं फिर कहूँगा कि 'हीरो' शब्द का पर्याय हमारा 'नायक' शब्द नहीं है। नायक नायिका के आँचल से इतना बँधा हुआ है आप उसे लाख मुक्त करने की कोशिश करें, लेकिन वह 'हीरो' नहीं हो सकता। 'नायक' से ज्यादा 'हीरो' के करीब आने वाला शब्द 'पुरुष' है। समस्याग्रस्त नायक ऐसा पुरुष है जिसकी अपने समाज से अनबन हो, जिसको पूरा अहसास हो कि उसके आस-पास का पूरा समाज भ्रष्ट है, मूल्यहीन है। ऐसे भ्रष्ट और मूल्यहीन समाज में अपने अकेलेपन के गहरे अहसास के साथ वह वांछित मूल्यों और आदर्शों के लिए छटपटाता रहता है। जिस कृति में यह मिले वह उपन्यास है न मिले वह उपन्यास नहीं है। इस दृष्टि से लुकाच ने स्टैन्डल, फ्लाबेयर, दोस्त्योवस्की और तोल्सतॉय के उपन्यासों को चुना तो दूसरी और बहुत सारे उपन्यास इस कसौटी पर खरे नहीं उतरे।

योरोप में लम्बे कथात्मक प्रबन्ध गद्य में बहुत सारे लिखे गए हैं लेकिन 'नावेल' शब्द सबके लिए उपयुक्त नहीं पाया गया। एक विशेष प्रकार के वैचारिक अभिनिवेश के साथ यह शब्द जुड़ा रहा है। यह सही है या गलत, ये अलग विषय है। आप इस पर विचार कर सकते हैं। 'नावेल' और 'रोमान' शब्द दूर तक मूल्य बोधक और गुणबोधक शब्द रहे हैं, यह वर्णनात्मक नहीं रहा है। हिन्दी के अध्यापकों को खास तौर पर ध्यान देना चाहिए कि रूपगत भेदों पर विचार करते समय वे आम तौर पर इसे वर्णनात्मक मान लेते हैं, मूल्य बोधक नहीं मानते।

हेनरी जेम्स ने तोल्सतॉय के 'वार एण्ड पीस' और 'अन्ना करेनिना' तक को कहा कि यह नावेल नहीं है। ये ऐसा ढीला-ढाला जेली है, जो उपन्यास की विधागत शर्तों को पूरा नहीं करता है। यह कृति महान होगी लेकिन यह नावेल नहीं है। इसलिए आप देखें कि 'उपन्यास'

संज्ञा वर्णनात्मक (Formal description) रूपविधा नहीं रहा है। अंग्रेजी शब्द इस्तेमाल करूँ तो ये Juridical रहा है, ये निर्णयगत रह गईं। निर्णय का मतलब है मूल्य निर्णय। इस सन्दर्भ में हम योरोप के पूरे विमर्श को ध्यान में रखें। मैंने कहा मध्यवर्ग का उदय सबसे पहले योरोप में हुआ था। उस मध्यवर्ग के उदय के साथ उसकी एक जीवन दृष्टि भी विकसित हुई थी। उसकी कुछ ऐसी विचारधाराएँ थी, जो नई रूपविधा को आकार देने में सहायक हुईं। उनमें से एक व्यक्तिवाद है और दूसरा अनुभववाद है। इसके साथ उपन्यास में कुछ और विशेषताएँ हैं, जैसे जीता जागता इंसान अपने वास्तविक परिवेश के साथ चित्रित किया जाता है, जहाँ परीकथाओं की कपोलकल्पना न हो, केवल रोमांस न हो या जिसे दास्तान या किस्सा कहा है, वह न हो। अंग्रेजी में कहा जाए तो एक 'फॉर्मल रियलिज्म' के साथ नावेल जुड़ा हुआ है। ध्यान दीजिएगा मैं 'फॉर्मल रियलिज्म' कह रहा हूँ। इस रूपगत यथार्थ के साथ एक नई विधा का जन्म हुआ था।

इन तमाम बातों की ओर लोगों ने ध्यान आकृष्ट किया, लेकिन इसके साथ एक और बात भी जोड़ी और वो ये कि उपन्यास का गुण, उसका मूल्य और उसकी सारी विशेषताएँ अन्ततः सत्ता से जुड़ी हुई हैं। यह परिभाषा सत्ता या पॉवर से जुड़े रहने के कारण व्यापक और गहरे अर्थ में राजनीतिक हो जाती है। पश्चिमी देशों में नारीवादी आन्दोलन चला है, इन नारीवादी लोगों ने कहा कि उपन्यास की परिकल्पना के मूल में ही सत्ता को चुनौती देने का आधार था। उपन्यास की परिभाषा में ही लिंग भेद या Gender difference रहा है। इस नए मध्यवर्ग के उदय के साथ सही अर्थों में नारी की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। योरोप के आरम्भिक उपन्यासों में यह तथ्य दृष्टिगोचर करने योग्य है कि इतिहास में जिस नारी को वाणी नहीं प्राप्त हुई थी, जो मूक थी, मुखर नहीं हुई थी, वह उपन्यास विधा के साथ कर्ता या कर्ती के रूप में सामने आई है। यह आकस्मिक नहीं है कि आरम्भिक अंग्रेजी साहित्य की तीन महान और प्रसिद्ध उपन्यास लेखिकाएँ नारियाँ ही थीं। जेन आस्टिन, ब्रॉके सिस्टर्स और जार्ज इलियट ये तीनों सामान्य लेखिकाएँ ही न थीं। बल्कि निर्विवाद रूप से उच्च कोटि की क्लासिक की रचना करने वाली महिलाएँ थीं। मदाम स्टील और उनके बाद भी फ्रांस में भी उसकी महिमा है। इसलिए तो कर्त्री के रूप में आना महत्त्वपूर्ण है। इससे बढ़कर नारी इस नई विधा के केन्द्र भी थी। हीरो कहने के लिए भले ही पुरुष हो, लेकिन अधिकांश उपन्यास नारी केन्द्रित थे।

बंकिम का बंगला में पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' जब आया तो उसमें स्त्री आयशा इतनी महत्त्वपूर्ण चरित्र थी कि नायक की अपेक्षा उस आयशा ने लोगों का ध्यान अधिक खींचा। भारत में जो आत्मकथाएँ लिखी गईं, उनमें अधिकांश की लेखिका स्त्रियाँ हैं। हिन्दी में तो नहीं हुआ लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं में देखें तो उन्नीसवीं शताब्दी स्त्रियों की लिखी हुई आत्मकथाओं से भरी पड़ी है। बंगला और मराठी की जानकारी मुझे है। सम्भव है अन्य भारतीय भाषाओं में भी हो। जिस उर्दू भाषी समाज में पुरुष को बहुत ज्यादा प्रधानता थी और नारी को पर्दे में दबा कर रखा गया था, उसमें पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास 1899 में रुस्वा का 'उमराव जान अदा' छपा है। यद्यपि उसके पहले सरशार उपन्यास लिख चुके थे। लेकिन नारी की वेदना और पीड़ा का वर्णन सबसे पहले वहाँ शुरू हुआ। उसके बाद उपन्यास एक नया मोड़ लेता है। उर्दू में भी और अन्य भारतीय भाषाओं में भी।

मैं भारतीय उपन्यास की चर्चा उतने विस्तार से न करके केवल यह कहना चाहता हूँ कि उपन्यास का सम्बन्ध योरोप में केवल मध्यवर्ग ही नहीं है, बल्कि उसका गहरा सम्बन्ध

उस नई नारी की परिकल्पना के साथ जुड़ा हुआ है, बल्कि यह कहें कि एक नई नारी का आदर्श उपन्यासों के उदय के साथ जुड़ा हुआ है। इस नई नारी का उदय सम्भव ही नहीं था, यदि समाज एरिस्टोक्रेट रहता। अपने साहित्य में स्वकीया की जगह परकीया की बड़ी महिमा है। राधा-कृष्ण के पूरे उपाख्यान में परकीयाएँ भरी पड़ी हैं। हमारे यहाँ दो स्पष्ट विधान हिन्दुओं में हैं एक धर्म पत्नी है बाकी पत्नी हैं। जिसे अंग्रेजी में मिस्ट्रेस कहते हैं हिन्दी में सीधे-सीधे वह रखल थी। इस पूरे मूल्य विधान को तोड़ कर मध्यवर्ग के उदय के साथ एक नए नारी आदर्श की परिकल्पना हुई जहाँ नारी उस घुटन भरे दायरे से निकल कर अपनी अस्मिता को प्राप्त करने का प्रयास कर रही है। उसका भी स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह नया ऐतिहासिक परिवर्तन नए सामाजिक संक्रमण के साथ सम्भव हो सका था। इसका सम्बन्ध भी उपन्यासों के उदय के साथ जोड़ा गया है।

इस पृष्ठभूमि में हम भारतीय समाज, भारत में उपन्यास के उदय और उन तात्कालिक परिस्थितियों के बारे में विचार करें तो तथ्यों की और हमारा ध्यान जा सकता है। यह इसलिए भी जरूरी है कि हम अध्यापकों को भी अक्सर यह समझते हुए कठिनाई होती है कि इस देश में गद्य में भी लम्बे कथा प्रबन्ध लिखने की परम्परा बड़ी पुरानी है। आखिर 'कादम्बरी' बाणभट्ट ने लिखी ही थी। 'दशकुमारचरित' यहीं लिखा गया था, 'कथा सरित्सागर' यहाँ पहले मौजूद था। लम्बी जातक कथाओं को कहानी मानें या कहानी चक्र के रूप में लम्बा उपन्यास मानें। कथा और आख्यायिकाओं की लम्बी परम्परा इस देश में रही है। उन तमाम चीजों से अलग इस नए रूप विधान के भीतर वह विभाजक रेखा कौन-सी है? किनको हम उपन्यास माने किनको न मानें? उन्नीसवीं शताब्दी की यह एक बहुत बड़ी समस्या है। समस्या यह भी है कि इसका विकास कब से माना जाए। इस स्वरूप का निर्धारण और विवेचन बहुत गहराई और विचार से किया जाना चाहिए।

मेरी जानकारी में ऐसे नए ढंग से कथा प्रबन्धों की शुरुआत प्रायः नई पत्रकारिता के साथ हुआ। नए पत्र और पत्रिकाएँ निकलीं, जैसा कि विदेशों में भी हुआ था। धारावाहिक रूप में बहुत से उपन्यास विभिन्न भाषाओं में उन्नीसवीं सदी के मध्य में छपे थे। सम्भव है पहले भी छपे हों। लेकिन लोग कहते हैं कि बँगला में प्यारी मोहन मित्र ने 'आलाल भरे गुलाल' नाम से 1854 में पहला उपन्यास लिखा। यानी 1857 के पहले। सरशार ने 1857 के बहुत बाद 'फसाने आजाद' लिखा। 'फसाने आजाद' भी धारावाहिक रूप से छपा था। आपटे के ऐतिहासिक उपन्यास भी धारावाहिक रूप से पत्रिकाओं में छपे थे। पत्रिकाओं में धारावाहिक उपन्यासों का प्रकाशन एक नई घटना थी। बाद में वे पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इनके कारण गद्यात्मक कथाओं ने क्या रूप लिया, इस पर भी विचार किया जाना चाहिए। बहरहाल इन तमाम कृतियों के बीच जो उल्लेखनीय तथ्य दिखाई पड़ता है, वह यह कि 1862 में भूदेव मुखोपाध्याय ने 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक एक लेख लिखा। उसमें उपन्यास नाम का पहली बार प्रयोग किया गया। उसके बाद 1902 में जयपुर से हिन्दी की पत्रिका निकलती थी 'समालोचक'। उसमें माधव प्रसाद मिश्र ने एक लेख लिखा 'उपन्यास और समालोचना।' जिसमें उन्होंने बताया कि 'उपन्यास' शब्द बँगला में पहले प्रयुक्त हुआ और हम 'नावेल' के लिए 'उपन्यास' शब्द हिन्दी में ग्रहण कर रहे हैं। यही नहीं उपन्यास का रूप विधान हिन्दी ने बँगला से लिया है। ये ऐसा कथन हैं जिसको हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि 'उपन्यास' शब्द और उपन्यास का रूप विधान दोनों हिन्दी ने बँगला से लिया। अब इस बात से बहुत से लोगों की नाक नीची होने लगी है। हिन्दी अंधराष्ट्रवाद इतना प्रबल होने



लगा है कि लोग अपनी अस्मिता उद्घोषित करने के लिए भारतीय भाषाओं में जो आदान-प्रदान हुआ, उस पर भी पानी फेरने की कोशिश कर रहे हैं। अगर बँगला से उपन्यास शब्द लिया है, रूप विधान लिया है तो इससे नाक नीची नहीं होती। क्या कीजिएगा, अंग्रेजी हुकूमत पहले बँगाल में ही कायम हुई। आपकी राजधानी कलकत्ता थी। अंग्रेजी की शिक्षा वहीं शुरू हुई। पहला विश्वविद्यालय वहीं खुला। ये सारी चीजें हुईं। इस तरह अंग्रेजी पढ़ा-लिखा आधुनिक समाज कायम हुआ और एक नई विधा चली। इससे किसी भाषा की नाक नीची नहीं होती।

भारतीय भाषाओं में लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गद्य में लिखी जाने वाली लम्बी कथाओं की शुरुआत हुई। कुछ नाम सुविधा के लिए लिये जा सकते हैं बँगला के बंकिमचन्द्र, मराठी के हरिनारायण आप्टे, गुजराती के गोवर्धन राम त्रिपाठी, उर्दू के सरशार। इस तुलना में आप हिन्दी में लाला श्रीनिवासदास (परीक्षा गुरु के लेखक) और देवकीनंदन खत्री, (जिन्होंने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' लिखी थी) को जोड़ सकते हैं। किशोरी लाल गोस्वामी जिन्होंने करीब हजार उपन्यास लिखे। उनके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है कि उपन्यास क्या लिखा उपन्यास का अटाला खड़ा कर दिया है। यह अटाला अट्टालिका नहीं है।

क्या ये सब उसी अर्थ में उपन्यास हैं जिस अर्थ में उपन्यास संज्ञा का योरोप चयन करता है। यहाँ तक कि वह रिचर्डसन, फिल्लिंग, टामस और गोम्स मेला को खारिज करता है। हम लोग अपनी उदारता में उन्नीसवीं शताब्दी की समस्त कृतियों को 'उपन्यास' कहते चले जा रहे हैं। ये कहके हम लोग अपने इतिहास का महिमामंडन किए जा रहे हैं। यद्यपि हम जानते हैं कि इससे बहुत गौरव नहीं बढ़ने वाला। फिर भी योरोप से आप ऐतिहासिक दृष्टि से पीछे हैं। योरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में, लिखे उपन्यासों से भारत का कोई उपन्यास मुकाबला नहीं कर सकता, क्योंकि उन्नासवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भले ही विक्टोरियन काल में उपन्यास का थोड़ा हास हुआ हो, लेकिन फिर भी भारतीय उपन्यास उस गरिमा को नहीं छूता। इसका कारण है कि हमारा मध्यवर्ग उतना विकसित नहीं था। मध्यवर्ग उदित भी हो गया हो तो उसकी संस्कृति नहीं बन सकी थी। हमारे समाज में आज भी बीसवीं सदी में भी, अभिजात संस्कृति और पुराने कुलीन तन्त्र की संस्कृति इतनी जबर्दस्त ढंग से जमी है कि 1947-48 में भी गाँव लोगों को कहते सुना है कि (यदि कोई कलकत्ता बम्बई में जाकर बहुत रुपया कमाकर आए तो लोग कहते हैं) 'नए धनी हैं। ये खानदानी आदमी थोड़े हैं।' ये खानदानी होना और बात है। पैसा होना और बात है। यह बात 1989-90 में भी की जा रही है। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने पैसा बहुत कमा लिया है पर उनके पास अपनी संस्कृति नहीं है। संस्कृति-सभ्यता वाली चीज तो जो खानदानी लोग हैं, वहाँ पाई जाती है। अब आप उन्नीसवीं सदी का अन्दाजा लगा सकते हैं। जो सभ्यता और संस्कृति नाम की चीज है, जिसे 'अखलाक' कहा जाता है पैसे से नहीं पाया जा सकता। अखलाक तो खानदानी चीज है। यह एरिस्टोक्रेटिक संस्कृति उन्नीसवीं सदी में कितनी मजबूत रही होगी, इसका अन्दाज लगाया जा सकता है। ऐसी अभिजात संस्कृति के बीच अंग्रेजी पढ़ लिख कर सरकारी नौकरी पा जाने वाले इस नए उभरते वर्ग की सभ्यता-संस्कृति क्या रही होगी? उस पूरे समाज में उसका स्थान क्या रहा होगा? फिर वो नया साहित्य रूप कितना प्रभावशाली रहा होगा? प्राचीन साहित्य रूपों का मुकाबला कर सकेगा? प्राचीन महाकाव्यों या नाटकों का कुछ कर सकेगा कि नहीं? इसका अन्दाजा आप लगा सकते हैं। इसलिए मध्यवर्ग के साथ अगर यहाँ उपन्यास को जोड़ते हैं तो उसके साथ लगी विचारधाराओं को भी जोड़ना होगा।

उन्नीसवीं सदी में यहाँ किस हद तक उस व्यक्तिवाद का उदय हुआ था? किस हद

तक उस अनुभववाद का उदय हुआ था? किस हद तक हमारे यहाँ उस विवेकवाद बुद्धिवाद का उदय हुआ होगा जिसके द्वारा वह यथार्थवाद विकसित होता है जिसे हम 'फॉर्मल रियलिज्म' के नाम से जानते हैं? मैं ये खुले हुए प्रश्न आपके सामने छोड़ रहा हूँ, उत्तर देने का प्रयास नहीं कर रहा हूँ। लेकिन प्रश्न जिस रूप में रखे जा रहे हैं उनमें ठीक उत्तर किस हद तक निहित है, ये आप में से अधिकांश लोग स्वयं महसूस कर सकते हैं। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि भारत में उपन्यास का उदय इस दृष्टि से तो मध्यवर्ग के उदय से जुड़ा है कि इसके अधिकांश लेखक नई अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त पढ़े-लिखे लोग हैं, किन्तु उपन्यास की अन्तर्वस्तु मध्यवर्ग के महाकाव्य के रूप में यहाँ नहीं दिखाई देगी। सरशार का खोजी मध्यवर्गीय बूर्जुआ चरित्र है या उसकी जड़ें पुरानी समाज 'व्यवस्था, पुराने मूल्यों में हैं? स्वयं 'परीक्षा गुरु' का नायक भले ही एक नया वाणिज्य करने वाला आदमी हो, लेकिन उसमें आदि से अन्त तक यही बताया जाता है कि जो पश्चिमी तौर तरीका है या पश्चिम से आई नई-नई चीजों को अपने शौक के लिए खरीद कर रखना बड़ी खराब बात है। जिस तरह से पूरब बनाम पश्चिम में पश्चिम की आलोचना करने के साथ ही समूची आधुनिकता को चुनौती दी जा रही है और उन पुराने सामन्ती मूल्यों को प्रतिष्ठा दी जा रही है, उस हिसाब से 'परीक्षा गुरु' किसी भी रूप में उस मध्यवर्ग को प्रतिष्ठा प्रदान करने वाला उपन्यास नहीं है। इस दृष्टि से छानबीन की जानी चाहिए कि स्वयं बंकिम के उपन्यासों में जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा की जा रही है, वो सब कितनी दूर तक नए उभरने वाले मध्यवर्गीय मूल्य हैं? किस हद तक वे पुराने सामन्ती मूल्य भले न हों लेकिन उस आभिजात्य परम्परा से हैं? मसलन उनके उपन्यासों से विशेष प्रकार के शौर्य पराक्रम और प्राणों का बलिदान देने वाली क्षमता दिखाई देती है। किस चीज के लिए बलिदान दिया जा रहा है? इसमें कहीं मीडिवल सिवेलरी जैसे गुण दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं नारी की मुक्ति के लिए, नारी के उद्धार के लिए, देश को स्वाधीन करने के लिए भी बेचैनी उपन्यासों में दिखाई देती है। लेकिन देश का स्वरूप राष्ट्र का है या कुछ और उसकी गहराई से छानबीन करने की जरूरत है।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास के नाम पर जो कुछ हमारे यहाँ आया उसमें आप को दास्तान, किस्सागोई, आख्यानक और कथात्मकता आदि ये सारी चीजें मिलेंगी। हो सकता है ये रोमांस की कोटि में आ जाएँ, लेकिन ठेठ पारिभाषिक अर्थ में ये नावेल बनते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं। इसी अर्थ में मैंने कहा कि भारत में उपन्यास का उदय मध्यवर्ग के महाकाव्य के रूप में नहीं हुआ। क्योंकि भारत में मध्यवर्ग इस लायक नहीं था कि उन्नीसवीं शताब्दी में किसी नई रूप विधा को जन्म दे सके और अपनी संस्कृति का विकास कर सके। भारत में उभरने वाले इस नए मध्यवर्ग की वजह से जो पहला अच्छा और महत्त्वपूर्ण काम हुआ, वह ये कि रोमेन्टिक मनोवृत्ति का उत्थान हुआ। जिसकी सफल अभिव्यक्ति कविता में हुई है। उन्नीसवीं शती में माइकेल मधुसूदन दत्त और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में पहले नवीनता आई।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि आधुनिकता का समावेश हमारे यहाँ कायदे से गद्य में होना चाहिए था, निबन्धों में आधुनिकता आई है, लेकिन निबन्धों के बाद आधुनिक बोध का समावेश सबसे पहले कविता में हुआ। आपके यहाँ श्रीधर पाठक पहले पैदा हुए। श्रीधर पाठक के समकालीन कथाकारों को देखिए वो कहाँ हैं? यह दुर्भाग्य है कि श्रीधर पाठक जिस समय 'एकान्तवासी योगी' का सर्जनात्मक अनुवाद कर रहे थे, नए ढंग की कविताएँ लिख रहे थे, ठीक उसके समानान्तर किशोरी लाल गोस्वामी कैसा घटिया उपन्यास लिख रहे थे। दूर-दूर तक

जिनका आधुनिकता से कोई ताल्लुक नहीं था। हिन्दी के लिए एक बहुत बड़ी कठिनाई यह थी कि आधुनिक काल में खड़ी बोली गद्य में पहले आई। उन्नीसवीं शताब्दी यह बहस करने में लगी रही कि कविता ब्रज भाषा में ही हो सकती है, खड़ी बोली में हो ही नहीं सकती। ये दुविधा स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पैदा हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी का सबसे महान साहित्यकार जिसने हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवर्तन किया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-उनका उपन्यास न लिखना इस बात का प्रमाण है। क्यों उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास सम्भव नहीं हो सका? महान साहित्यकार जो कुछ लिखते हैं वो महत्त्वपूर्ण होता ही है। महान साहित्यकार जो नहीं लिखते वह उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ करता। भारतेन्दु ने एक उपन्यास शुरू किया था। 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' नाम से और दो पन्ने उसके मिलते हैं। आगे वह पूरा नहीं हो सका। जिस आदमी ने इतने समर्थ नाटक 'अन्धेर नगरी' 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' लिखे वह आदमी उपन्यास लिखना शुरू कर और लिख न पाए ये किसी बात का सूचक है। लेकिन मेरी समझ में उपन्यास न लिखते हुए भी भारतेन्दु उपन्यास की सबसे सटीक और सबसे अच्छी परिभाषा दे रहे थे और वह परिभाषा 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती'। 'आप बीती और जग बीती' यह कहते हुए वे वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का निर्वाह करने की बात करते हैं। इसमें वे यथार्थ Subjectivity और Objectivity और कल्पना इन दोनों का समन्वय जिस खूबी से कर ले गए और जिसकी और संकेत किया उपन्यास की इससे सटीक और कोई दूसरी परिभाषा नहीं हो सकती। जो सचमुच नावेल पर घटित होती है, केवल रोमांस पर नहीं घटित होती। इसलिए हिन्दी की तो कठिनाई मेरी समझ में आती है; लेकिन ये कठिनाई बँगला की नहीं थी, उर्दू की नहीं थी, मराठी की नहीं थी, गुजराती की नहीं थी। जहाँ गद्य और पद्य की भाषा थी अलग-अलग भाषाएँ नहीं थी, इसलिए उपन्यास हिन्दी में इतने विलम्ब से विकसित हुआ। इसके अन्य कारणों पर भी विचार किया जाना चाहिए।

मेरा एक ख्याल यह है कि सामन्तवाद हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश में इतना मजबूत रहा है और आज भी मजबूत है कि वह सांस्कृतिक दृष्टि से हमारे पिछड़ेपन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह आकस्मिक नहीं है कि रीतिकाल इतना लम्बा इतना बड़ा और व्यापक भारत की किसी भाषा में नहीं है। यहाँ ढाई सौ साल तक रीतिकाव्य की रचना होती रही। इस परिस्थिति को ध्यान में रखें तब आप को हिन्दी में प्रेमचन्द का महत्त्व समझ में आएगा। जिस प्रदेश में सामन्तवाद इतना मजबूत रहा हो, जिस प्रदेश की भाषा गद्य और पद्य के बीच इतनी खण्डित रही हो, जो साहित्यिक दृष्टि से दो जीभों वाला प्रदेश रहा हो कविता ब्रज में लिखता रहा हो, गद्य खड़ी बोली में लिखता रहा हो उस प्रदेश में प्रेमचन्द जैसा एक उपन्यासकार अचानक पैदा हो यह अपने आप में चमत्कार है। जब वह चमत्कार घटित हुआ तो अद्भुत ढंग से घटित हुआ।

मैंने स्थापना की कि मध्यवर्ग से उपन्यास का उदय नहीं हुआ भले ही हमारे लेखक मध्यवर्ग के रहे हों। मेरी समझ में उपन्यास के उदय और विकास की दो स्थितियाँ हैं एक रेखीय विकास के रूप में और दूसरा से अधिक रूपों में विकसित हुआ। मैंने बहुत पहले कहा था कि भारत में उपन्यास का उदय मध्यवर्ग के महागाथा के रूप में नहीं बल्कि किसान जीवन की महागाथा के रूप में हुआ। विकास की कड़ी वहाँ से शुरू होती। विचित्र बात है कि ऐसी भाषा से शुरू होती है जो भारतीय भाषाओं में छोटी थी। दबी हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में अस्मिता के लिए संघर्ष कर रही थी। मेरी दृष्टि से सही अर्थों में पहला भारतीय उपन्यास उड़िया भाषा में लिखा गया। 1897 में उसका प्रकाशन हुआ। लेखक फकीर मोहन सेनापति

थे। उसका नाम है 'छह माण आठ गुँठ'। छोटा सा उपन्यास है। फकीर मोहन सेनापति अंग्रेजी पढ़े-लिखे आदमी थे। सरकारी नौकरी करते थे। उनका जीवन विचित्र था। वह अलग कहानी है। बँगला ने उड़िया और असमिया इन दो भाषाओं को इतना दबा रखा था कि वो मानते ही नहीं थे कि उड़िया कोई स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा हो सकती है। उड़िया में उपन्यास का उदय उस भाषा में अस्मिता के संघर्ष से और उड़िया जाति की अपनी जातीयता के उदय से जुड़ा हुआ है। उसके साथ ही फकीर मोहन सेनापति ने उपन्यास को वह अन्तर्वस्तु दी जो भारतीय उपन्यास का मूलाधार होने जा रहा था। वह है एक गरीब किसान के द्वारा जमीन के लिए किये जाने वाले संघर्ष और उस संघर्ष के साथ ही उपनिवेशवादी तंत्र से भारत की स्वाधीनता। ये दोनों चीजें 'छह माण आठ गुँठ' नाम के उपन्यास में मिलेगी। फार्म और भाषा दोनों दृष्टियों से, मैं नहीं समझता कि, उस समय का कोई और उपन्यास उसका मुकाबला नहीं कर सकता। इसे विस्तार से कहने की जरूरत नहीं है कि उपन्यास की यह धारा भारतीय उपन्यास को वह रूप देती है जो योरोपीय नावेल से उसे अलग करती है। भारतीय ही नहीं, बल्कि तीसरी दुनिया के जितने पिछड़े हुए उपनिवेशवाद से ग्रस्त उसके शिकार उपनिवेश थे, चाहे वे लैटिन अमेरिकी देश हों, चाहे अफ्रीकी हों, चाहे एशिया के हों और उसके अन्तर्गत स्वयं भारत के उस औपनिवेशिक समाज में उपन्यास राष्ट्रीय मुक्ति के आन्दोलन के प्रवक्ता के रूप में विकसित हुआ। उस राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का सम्बन्ध किसानों के संघर्ष से किसानों की भूमिका से है। उपन्यास ने सही अर्थों में अपनी अस्मिता प्राप्त की इसलिए भारत में जितने महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए हैं, कहीं न कहीं उनका मूलाधार और अन्तर्वस्तु वह किसान चेतना है जो एक ओर प्रेमचन्द के प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान में है, तो दूसरी ओर वह चेतना विभूतिभूषण बंदोपाध्याय के, मानिक बंदोपाध्याय, ताराशंकर बंदोपाध्याय के अधिकांश उपन्यासों में है। वही आगे चलकर हिन्दी में रेणु में, गुजराती में पन्नालाल पटेल में, मराठी में वेंकटेश नागुलकर और उनके समवर्तियों में, मलयालम में तकषी शिवशंकर पिल्लै के उपन्यासों की मुख्य धारा रही है, बल्कि मैं इसे ही भारतीय उपन्यास का मूल स्वरूप मानता हूँ। उसकी अपनी पहचान मानता हूँ।

किन्तु आज मैं एक दूसरी और धारा की ओर इशारा करना चाहता हूँ जिसकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी में ही हो चुकी थी। इसी समाज के अन्तर्गत नए नारी आदर्श और नारी की स्वाधीनता से उपन्यास गहराई से जुड़ा हुआ था। 1897 में यदि उड़िया का 'छह माण आठ गुँठ' लिखा गया तो 1899 में रुस्वा का 'उमराव जान अदा' नामक उपन्यास छपा और मेरी समझ में उमराव जान अदा अपने रूप विधान में अपनी यथार्थवाद, चेतना में भी दूसरे तरह के भारतीय उपन्यास का सूत्रपात तो करता ही है। स्वयं अपनी अन्तर्वस्तु में नारी की वेदना, पीड़ा और करुणा के साथ उपन्यास का गहरा सम्बन्ध है। मैं फिर कहूँ कि मध्यवर्ग से इस उपन्यास का कोई लेना देना नहीं है। ये दूसरी बात है कि नारी या तो समाज के हाशिए पर पड़ी हुई थी या आगे चलकर ये स्त्रियों स्वयं किसान जीवन में संघर्ष करने वाली रहीं। संयोग से हिन्दी उपन्यास में नारी लगभग हाशिये पर (मार्जिनलाइज्ड) कर दी गई थी। उस हाशिए पर पड़ी हुई नारी को, उसकी स्थिति पहचान कर इस धारा ने उपन्यास के केन्द्र में लाने का प्रयास किया। यह उपन्यास के विकास की दूसरी धारा है। इन्हें आप ठेठ मध्यवर्ग न मानें। इस धारा का विकास आगे चलकर हुआ और उसके सर्वोत्तम और लोकप्रिय कथाकार शरतचन्द्र हैं। आगे चलकर जैनेन्द्र और अज्ञेय के माध्यम से हिन्दी में इसका विकास हुआ। 'शेखर एक जीवनी' का नायक भले ही शेखर हो, लेकिन उपन्यास की स्त्रियाँ जितनी सहानुभूति प्राप्त

करती हैं और उपन्यास को मार्मिक और वास्तविक बनाती हैं, स्वयं अहंकारी और विद्रोही शेखर वह सहानुभूति नहीं प्राप्त करता।

हम भारत के अन्य भूभागों में, अन्य भाषाओं में भी इन दोनों धाराओं के बीच सम्बन्ध देखें। भारतीय उपन्यास को परिभाषित करने के मूल में एक तो वह किसान जो उपेक्षित पीड़ित है, जिसे साहित्य में स्थान ही नहीं मिला था, वह पहली बार नायक बना। हीरो बना। दूसरी ओर वह नारी जो हाशिए पर थी, उपन्यास विधा में समस्त संवेदनाओं का केन्द्र बनी। इन दोनों के साथ भारतीय उपन्यास ने वह रूप प्राप्त किया। इन उपन्यासों में हम भारतीय नारी को पहचान सकते हैं। भारतीय मनुष्य को पहचान सकते हैं। भारतीय मनुष्य और भारतीय नारी के जो रिश्ते हैं, ये कुल मिलाकर उस उपनिवेशी आधिपत्य के ढाँचे में भारतीय समाज की समस्त अच्छाइयों और भारतीय समाज में जो उत्पीड़न और दमन है, उसकी वेदना को किस रूप में समाहित करते हैं ये सम्बन्ध शायद भारतीय उपन्यास को परिभाषित करने में सहायक हों।

प्रेमचन्द का स्थान शायद इसलिए महत्त्वपूर्ण है। जैसा मैंने कहा प्रेमचन्द पहले महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार थे, जिन्होंने इन दोनों को एक जगह किया। प्रेमचन्द का पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'सेवासदन' है, जिसने ध्यान आकृष्ट किया। सेवासदन के मूल में नारी हैसुमन। सेवासदन के बाद प्रेमाश्रम, वही किसान मूल में है। गोदान वह उपन्यास है जहाँ गंगा और यमुना जैसी ये दोनों धाराएँ-नारी वाली धारा और किसान वाली धारा, यानी 'सेवासदन' की और 'प्रेमाश्रम' की दोनों धाराएँ-समन्वित और एकीकृत रूप में एकत्र होती हैं। यद्यपि उसकी शुरुआत 'रंगभूमि' में ही होती है। 'गोदान' में जाकर दोनों एक ही जगह, किसान के घर में होरी और धनिया के रूप में, गोबर और झुनिया के रूप में दिखाई पड़ते हैं। मध्यवर्ग का चरित्र इतना कमजोर होता है, वह मेहता और मालती के रूप में है, नए मूल्यों की एक पीत छाया मात्र है, जो निरे आदर्शवाद से आर्तकित हैं, जो यथार्थ की जमीन को धारण ही नहीं कर पाता है। इन युग्मों के साथ अकेले प्रेमचन्द के हाथों दोनों धाराएँ एकजुट होकर उस बिन्दु पर पहुँचती हैं, जहाँ भारतीय उपन्यास पैदा होने के साथ ही सहसा वयस्क होता है। यह वयस्कता इसलिए उल्लेखनीय है क्योंकि इसी तरह का प्रयास ऐसे ही पिछड़े हुए देश में एक दूसरे साहित्यकार कथाकार के हाथों हुआ था, जिन्हें हम लेव टालस्टॉय के रूप में जानते हैं। जिसने 'अन्ना करेनिना' और 'युद्ध और शान्ति' इन दोनों उपन्यासों के द्वारा उस किसान चेतना और साथ ही उस दुविधाग्रस्त नारी, इन दोनों को अपने उपन्यासों में चरितार्थ किया। अर्थात् यह विडम्बना ही है कि भले ही पश्चिमी यूरोप ने उपन्यासों को पैदा किया हो, लेकिन इस उपन्यास का सर्वोत्तम विकास उन जगहों में हुआ जो पश्चिमी यूरोप की सभ्यता से बाहर थे। रूस यूरोप में होते हुए भी हाशिए पर था और भारत तो स्वयं उसके बाहर है ही। इसीलिए बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ऐसे उपन्यासों का आभास देता है। गैब्रियल गार्सिया मार्केज ऐसे ही लैटिन अमेरिकी उपन्यासकार हैं जिनको नोबेल पुरस्कार मिला है। इसलिए जरूरी नहीं कि कोई विधा जहाँ जन्म ले वहीं पूर्ण विकास प्राप्त करे 'मणि मानिक मुकता छवि ऐसी, उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।' उपन्यास पैदा जरूर पश्चिमी यूरोप में हुआ, लेकिन वह आज इतने वर्षों के बाद बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उन जगहों पर वह छवि प्राप्त कर रहा है, जो उस दायरे से बाहर थे।

(15 अप्रैल 1990 को प्रेमचन्द साहित्य संस्थान के एक आयोजन में दिया गया व्याख्यान, संस्थान की स्मारिका 'कर्मभूमि' में 1994 में 'प्रेमचन्द और भारतीय उपन्यास' शीर्षक से प्रकाशित)

## उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म

निर्मल वर्मा

असंसे से हम यह अफवाह सुनते आए हैं कि उपन्यास ने अपना चोला छोड़ दिया है, लेकिन हजारों की संख्या में उपन्यास अब भी लिखे जाते हैं। शायद ही किसी विधा को मरने में इतना समय लगा हो जितना उपन्यास को! यद्यपि उसकी मृत्यु की भविष्यवाणियाँ समय-समय पर होती रहती हैं, फीनिक्स की मानिंद हर बार वह अपनी मृत्यु की राख झाड़कर पुनः उठ खड़ा होता है। लेकिन यह भी हो सकता है कि शायद अफवाह सच है और उपन्यास सचमुच मर गया है, जैसा हम उसे अभी तक जानते आए थे। डिर्केस, फ्लॉबेर, तोल्स्तोय, दोस्तोएवस्की की रक्त-मांस मंडित प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं में लिथड़ी गाथाएँ जिन्हें आज तक हम उपन्यास की संज्ञा देते आए थे। हमारे समय तक आते-आते वे एक अंधी गली में गुम हो गई हैं, अपने पीछे एक भी ऐसा सुराग नहीं छोड़ गई है, जिन्हें पकड़कर उपन्यास की पुरानी गौरवगरिमा को उजागर किया जा सके। अब हम जिन पुस्तकों को उपन्यास के बहाने पढ़ते हैं, क्या वे उसकी मृत काया की महज प्रेत-छायाएँ हैं?

देखा जाए तो उपन्यास हमेशा से तकलीफ में था और जितना अधिक वह फलता-फूलता गया, उसके भीतर की अदृश्य तकलीफ भी बढ़ती गई। वह आत्म-चेतना की तकलीफ थी, जिसने अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय मानस को एक विशिष्ट और असाधारण मनोस्थिति में डाला था। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था कि मनुष्य सिर्फ एक व्यक्ति में बदल जाए और समाज एक ऐसी भीड़ में, जिसका अपना कोई चेहरा नहीं। मनुष्य का एक व्यक्ति में सिकुड़ जाना और दूसरी तरफ समाज का एक हृद तक फैल जाना, जहाँ व्यक्तित्व ही उसका संस्कार हो उपन्यास की तकलीफ इन दो पाटों के बीच में फँसे मनुष्य की बदहवासी, लक्ष्यहीनता और अकेलेपन को प्रतिबिम्बित करती थी।

मनुष्य क्या है? यह सनातन प्रश्न है और एपिक, कविता, नाटक जैसी सनातन (क्लासिक) विधाओं में इस प्रश्न को अनेकानेक स्तरों पर उघाडा गया था, किंतु व्यक्ति क्या है? इस प्रश्न

के साथ सीधी-सीधी पहली मुठभेड़ उपन्यास ने की थी। व्यक्ति जो चाहे किसी भी वर्ग, संप्रदाय, धर्म या परिवार का सदस्य क्यों न हो, किंतु जिसकी प्रामाणिकता उसकी सदस्यता (Belonging) में नहीं उसके होने (Being) में निहित होती है। व्यक्ति जो अपने को 'व्यक्त' करता है और व्यक्त करने के दौरान ही अपने होने का प्रमाण देता है। पहले उसके प्रमाण-पत्र में दूसरों के हस्ताक्षर होते थे, वे उसके होने के साक्षी थे। माता-पिता, वर्ग-जाति और सबसे ऊपर ईश्वर, वे थे इसलिए वह था, उनके बिना कुछ नहीं थामहज शून्य। समाज में व्यक्ति की अवधारणा ही एक अभूतपूर्व घटना या चाहें तो कहें दुर्घटना थीक्योंकि उसके होने के सबूत में सिर्फ उसका मैं था और ईश्वर और न्याय और नियम की अदालत में मैं की शिनाख्त स्वयं 'मैं' कैसे कर सकता है? इसलिए व्यक्ति के अस्तित्व पर शुरू से ही संदेह की छाया पड़ चुकी थी। उपन्यास ने पहली बार ऐसे व्यक्ति की गवाही लेने का प्रयास किया था जो अपने लिए इस दुनिया में किसी को साक्षी नहीं बना सकता था। नंगा और निरीह व्यक्ति, संपूर्ण रूप से स्वतंत्र और संपूर्ण रूप से संदिग्ध, असंख्य संभावनाओं में खुला हुआ और हर संभावना को अंतिम परिणति तक पहुँचाने की जिम्मेदारी ढोता हुआ। वह कुछ भी हो सकता थासंत, हत्यारा, शैतान। दोस्तोएवस्की का यह कथन है कि यदि ईश्वर नहीं है तो मनुष्य कुछ भी कर सकता है, न केवल व्यक्ति के जोखिम भरे संसार को उद्घाटित करता है बल्कि उस संसार की अंतविहीन अराजकता को भी रेखांकित करता है, जिसे उपन्यास ने अपनी विधा के घेरे में पहली बार समेटा था। उपन्यास की तकलीफ बहुत कुछ व्यक्ति के जन्म होने की प्रसव पीड़ा से जुड़ी हुई थी।

व्यक्ति की जिस अंतरात्मा को उपन्यास ने अपना केंद्र-बिन्दु बनाया था, उसी चीज ने उपन्यास को कथ्यात्मक बिरादरी की अन्य समस्त विधाओं से अलग भी कर दिया। एपिक, आख्यायिका दंतकथा, फेबल, लोककथाएँ, किस्से-कहानियाँऊपर से देखने पर लगता है कि उपन्यास इन्हीं प्राचीन कथ्यात्मक शैलियों की आधुनिक और परिष्कृत उत्पत्ति है। इस भ्रम का कारण शायद यह है कि उपन्यास और इन कथ्यात्मक शैलियों में यदि एक चीज समान रहती है तो वह हैकहानी। ये समस्त कथ्यात्मक विधाएँ किसी-न-किसी रूप में कोई किस्सा-कहानी सुनाते हैं; लेकिन क्या उपन्यास सिर्फ कहानी सुनाने का माध्यम है? यदि ऐसा होता तो उपन्यास जैसे विशिष्ट फार्म को अन्वेषित करने की क्या आवश्यकता थीमनुष्य की कहानी को अभिव्यक्त करने के लिए क्या पुरातन-काल से चलती आई कथ्यात्मक शैलियाँ काफी नहीं थीं? क्योंकि किस्सागो के सुरक्षित संसार में जो मनुष्य बसता था, उपन्यास का व्यक्ति उस संसार की हदों से कहीं दूर जा पड़ा था। पुरातन कथा-शैलियों में हमें कितने पात्र याद रहते हैं? एक राजा थाकहानी यहाँ से शुरू होती है; कौन-सा राजा? यह अप्रासंगिक है...क्योंकि राजा और रानी और राक्षस और पक्षी हमारी पुरातन लैंडस्केप की आर्केटाइप स्मृतियों को उघाड़ते हैंवे सार्वभौमिक हैं, अटल हैं; कहानी शुरू होते ही वे कठपुतलियों की तरह नाचने लगते हैं।

लेकिन मदाम बाँवेरी? हम उसके बारे में क्या जानते हैं? उपन्यास पढ़ने की बात जो याद रह जाता है वह मदाम बाँवेरी की कहानी नहीं, जो हजार औरतों की कहानी हो सकती है, बल्कि वे हजार घटनाएँ, जिनके अद्भुत और अप्रत्याशित सम्मिश्रण से एक मदाम बाँवेरी का जन्म हुआ था, एक स्वतंत्र-स्त्री, जिसके आगे संकल्प और अपने स्वप्न थे। उपन्यास से पहले की कथ्यात्मक विधाओं में पात्रों पर घटनाएँ घटती हैं, किंतु उपन्यास में व्यक्ति-पात्र अपनी इच्छाओं और संकल्पों से किसी-न-किसी रूप में इस घटना-चक्र में अपना हस्तक्षेप करना चाहते हैं, इसमें वे असफल हों, पराजित हों, घटनाओं के रथ-तले कुचले जाएँ, यह दूसरी बात हैबल्कि यही बात उपन्यास को कहानी-किस्से से अलग करती है; उपन्यास भी कथ्यात्मक

विधा है किंतु वह कहानी कहने का शुद्ध माध्यम नहीं है। डॉन किहोते और मदाम बॉवैरी के स्वप्नों और सांसारिक घटना-चक्र की अनिवार्य लौहवृत्ता के बीच एक तनाव-भरा द्वंद्व बराबर चलता रहता है। एक द्वंद्वात्मक टकरावइसीलिए वे आलोचक, जो उपन्यास को विदेशी विधा मानकर भारतीय उपन्यास का उद्धार पुरानी आख्यायिका, लोक-कथाओं और किस्सों की शैली को पुनर्जीवित करने के रूप में देखते हैं, शायद समस्या का सीधा-सीधा सामना नहीं करते, उपन्यास विदेशी विधा जरूर है, किंतु भारतीय समाज के उलट-फेर में जो व्यक्ति आज आकार ग्रहण कर रहा है क्या पुरानी कथ्यात्मक शैलियाँ उसके विकट, संघर्षमय संसार के बीहड़ अंतद्वंद्वों को अपने में समेट पाएँगी, मुझे इसमें संदेह है। क्या यह महज संयोग था कि हजारी प्रसादजी अपनी किस्सागोई गण्य शैली में आधुनिक जीवन पर कोई उपन्यास जिखते हुए हमेशा झिझकते रहे, विदेशी बोझ से छुटकारा दुर्भाग्यवश हमेशा परंपरा में ही नहीं मिलता जब तक स्वयं परंपरागत शैलियों को आधुनिक दबाव-तले पुनर्निर्मित और परिवर्तित नहीं किया जाता। उपन्यास के 'भारतीयकरण' की समस्या को उपन्यास में पहले की सहज और भोली और अपेक्षाकृत सरल स्थिति में लौटकर नहीं सुलझाया जा सकता।

लेकिन एपिक? वह तो सबसे प्राचीन कथ्यात्मक विधा है; कुछ उपन्यासों को पढ़ते हुए हमें बार-बार होमर या वाल्मीकि याद आते हैं? शायद इसीलिए हेगल ने उपन्यास को 'आधुनिक मध्यवर्ग के महाकाव्य' के रूप में परिभाषित किया था।<sup>1</sup> जॉयस कायूलिसिस तो अपनी संरचना में ओडिसी के समानांतर ही चलता है। दोनों विधाओं की यह समानता अस्वाभाविक भी नहीं है; ऐसे उपन्यास हैं जो महाकाव्य के पैमाने पर विभिन्न व्यक्तियों के समग्र जीव को एक विराट् भित्तिचित्र की तरह अपने पन्ने पर अंकित करते हैं। यह अकारण नहीं कि 'ब्रदर्स कारामोजोव' या 'युद्ध और शांति' या अगर बीसवीं सदी में रचे गए प्रूस्त के 'रिमेंब्रेंस ऑव थिंग्स पास्ट' को ही लें, उन्हें पढ़ते हुए हमें अनायास-क्लासिक युग में रचे महाकाव्यों या आइसलैंडी सागा-ग्रंथों की याद हो आती है जन्म से मृत्यु तक मनुष्य के संपूर्ण जीवन की गाथाएँ, जिंदगी का विराट् समंदर, जिसमें हर उठती लहर और मरते हुए ज्वार के भवसागर को नापा जाता है। ये उपन्यास एपिक की याद जरूर दिलाते हैं, किंतु असल में एपिक की संभावनाओं को छूते-छूते रूक जाते हैं, कुछ छोटे पड़ जाते हैं इसलिए नहीं कि तोल्स्तोय या प्रूस्त की यथार्थ की पकड़ कहीं ढीली हो जाती है या उनकी अथक सृजन-ऊर्जा कहीं बीच में मंद पड़ जाती है, बल्कि इसलिए कि जिस समूचे मनुष्य की विराट्-सृष्टि को एपिक एक समय में चित्रित करते थे, वह आधुनिक समाज

1. हेगल की इस परिभाषा का अनुकरण करते हुए; किन्तु दुर्भाग्यवश उनके प्रति आभार न प्रकट करते हुए; डॉ. नामवर सिंह ने भारतीय उपन्यास को 'किसान-जीवन का महाकाव्य' माना है। यह परिभाषा कितनी भ्रामक है, मैं उस बहस में यहाँ नहीं जाना चाहूँगा। सिर्फ इतना कह देना काफी है कि जबकि हेगल के सामने बूर्जुआ वर्ग के विकास का समूचा भविष्य फैला था, कहीं भारतीय किसान का वह अंधकारमय-मार्क्स के शब्द में कहें, तो मैलनकोलिक भविष्य डॉ. नामवर सिंह नहीं देख पाते, जहाँ भूमि से उन्मूलित होकर भारतीय किसान का वर्ग-संस्कार उसका 'किसानत्व' ही संकट में पड़ गया है। प्रेमचंद ने अपने अंतिम उपन्यास और कहानियों में किसान का 'मैलन काली' औपनिवेशिक विषाद को अभिव्यक्त किया था किन्तु आज की स्थिति में इस 'विषाद' के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं बची रही है। यदि व्यावसायिक औद्योगीकरण की मार भारतीय किसान पर उतनी ही निर्ममता से पड़ती रही, जिसका दुःस्वप्न मार्क्स ने देखा था, तो अगले कुछ वर्षों में हमें अपने गाँवों में पूँजीवादी फार्मर जो किसान का Peasant नहीं है। वहाँ खेतिहर मजदूर मिलेंगे, किसान नहीं।



तक आते-आते खंडित व्यक्तित्वों में ही इतने भयानक ढंग से बिखर गया है कि उपन्यास उसे केवल नॉस्टॉल्लिज्या के क्षणों में याद कर सकता है या कभी दुर्लभ क्षणों में पकड़ पाता है। बाकी समय उसे अपना माथा उन दीवारों से फोड़ना पड़ता है, जो न केवल हर व्यक्ति को अपने समाज से अलग करती हैं, बल्कि स्वयं उसकी अंतरात्मा में एक फाँक की तरह खिंची रहती हैं। ऑल्डस हक्सले ने अपने एक बहुत दिलचस्प निबंध 'एपिक और संपूर्ण सत्य' में इस बात को रेखांकित किया था। होमर के महाकाव्यों में कैसे मनुष्य का हर क्षण उसके जीवन की निरंतरता में संपूर्ण बन जाता है। कोई घटना आकस्मिक नहीं है, वह एक समूचे पैटर्न में अर्थ ग्रहण करती है; वह एक तरह का दैवी, पूर्व निर्धारित पैटर्न है, हर चीज वैसे ही होगी, जैसे उसे होना है। प्राकृतिक नियमों की तरह अनिवार्य और अर्थसंगत जिसमें पवित्र और सांसारिक, धार्मिक और संसारी सीमाएँ एक-दूसरे में घुल जाती हैं।

उपन्यासों में क्यों नहीं ऐसा संभव हो पाता? शायद इसका कारण यह है कि उपन्यास शुद्ध रूप से सेक्युलर विधा है, जिसमें वे समस्त देवी, देवताओं, प्रकृति के अलौकिक चमत्कारों और नियति की भविष्यवाणियों को बहिष्कृत कर दिया गया है। वहाँ सब कुछ व्यक्ति के स्वायत्त स्वेच्छाचारी निर्णयों पर निर्भर है, इसलिए सब कुछ आकस्मिक और सांयोगिक है। बड़े-से-बड़े उपन्यास को पढ़ते हुए क्यों यह तकलीफ मन को कचोटती रहती है कि घटनाएँ नितान्त दूसरी तरह से घट सकती थीं कि उनके पीछे ऐसा कोई दैवी या प्राकृतिक संकशन नहीं, जो उन्हें किसी दूसरे क्रम में सँजोने से रोक सकता हो। क्यों न यह संदेह मन को सालता रहता है कि यदि अन्ना कैरेनिना चाहती, तो अपने जीवन की घटनाओं के पहिये विपरीत दिशा में मोड़ सकती थी, उनके क्रम को बदल सकती थीं और इस तरह अपने को आत्महत्या के भयावह अंत से बचा सकती थी? यह नहीं कि उपन्यास में उसकी मृत्यु विश्वसनीय और अनिवार्य नहीं जान पड़ती। यही तो सबसे बड़ी विडंबना है। उपन्यास में जो चीज सबसे अधिक अनिवार्य और स्वाभाविक जान पड़ती है। जीवन के संपूर्ण प्रवाह में वही चीज अचानक सांयोगिक (Contingent) और संदिग्ध-सी बन जाती है। मेरी मैकार्थी ने अपने एक निबंध में लिखा था कि यदि अन्ना कैरेनिना ब्रान्स्की से स्टेशन पर न मिलती जो निरा संयोग था तो उसकी जिंदगी पूर्ववत् अपनी लगी-बँधी पटरी पर चलती रहती। यह भीषण सत्य है। एक आकस्मिक घटना समूचे जीवन की नियति को बदल सकती है। यह बात मदाम बॉवैरी पर लागू नहीं होती, जो अपनी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए किसी भी प्रेमी के साथ भाग सकती थीं, इस दृष्टि से अन्ना का चरित्र मदाम बॉवैरी से कहीं ज्यादा स्वतंत्र है और उसका प्रेम जितना सांयोगिक है उतना ही संहारकारी। ऐपिक की घटनाओं और पात्रों की नियति की अनिवार्यता में कहीं प्रकृति का समर्थन और साधुवाद है जो उसे निश्चित और नियामक बनाता है। किंतु उपन्यास की अनिवार्यता एक व्यक्ति एक के ठिठुरते अरक्षित निर्णयों पर निर्भर है, जिसे बाहर की कोई शक्ति-समाज, प्रकृति, ईश्वर अपना संरक्षण देकर वैध नहीं करा सकती। उपन्यास की घटनाएँ कलात्मक रूप से अनिवार्य होने के बावजूद किसी तरह की नैतिक वैधता (eigitimacy) या प्राकृतिक क्रमबद्धता प्राप्त नहीं कर पातीं। क्या औपन्यासिक जगत् की इस अराजक अवैधता को देखकर ही तॉल्स्तॉय ने अंतिम वर्षों में अपने महान् उपन्यासों को इतनी निर्ममता से अस्वीकार नहीं कर दिया था?

व्यक्ति के इस स्वेच्छाचारी और अराजक संसार के भयावह तर्क को काफ़ी अंतिम परिणति तक ले गए, जहाँ मनुष्य को अपराधी तो घोषित कर दिया जाता है किंतु कोई ऐसा नियम या न्यायालय नहीं, जिसके सामने हम यह पता चला सकें कि आखिर उसने कौन-सा

ऐसा काम किया है, जिसका अपराध उस पर मढ़ा जा रहा है। दोस्तोएवस्की की यह अराजकता नियमहीनता का संसार है जिसमें व्यक्ति सब कुछ कर सकता है काफ़ी तक आते-आते अपना पूरा एक चक्र समाप्त कर लेता है, जिसमें व्यक्ति की यही सब कुछ करने की स्वाधीनता ही उसका सबसे बड़ा पाप और अपराध बन जाती है। उनका अंतिम उपन्यास 'कासल' एक दुर्गम अंतहीन, यातनामय खोज है, किसी ऐसे सर्वोच्च अधिकारी (ईश्वर?) को पाने की तलाश, जिसके लॉ, नियम या आदेश के अंतर्गत मनुष्य जीवन के आदेश के अंतर्गत मनुष्य अपने जीवन की अर्थवत्ता को उपलब्ध कर सके एक ऐसा ईश्वरीय संदेश जो हमें अंतिम और स्पष्ट रूप से बता सके कि इस धरती पर मनुष्य का दायित्व-धर्म, वोकेशन क्या है? काफ़ी अंतिम उपन्यासकार थे जो उपन्यास की इतर नैतिक और सेक्यूलर सीमाओं को लॉंघकर नियम और धर्म की वैध दुनिया में जाना चाहते थे और लॉंघने के इस असंभव प्रयास में दोनों दुनियाओं के बॉर्डर पर ही खत्म हो गए थे। क्या उनका अंत एक अजीब ढंग से हमें बाल्टर बेंजामिन की मृत्यु की याद नहीं दिलाता जो नात्सी यूरोप के अधर्म से छुटकारा पाने के लिए लोकतंत्र की धर्मसम्पन्न व्यवस्था में जाना चाहते थे और जिन्होंने घोर हताशा में धर्म और अधर्म की अंतिम सीमा पर ही आत्महत्या कर ली थी?

यह वह क्षण था, जब पहले-पहल यूरोप में उपन्यास-या ज्यादा सच्चाई से कहें तो यूरोपीय उपन्यास की मृत्यु की अफवाह सुनाई देने लगी थी। ध्यान से देखें तो पश्चिमी संस्कृति का यह क्षण ठीक वही था जब पहली बार यूरोपीय समाज में व्यक्ति की मृत्यु की चर्चा भी शुरू होने लगी थी एक ऐसा व्यक्ति जो अकेला और अरक्षित होने के बावजूद अपनी भावनाओं और विचारों में स्वायत्त था, राजसत्ता और जन-समूह से अलग अपनी विशिष्ट इकाई पहचानता था : आत्म-केंद्रित लेकिन स्वाभिमानी व्यक्ति जिसकी छवि को यूरोप के रोमैंटिक-साहित्य में अनेक लेखकों ने उकेरा था। किंतु उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में जिस औद्योगिक नगर सभ्यता का उदय हुआ, उसने एक ऐसी भीड़ को जन्म दिया, जिसकी क्षुद्र बाजारू रुचियों को देखकर फ्लॉवेर इतना आतंकित हुए थे; जन के नाम पर जिस चेहराहीन, दृष्टिहीन, रुचिहीन व्यक्तियों की भीड़ ने भेड़ों की तरह यूरोपीय नगर को घेरा था, उससे बचने के लिए फ्लॉवेर ने अपने एकांत कमरे में शुद्ध कला की साधना में ही जीवन की अर्थवत्ता खोजनी चाही थी; पहली बार कलाकार के स्वतंत्र और स्वायत्त व्यक्तित्व पर संकट की छाया मँडराने लगी थी; स्वयं व्यक्ति का रोमैंटिक उज्ज्वल चरित्र एक औसत आदमी की सपाट और सतही और यंत्रवत, दुनिया में अपनी वैयक्तिक विशिष्टता खोने लगा था।

पहले महायुद्ध के बाद व्यक्ति का यह संकट इतना गहरा हो चुका था कि स्पेनिश चिंतक और दार्शनिक होसे ऑर्तेगाई गास्से ने अपनी पुस्तक 'द रिवोल्ट ऑव् द मार्सेज' में पहली बार यूरोप के व्यक्ति का 'भीड़ के मनुष्य' (mass man) में कायाकल्पित होते देखा था, और यह भयावह कायाकल्प था क्योंकि भीड़ का मनुष्य रेनेसेंस के विलक्षण और विशिष्ट गरिमा संपन्न मनुष्य और उन्नीसवीं शती के रोमैंटिक हीरो की अनोखी विशिष्टता से खलित होकर व्यक्ति के सबसे औसत, निम्नतम आत्मसंहारी और संवेदन-शून्य संस्करण में बदल गया था, एक आत्महीन मनुष्य, जिसने अपने व्यक्तित्व को एक असहाय बौद्ध मानकर भीड़ की अमानवीय सत्ता के हवाले कर दिया था। स्वतंत्रता का दर्द और सोच अब उसे नहीं मथता था, एक सोचहीन मनुष्य, जो अपनी अंतिम परिणति में हमें कामू के 'आउटसाइडर' की याद दिलाता है खाने-पीने वाला व्यक्ति, जो अपनी माँ की मृत्यु कब हुई थी, कल या परसों, जरा कल्पना कीजिए दोस्तोएवस्की के 'नोट्स ऑव् द अंडरग्राउंड' के विक्षिप्त, बदहवास, घृणा, प्रेम, आत्म-जुगुप्सा

और नैतिक-अनैतिक प्रश्नों के दलदल में कलपता 'आउटसाइडर कामू' के अजनबी तक आते-आते कैसे एक उदासीन, दैनिक कार्य-कलाप में डूबे भावशून्य रोबो में बदला गया है? कामू का नायक इसलिए अजनबी नहीं है कि समाज से अलग अपनी भावनाओं या आदर्शों में विशिष्ट हैउन्नीसवीं शती के निहिलिस्ट, विद्रोही आउटसाइडर की तरहबल्कि इसलिए कि उसका व्यवहार शुद्ध रूप से आज के 'भीड़ मनुष्य' का स्वाभाविक चरित हैहम सबका चरित्रकिंतु जहाँ हम अपनीभावशून्यता और आध्यात्मिक दिवालियेपन को अपने छद्म सरोकारों और संसारी नैतिकता की काई तले छिपाए रहते हैं, काम्यू का हीरो हमें इसलिए अजनबी लगता है क्योंकि उसने इस काई को अपन ऊपर से उतारकर अपने को जस-का-तस प्रस्तुत कर दिया है; एक औसत, दैनिक और आयामहीन पुरुष; दोस्तोएवस्की का नायक अपनी आत्म के अंडरग्राउंड अँधेरे में आउटसाइडर था, कामू का अजनबी ऊपर सतह की रोशनी में घूमता-रिता नगर की भीड़ का एक ऐसा टिपिकल प्राणी है जो अपने औसतपन की चरमावस्था के कारण भयावह-सा जान पड़ता है; पहला दूसरों के औसत संसार से अलग छिटककर अपनी आत्मा की अनंत परतों को छीलता है, दूसरा भीड़ के अनंत समूह के बीच एक औसत इकाई है, जिसकी आत्मा शून्य की अथाह परतों के नीचे दबी है। लगता है, जैसे इन दो उपन्यासों के बीच यूरोपीय मनुष्य ने व्यक्तित्व के चरम बोझ से व्यक्तित्वहीनता के चरम हल्केपन तक ही पीड़ित यात्रा तय की है। उपन्यास विधा, जिसका जन्म ही व्यक्ति की विशिष्ट अवधारणा से जुड़ा था, यदि हमारे समय की घोर व्यक्तित्वहीनता तक आते-आते अपने को इतना थका और क्लान्त और संभावना-शून्य पाए, तो क्या यह आश्चर्य की बात होगी?

यूरोप में व्यक्ति की यह परिणति, 'सबकुछ' से 'कुछ नहीं' तक की यात्रा क्या अनिवार्य थी? इस प्रश्न को थोड़ा-सा बदलकर ऐसे भी पूछ सकते हैं कि जिस समाज में व्यक्ति की अवधारणा मनुष्य के सर्व-सत्ता संपन्न और आत्म-केंद्रित अहम् (ईगो) से शुरू होती है, उसका अंत यदि इस अहम् आत्मसंहार में हो, एक खंडित और खोखला अहम्, तो क्या यह अस्वाभाविक बात होगी? एक ऐसी संस्कृति में, जहाँ आत्मा और अहम्, ईगो और सेल्फ के बीच कोई स्पष्ट अंतर न हो, जहाँ एक को दूसरे के साथ उलझाया जाता रहा हो, वहाँ मनुष्य अपने अहम् का अतिक्रमण करके अपनी आत्मा के बोझ से छुटकारा पाने के लिए अपने सेल्फ को ही नष्ट कर डालना चाहता है। बीसवीं शती के उत्कृष्ट उपन्यासों में इस खोए हुए सेल्फ, इस लुप्त आत्मा को पाने की छटपटाहट जरूर दिखाई देती है, इसके बिना कोई भी व्यक्ति अपनी अस्मिता, अपनी पहचान, धरती पर होने का अर्थ परिभाषित ही नहीं कर सकता, सॉल बैलो के पात्र हरजोग का क्रमिक ट्रेजिक संघर्ष यही है कि बीसवीं शती औद्योगिक दुनिया में अपनी असली पहचान, अपने सही रोल, अपनी आत्मा के नक्शे को निर्धारित कर सके क्योंकि वह जिस दुनिया में रहता है, वहाँ लोगों की अथाह भीड़ तो है, असंख्य अहमों का कुलबुलाता समूह, किंतु स्वयं व्यक्ति का सेल्फ, उसका अपनी आत्मा से संबंध इतना धूमिल और संदिग्ध बन गया है कि यह पता लगाना भी असंभव बन गया है कि उसका अपना स्वयं कितना उसका अपना है, कितना दूसरों से उधार लिया हुआ, दूसरों द्वारा अनुशासित। हरजोग अंधी गली के लिए अंतिम मोड़ पर पहुँच गए हैं, वहाँ यदि एक तरफ हमें यूरोपीय उपन्यास का डेड एंड दिखाई देता है, तो दूसरी तरफ वह कुंजी भी मिल जाती है, जो मनुष्य के अँधियारे मन, अहम् की परतों तले दबे आत्मन् का ताला खोल सके, जिसके दरवाजे एक दूसरी दुनिया की तरफ खुलते हैं।

कैसी है यह दुनिया, जो यूरोपीय उपन्यास के अहम्-केंद्रित संसार से मुड़कर हमें एक ऐसे मन से साक्षात् कराती है, जहाँ अहम् के भयभीत आक्रामक साम्राज्य की सीमाएँ खत्म

हो जाती हैं, एक ऐसे सेल्फ के दरवाजे खोलती है, जिसके भीतर व्यक्ति का मन इड, ईगो सुपर-ईगो जैसे अँधेरे तहखानों में बँटा नहीं है, बल्कि जहाँ मन, आत्मा और देह एक संपूर्ण सृष्टि के मिनिएचरों में स्वयं मनुष्य के भीतर अखंडित रूप से मौजूद है। क्या हम इसे 'भारतीय मन' की दुनिया कह सकते हैं? मुझे नहीं मालूम, किंतु अवश्य ही यह वह दुनिया नहीं है, जिसका चित्र हमें आज तक यूरोपीय उपन्यासों में उपलब्ध होता रहा है। फिर कैसा है यह संसार, जिसके भीतर इस मन का संस्कार बसा है, जिसके तंतुओं से स्वयं इस मन का टेक्सचर बना है? यूरोपीय उपन्यास की अहम्-आक्रान्त दुनिया से निकलकर यदि हम इस अनोखे मन, मनुष्य के आत्मन्-संस्कार में प्रवेश करने का अवसर मिल सके तो हमें सहसा लगेगा मानो हम इकाइयों की दुनिया से निकलकर संबंधों की दुनिया में चले आए हैं। यहाँ सब जीव और प्राणी एक-दूसरे में अंतर्गुफित हैं, अन्योन्याश्रित हैं, न केवल वे प्राणी जो प्राणवान हैं, बल्कि वे चीजें भी जो ऊपर से निष्प्राण (inanimate) दिखाई देती हैं। इस अंतर्गुफित दुनिया में चीजें आदमियों से जुड़ी हैं, आदमी पेड़ों से, पेड़ जानवरों से, जानवर वनस्पति से, और वनस्पति आकाश से, बारिश से, हवा से। एक जीवंत, प्राणवान, प्रतिपल साँस लेती, स्पंदित होती हुई सृष्टि अपने में संपूर्ण सृष्टि जिसके भीतर मनुष्य भी है। किंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य सृष्टि के केंद्र में नहीं है, सर्वोपरि नहीं है, सब चीजों का मापदंड नहीं है; वह सिर्फ संबंधित है और अपने संबंध में वह स्वायत्त इकाई नहीं है, जिसे अब तक हम व्यक्ति मानते आए थे, बल्कि वह वैसे ही संपूर्ण है जैसे दूसरे जीव अपने संबंधों में संपूर्ण हैं, जिस तरह मनुष्य सृष्टि का ध्येय नहीं है उसी तरह मनुष्य का ध्येय व्यक्ति होना नहीं है, हम साधन और साध्यों की दुनिया से निकलकर संपूर्णता की दुनिया में आ जाते हैं। मनुष्य की समग्रता का यह अद्भुत साक्षात् हमें मार्कुज़ के उपन्यास 'One hundred years of solitude' में मिलता है, इसलिए वह यूरोप के व्यक्ति-केंद्रित या व्यक्तिहीन उपन्यास से इतना अलग जान पड़ता है। यूरोपीय मनुष्य का ज्वर, जो व्यक्ति के अलगाव और अकेलेपन के कारण उपन्यास की मर्मांतक तकलीफ बनकर प्रगट हुआ था, संबंधों की इस परिकल्पना में अपने आप नष्ट हो जाता है, घुल जाता है। हेगल ने जहाँ व्यक्ति की अस्मिता दूसरों के विरुद्ध अन्य के खिलाफपरिभाषित की थी, वहाँ उसके विपरीत संबंधों की दुनिया में विवेकानंद बिलकुल दूसरे कोण से व्यक्ति को आँकते हैं, "व्यक्ति का जीवन संपूर्ण के जीवन में बसा है, उसका सुख संपूर्ण के सुख में निहित है, संपूर्ण के बिना व्यक्ति की परिकल्पना असंभव है। यह एक ऐसा शाश्वत सत्य है, जिसकी आधार-शिला पर समूचा विश्व टिका है। इस अनंत संपूर्ण की ओर धीरे-धीरे अग्रसर होना, उसके प्रति अगाध सहानुभूति और समानता महसूस करना, उसके सुख में सुखी और उसकी यातना में दुखी अनुभव करनायही व्यक्ति का एकमात्र कर्तव्य है। यह केवल उसका कर्तव्य ही नहीं है, बल्कि उसके उल्लंघन में उसकी मृत्यु है।"

विवेकानंद ने व्यक्ति की मृत्यु के बारे में जो चेतावनी उन्नीसवीं शती के अंत में दी थी, हमारी शती की ढलती घड़ियों में एक साक्षात् और एक क्रूर सत्य बनकर हमारे सामने खड़ी हो गई है। आज के उपन्यास को इस मृत्यु का सामना करना है और यह किसी सरलीकृत शार्ट कट से नहीं कर सकता, न भारत की पुरानी कथ्यात्मक शैलियों में जाकर उसे चित्रित किया जा सकता है, न ही उसे उन्नीसवीं शती में रचित उपन्यास के चौखटों में ही, बंद किया जा सकता है, व्यक्ति जहाँ सर्वोपरि था। उसका सामना केवल मनुष्य के आत्मन्-व्यक्तित्व, उसके सेल्फ को पुनर्भाषित करने की दुर्गम और बीहड़ प्रक्रिया में ही संभव हो सकेगा। दूसरे शब्दों में, हम जिस नए उपन्यास की परिकल्पना करते हैं, वह पश्चिम के यथार्थवादी, विक्टोरियन उपन्यास से तो भिन्न होगा ही,

किंतु वह परंपरागत अर्थों में भारतीय मन का उपन्यास ही होगा, यह कहना असंभव है, जबकि हम इस मन को ही संस्कारगत संस्कृति के संकट के संदर्भ में पुनःपरीक्षित नहीं करते। जाहिर है, उपन्यास की यह परिकल्पना व्यक्ति के खंडित ईगों का अतिक्रमण करके, उसे वैसी संपूर्ण स्थिति में देखने से शुरू होगी, जिसमें वह समानता और सहानुभूति के संवेदनात्मक स्तर पर पुनः अपना रिश्ता आसपास फैली सृष्टि से जोड़ सकेस्वयं उसके बीच जीवित रहने की भूली हुई मर्यादा को याद रख सके, इस याद का एक ऐसी कलात्मक स्पेस में अभिव्यक्त कर सके, जो स्मृति भी है, इतिहास भी, जादू भी, माया और यथार्थ की लीला भी, पुरुष और प्रकृति के बीच एक नए पुराण की रचना जो हमें एक तरफ बार-बार अपनी पुरानी कथ्यात्मक विधाओं की याद दिलाएगीमहाकाव्य, लोककथाएँ, परीकथा, इंद्रजाल, तो दूसरी तरफ उसमें हमें पश्चिमी उपन्यास के वे सर्वोत्तम, दुर्लभ क्षण भी याद आते रहेंगे, जब व्यक्ति ने अपने अंतर्मन की अँधेरी गुहा से बाहर संपूर्ण से साक्षात् किया था, या भीतर का वह अँधेरा सूरज, जिसकी रोशनी में लारेंस ने बीसवीं शती की मशीनी सभ्यता की समस्त छद्म बौद्धिक अवधारणाओं को भेदकर समूचे ब्रह्माण्ड से खून का रिश्ता जोड़ा था। पश्चिमी उपन्यास में संपूर्णता की ये झलकें बहुत दुर्लभ हैं, किंतु उनसे साक्षात् किए बिना न तो हम व्यक्ति की पीड़ा समझ पाएँगे, न उसका अतिक्रमण करके नए उपन्यास की राह खोज पाएँगे।

उपन्यास पश्चिम की विधा अवश्य हो, व्यक्ति की पीड़ाएक व्यक्ति की हैसियत सेहर जगह एक जैसी है। यूरोपीय उपन्यास के चौखटों से मुक्त होकर हम जिस उपन्यास के पुनर्जन्म की परिकल्पना करते हैं, उसमें मनुष्य की देह पर उन सब घावों के निशान होंगे, जिसे व्यक्ति ने अपने पूर्व-जन्म में झेला है, किंतु अब उनकी पीड़ा किसी अन्य के द्वारा या विरुद्ध न हो सृष्टि के उस समूचे अस्तित्व से जुड़ी होगी, जिसके सुख में सुखी और जिसकी यातना में दुखी हुआ जाता है। यहाँ देखना, होना, महसूस करना, अलग-अलग खंडों में विभाजित नहीं है, जो हमें फ्रांस के नए उपन्यास में मिलता है, जिसकी व्याख्या रॉब ग्रिये ने की है। रॉब ग्रिये के लिए 'नया उपन्यासकार' वह है जो चीजों को सिर्फ देखता-भर है, एक तटस्थ दर्शक की तरह, जिसमें वह अपनी भावनाओं द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं करता। उसके विपरीत जिस उपन्यास की परिकल्पना हम कर रहे हैं, वहाँ हस्तक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि वहाँ लेखक देखने वाला सब्जेक्ट नहीं है और दुनिया दिखाई देने वाली आब्जेक्ट नहीं है बल्कि दोनों एक-दूसरे के बीच में हैं; मनुष्य दुनिया के बीच में है, प्राणियों में एक प्राणी, जीवों में एक जीव, वह दूसरों को देखता है, तो दूसरे भी उसे देखते हैं, कुछ उसी भाव में जैसे कभी पॉल क्ली ने कहा था 'जब कभी मैं जंगल में घूमता हूँ तो मुझे लगता है कि जहाँ मैं पेड़ों को देख रहा हूँ, वहाँ पेड़ मुझे देख रहे हैं।'

यह बिल्कुल दूसरा संसार है, जहाँ कोई केन्द्र नहीं है, क्योंकि सब केन्द्र में हैं, एक चमत्कारी, जादुई दुनिया, जिसका जादू सिर्फ इस छोटे से सत्य में है कि जीवन की प्राणवत्ता को सेक्यूलर और धार्मिक में विभाजित नहीं किया जा सकता; जो है, वह पवित्र है। दोस्तोएवस्की ने कहा था कि, 'अगर ईश्वर नहीं है, तो मनुष्य सबकुछ कर सकता है।' आज हम कह सकते हैं कि अगर व्यक्ति नहीं है, तो मनुष्य सबकुछ हो सकता है, पेड़ और पत्थर और धूप और जंतुओं के जैविक उज्ज्वल संसार में एक जीव-सार्वभौमिक पवित्रता के बीच का पवित्रता का प्राण पुंज। उपन्यास, ए ब्राइट बुक ऑफ लाइफ?' (डी. एच. लारेंस) हाँ, क्यों नहीं, किंतु भारतीय या यूरोपीय किताब नहींबल्कि जीवन की एक संपूर्ण किताब।

(‘शताब्दी के ढलते वर्षों में’ नामक पुस्तक से)

## संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास

निर्मल वर्मा

हम भारतीय लेखक उस विधा के बारे में बहुत कम सोचते हैं, जिसे स्वयं अपने सृजन के लिए चुनते हैं। हमारे 'विधा' महज माध्यम है, लक्ष्य कुछ है और साहित्य, समाज, दर्शन। इसलिए 'साहित्य' साहित्य की रचना करते हैं। हम यह नहीं सोचते कि लेखक की नैतिकता उसके विचारों में या उनकी अभिव्यक्ति की विभिन्न शैलियों में निहित नहीं होती, उसकी नैतिकता इस बात में निहित होती है कि उसका अपनी विधा, भाषा के प्रति क्या रुख है। दो शब्दों में कहें कि जिस 'चीज' को हम समाज की आलोचना का औजार मानते हैं, खुद उस औजार का परीक्षण जरूरी नहीं समझते।

जरूरी नहीं, आत्म-परीक्षण के अभाव में सृजन-शक्ति कुण्ठित हो बल्कि अक्सर देखा गया है कि अपनी विधा के प्रति अत्यधिक बौद्धिक सतर्कता कभी-कभी मुक्त, सहज, निर्दोष प्रेरणा को बोझित और बनावटी बना देती है। किंतु इससे अगर कोई लेखक यह सुविधाजनक निष्कर्ष निकाल ले कि भाषा और विधाओं के बारे में माथापच्ची एक व्यावसायिक आलोचना का काम है, कलाकार का अपना कर्म नहीं, तो शायद स्वयं कला के लिए इससे आत्मघाती भ्रम कोई दूसरा नहीं। सृजनात्मक कल्पना अपने सर्वोत्तम क्षणों में उतनी ही आलोचनात्मक होती है, जितनी व्यावसायिक आलोचना अपने गरिमापूर्ण क्षणों में सृजनात्मक। सृजन और आलोचना को अलग-अलग कटघरों में बाँटकर हम एक तरफ आलोचना को निर्जीव और पंगु बना देते हैं, दूसरी तरफ सृजन को महज एस्थेटिक सौंदर्य का साधन मात्र। हम अक्सर भूल जाते हैं कि कल के आधुनिक आंदोलन, जिसकी शुरुआत बीसवीं शती के आरंभ में हुई थी, की प्रमुख विशेषता यह प्रखर आलोचनात्मक दृष्टि ही थी।

यह आलोचना कोई बाहर की चीज न होकर खुद लेखक के सृजनात्मक एडवेंचर से जुड़ी हैस्वयं 'लिखने' के कार्य में अंतर्निहित है। इसलिए विचारों, सिद्धांतों और दर्शन से अलग लेखक की आलोचना उसकी कल्पना के बीचों-बीच केंद्रित है। लेखक का 'शब्द' न

यंत्र हैं, न माध्यम, न ही तर्क-संगत विचार-पद्धति, वह सिर्फ है और उसका होना ही तीव्र ढंग से आलोचनात्मक हो जाता है। भाषा जिस चीज को व्यक्त करती है, स्वयं वह चीज भी है जिस लक्ष्य का माध्यम है, खुद वह लक्ष्य भी है, अगर वह समाज-परीक्षण का 'यंत्र' है तो स्वयं उस यंत्र को माँजने का स्वप्न भी है साहित्य जो 'होता', उस 'है' से निकलकर बार-बार उसके पास लौटता है। अतः अंतिम रूप से हर कला की लड़ाई अपने से लड़ाई है, अपना आत्ममंथन है। यह आत्म-मंथन सृजन-कर्म को आलोचनात्मक करता है। शब्द किसी विचार का वाहक नहीं, वह शब्द पीछे मुड़कर अपनी तरफ देखता है, तो खुद विचार बन जाता है। हम 'विचार' को बौद्धिकता और 'कल्पना' को सृजन के साथ नथी करने के इतने आदी हो चुके हैं कि यह सोचना असंभव लगता है कि शब्द से जुड़कर हर कल्पना वैचारिक, हर सृजन-प्रक्रिया आलोचनात्मक हो सकती है। शब्द का यह चयन मनमाना, रहस्यमय, अलौकिक नहीं है, इस चयन के पीछे लेखक का समूचा नैतिक संघर्ष छिपा होता है, बल्कि यूँ कहें, अगर लेखक की प्रतिबद्धताजैसी कोई चीज है, तो वह लेखक और शब्द के बीच संबंध में ही प्रतिध्वनित हो सकती है।

इससे हम एक अनोखे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं : कोई भी कलाकृति अपनी शुद्ध पवित्रता में ही सबसे अधिक आलोचनात्मक हो सकती है। जिस हद तक सृजन-शक्ति समाज के बाहरी खूंटों से, समाजशास्त्र और सैद्धांतिक आग्रहों की 'छन्न चेतना' से मुक्त होती जाएगी। उस हद तक ही वह सार्थक आलोचनात्मक चेतना की वाहक बन सकेगी। दूसरे शब्दों में वही कला, जो किसी विचार का यंत्र न हो, सबसे अधिक प्रखर वैचारिक यंत्र बन जाती है। वह किसी 'सत्य' का माध्यम न बनकर खुद अपने नंगे रूप में, बिना किसी समझौते का चीथड़ा ओढ़े सत्य हो जाती है। यह न विचित्र है और न ही विरोधाभासपूर्ण, कि एक अधिनायक-सत्ता में शुद्ध कल्पना को सबसे अधिक संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। जहाँ कला को किसी बाहरी सत्य का माध्यम माना जाता रहा है, वहाँ वह कला सबसे अधिक खतरनाक बन जाती है जो खुद अपने में सत्य उद्घाटित करती है। कितना बड़ा व्यंग्य है, 'यथार्थवादी' कला पर जिसका अपने यथार्थ पर विश्वास नहीं, इसलिए कितनी खतरनाक बन जाती है वह कला, जो किसी यथार्थ की ओट में नहीं खुद अपनी शर्तों पर महज अपनी कल्पना को केंद्र मानकर जीवित रहना चाहती है, सिर्फ बाहर के यथार्थ में ही नहीं बल्कि खुद अपने सत्य से साक्षात्कार करना चाहती है! कला का यह आत्ममंथन, खुद अपनी जड़ों को खोजने का यथार्थ ही उसे एक साथ आधुनिक, आलोचनात्मक और खतरनाक बना देता है। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि हिटलर और स्टालिन दोनों ही 'आधुनिक कला' से भड़कते थे, क्योंकि एक समय में आधुनिक होने का मतलब ही आलोचनात्मक होना था, किसी विचार या सिद्धान्त या निजाम की बाहरी प्रचारात्मक आलोचना नहीं, बल्कि ऐसी आलोचना जो स्वतंत्र, सृजनात्मक, पवित्र कल्पना के केंद्र में वास करती है, इसलिए स्वतः अपने अस्तित्व द्वारा ही एक चुनौती हो जाती है। आधुनिक कलाकृति का 'विषय' चाहे अमूर्त हो, अपने में वह सबसे अधिक मूर्त स्वतंत्रता का प्रतीक हो सकती है।

आधुनिक हिंदी कविता में कल्पना को पुनः प्रतिष्ठित करने का संघर्ष लम्बे अर्से तक चलता रहा है बहुत हद तक वह जीता भी जा चुका है। यह संघर्ष कविता का बाहर से नहीं, बल्कि अपने से, अपने बीच शब्दों की यथार्थता को खोजने का संघर्ष रहा है। मुक्तिबोधजैसे कवि को हमने उनकी 'कल्पना-लोक' की शर्तों पर स्वीकार किया है, अपनी शर्तों पर हम बरसों उन्हें उपेक्षित करते आए थे। जिस जमीन पर आधुनिक हिंदी कविता ने संघर्ष किया था, वह

उसे लम्बी विरासत से उपलब्ध हुई थी एक लंबी परंपरा का 'रेफरेंस' उसके पास था, तोड़ने की प्रक्रिया में जुड़ने की तीव्र आकांक्षा निहित थी, इसीलिए 'नहीं' की चीख भी कहीं दूर अँधेरे में 'हाँ' की कौंध पैदा करती थी। यह संघर्ष बाहरी खूंटों पर न होकर खुद कविता की भाषा और संस्कारों में गुँथा था। अतः आधुनिक हिंदी कविता अपने सर्वोत्तम क्षणों में नए या पुराने पश्चिमी या जातीय प्रभावों का झगड़ा न होकर स्वयं अपने को नए संदर्भ में परिभाषित करने की कोशिश थी। यही कारण है कि आज जिसे हम नई कविता कहते हैं, जिसमें पिछले तीस वर्षों का संघर्ष शामिल है, वह खुद में आलोचनात्मक कविता है आलोचनात्मक महज यथार्थ या समाज के संदर्भ में नहीं, बल्कि गहनतम स्तर पर आलोचनात्मक, जिसके बिना शहर की आलोचना कोई मानी नहीं रखती। मगर आज रघुवीर सहाय इतने हल्के-फुल्के ढंग से, बिना किसी राजनीतिक मुद्रा या वाद का सहारा लिए, इतनी तीव्र व्यंग्यात्मक, राजनीतिक कविता लिख सकते हैं, तो इसलिए कि स्वयं हिंदी कविता ने पिछले बरसों में गहरा आत्ममंथन, अपनी जड़ों और भाषा-संस्कारों की सही या गलत, लेकिन निर्भीक, बेलौस आलोचना की है। आज की कविता के पीछे आत्म-परीक्षण की यह सशक्त पीठिका न होती, तो शायद उसका वही हथ्र होता जो बरसों पहले 'प्रगतिवादी' कविता का हुआ था।

एक समय था जब आधुनिक हिंदी कहानी में भी आत्म-परीक्षण की इस चुभन को एक 'प्लैश' में पकड़ने की कोशिश की थी। तब आत्म-जिज्ञासा का ज्वार आया था, जब हमने अपने से पूछा था कि गद्य में वह कौन-सी चीज है जो उसे कविता का संकेंद्रित भाव, एक-निष्ठ सघनता (Intensity) देती है, और इसके बावजूद उसका अपना कथ्यात्मक स्वरूप कायम रह सकता है। काव्यात्मक गद्य का प्रश्न नहीं, बल्कि गद्य में 'कल्पना' की जगह ढूँढने का प्रश्न था, जो काव्य-सत्य को जन्म देता है। एक दूसरे स्तर पर प्रश्न यह था कि हमारे यहाँ द्विवेदी-काल से इतिवृत्तात्मक गद्य की जो परंपरा रही है, उसे कैसे किन सर्जनात्मक विधाओं द्वारा नया मोड़ दिया जा सके। गद्य एक चीज है, उसके सामने सारा संसार फैला है शब्दों द्वारा हम उसका निरूपण, व्याख्या कर सकते हैं। यदि इस व्याख्या के चौखटे में हम घटनाएँ, पात्र, स्थितियाँ जमा कर देते हैं, तो इससे वह 'उपन्यास' नहीं बनती, इतिवृत्तात्मक चौखटे में कहानी शामिल करके किसी सृजनात्मक विधा का जन्म नहीं होता, क्योंकि संसार या यथार्थ के प्रति दृष्टि वही रहती है, जो व्याख्या द्वारा नियमित होती है। इन चौखटों को हम बाहर ले जा सकते हैं, उन पर उपन्यास और कहानी का लेबिल भी चिपका सकते हैं, किंतु जो यथार्थ हमारे आस-पास फैला है, हमारी स्मृतियों और संस्कारों में सन्निहित है, उसका इन चौखटों से कोई वास्ता नहीं। हम जब तक इस यथार्थ को नष्ट नहीं कर देते उसे मुर्दा और निर्जीव नहीं बना देते, तब तक उसे इन चौखटों में फिट नहीं कर सकते। यह हमारी विडम्बना है। अगर हम पश्चिम से बनी-बनायी उपन्यास की विधा उधार लेने की सुविधा उठाना चाहते हैं तो हमें अपने अनुभव और यथार्थ को नष्ट करना होगा। यदि हम इस यथार्थ को जीवित रखना चाहते हैं, तो हमें खुद 'उपन्यास' जैसी विधा का परीक्षण करने का जोखिम उठाना होगा, जिससे आज तक हम बचते आए हैं।

कविता का समूचा रहस्य उसके 'बीजत्व' में है एक ऐसा बीज है, जिसमें 'क्षण' है, तो 'शाश्वत' भी। बीज में अतीत और भविष्य दोनों हैं, दोनों का निषेध भी है, इस निषेध की स्वीकृति भी उसमें शामिल है। इसी में उसका रहस्य है। इसमें उसका जादू भी है, ऐसा जादू जो एक बीहड़, प्रागैतिहासिक मिथक की तरह भाषा की अँधेरी जड़ों में बैठा रहता है। हम जिस तरह बीज को खोल नहीं सकते, बिना उसे नष्ट किए, उसी तरह बिना उसका जादू



नष्ट किए, हम कविता की व्याख्या नहीं कर सकते। किंतु गद्य की 'काव्यात्मकता', वृक्ष के विस्तार की तरह केवल समय में ही प्रस्फुटित हो सकती है। समय का विस्तार ही वह आबोहवा है, जिसमें एक शब्द दूसरे शब्द से जुड़ता है, एक का अर्थ दूसरे में खुलता है। कविता में अकेला एक शब्द महज अपने सघनत्व और अप्रत्याशित रूप से प्रकट होने की प्रक्रिया में, एक अनोखा अर्थ दे सकता है अपने आसपास के शब्दों को फोड़ आकाश की तरफ एक मीनार की तरह उठता हुआ। किंतु गद्य में शब्दों का अर्थ अन्योन्याश्रित है, horizontal है, वह समय की लय में एक शृंखला बनाता है, एक 'कथ्यात्मक' धागे में जो 'है' उसे 'होने' में पिरोता है। यदि उपन्यास की विधा अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक नई है, तो इसलिए कि पहले कभी 'समय ने इतने प्रत्यक्ष और प्रमुख ढंग से मनुष्य के जीवन में दखल नहीं दिया था।'

समय के इन चौखटों में ही यूरोपीय उपन्यास का विकास हुआ था। कहानी कहने की परंपरा बहुत पुरानी रही हो, किंतु जिस विशिष्ट विधा में मनुष्य और उसकी नियति के बीच संबंध जोड़ा गया, वह 'कहानी' बहुत पुरानी नहीं है। उसमें आपको एक खोए हुए सुरक्षित समय को पाने को 'नौस्टैल्लिया' मिलेगा, जो आने वाले समय के प्रति अदम्य विश्वास भी तथ्यों के प्रति वस्तुपरक दृष्टि मिलेगी, जो स्वयं इन तथ्यों के लौह-चक्र से पलायन करने का स्वप्न, फ़ैण्टेसी, मोह भी दिखाई देंगे। इसमें बूर्जुआ वर्ग के वे सब तत्त्व दिखाई देंगे जिनका विश्लेषण बाल्जाक ने इतनी निर्मम अंतर्दृष्टि से किया है, शहर की भीड़ में आदमी का अकेलापन और उस अकेलेपन की व्यर्थता जिसे एंगेल्स ने मैनचेस्टर में और बॉदलेयर ने पेरिस की भीड़ में देखा था। इसी भीड़ के बाहर भी शांति नहीं थी बाहर सिर्फ ऊब थी, जिसके पिंजरे में छटपटाते हुए मदाम बॉवेरी ने दम तोड़ा था। शायद ही कोई साहित्यिक विधा इतने भयानक और नंगे ढंग से समय-सापेक्ष, वर्ग-सापेक्ष रही हो, जितनी उपन्यास की विधा थी। वह एक आईना थी, जिसमें पहली बार बूर्जुआ संस्कृति ने अपने दर्पपूर्ण गौरव और धिनौनी विकृति, दोनों को एक साथ देखा था। मेरी मंशा यूरोपीय उपन्यास का विश्लेषण करने की जगह नहीं है। मेरा संकेत सिर्फ एक खास संस्कृति की तरफ है, जिसमें यूरोपीय उपन्यास का ढाँचा तैयार हुआ था। इस ढाँचे के भीतर का अपना निश्चित, नियोजित संघटन था। घटनाओं द्वारा व्यक्ति-चेतना का विकास होता था और अपनी बारी आने पर खुद यह चेतना घटनाओं को परिभाषित, आलोकित करती थी। यह चेतना आत्मनिर्भर थी, तीव्र रूप से सजग और स्वायत्त, और इसी में उसकी यातना, द्वंद्व, आत्ममंथन शामिल थे। बूर्जुआ व्यक्ति की अपने प्रति यह उम्मीद और निराशा, विश्वास और संदेह के अजीब मिश्रण से ही उस आत्मघाती द्विविधा का जन्म हुआ था, जो फ्लॉबे से काफ़का तक के उपन्यासों में चली आती है।

ताज्जुब की बात यह है कि हमने अपने कथ्यात्मक गद्य के लिए 'उपन्यास' जैसी विधा को चुना, जो नितान्त भिन्न सांस्कृतिक अनुभव-क्षेत्र में पनपी और विकसित हुई थी। यह कुछ ऐसा था, कि हम एक ऐसे बने-बनाए मकान में रहने लगे, जो दूसरों ने अपनी जरूरतों, संस्कारों, स्मृतियों एक शब्द में कहें तो अपनी 'जलवायु' के अनुसार बनाया था। हम न केवल उसमें रहने लगे, बल्कि कभी उसमें अपने अनुकूल परिवर्तन करने की जरूरत भी महसूस न की। प्रेमचंद से लेकर अधुनातन उपन्यासकार ने कभी 'उपन्यास' की विधा पर शंका प्रकट नहीं की, अपने अनुभव के संदर्भ में उसका पुनर्परीक्षण तो दूर की बात थी। बरसों से हमने जिस विधा को 'सामाजिक यथार्थ' के विश्लेषण का सबसे महत्वपूर्ण औजार माना, कभी उस औजार की सक्षमता की जाँच पड़ताल करने की जरूरत का सामना नहीं किया।

यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि हिंदी में कितने अच्छे 'उपन्यास' लिखे गए हैं। अमृतराय ने उनकी एक लम्बी फेहरिस्त हाल में अपने एक लेख में दी है। इस फेहरिस्त को और भी लम्बा किया जा सकता है। मूल प्रश्न यह है कि हिंदी उपन्यासों का मूल्यांकन कौन-सी कसौटी पर करते हैं। जब तक हम इस कसौटी के लिए खरी कसौटी नहीं ढूँढते-तब तक 'अच्छे' उपन्यासों की गिनती करवाकर हम मन-ही-मन खुश अवश्य हो लेंहम वहीं रहेंगे, जहाँ आज हैं। इस कसौटी के अभाव में हम विश्वसनीय रूप से यह भी तय नहीं कर सकते हैं कि जिस फेहरिस्त में भगवती बाबू और अमृतलाल नागर हैं, उसमें गुलशन नंदा को क्यों छोड़ा जाए। यही नहीं, हम आगे बढ़कर एक अजीब, मनमानी 'कसौटी' तैयार करते हैं, जिसे लेकर 'अंतर्मुख' और 'वस्तुपरक' उपन्यासों के बीच भेद भी करते हैं और 'वस्तुपरक' को यथार्थवादी उपन्यास मानते हैं। हमानों खुद व्यक्ति की अपेक्षा 'वस्तु' यथार्थ के अधिक नजदीक हो।

यह कसौटी कहीं बाहर न होकर खुद उपन्यास-विधा की संरचना के भीतर है। हम यह कहकर उपन्यास की आलोचना नहीं कर सकते कि वह 'जिन्दगी के कितने पास है' (कौन-सी जिन्दगी, कैसी जिन्दगी?), उसकी घटनाएँ कितनी 'विश्वसनीय' है ('विश्वसनीयता' कभी साहित्य की कसौटी नहीं रही, वरना शेक्सपीयर सबसे अधिक असफल लेखक होते), या उपन्यास के पात्र कितने 'यथार्थपूर्ण' हैं। ('यथार्थ' बिजली का कोई बल्ब नहीं जिसके पास जाकर कोई साहित्य-विधा चमक जाती है और दूर जाकर धूँधला जाती हो)। उपन्यास की अर्थवत्ता 'यथार्थ' में नहीं, उसे समेटने की प्रक्रिया, उसके संघटन की अंदरूनी चालक शक्ति में निहित है। तभी किसी विधा के भीतर एक विशिष्ट 'फॉर्म' का आविर्भाव होता है, जो 'समेटने' की हर लय, स्तर और स्पंदन को अनुशासित करती है, ऐसे 'स्पेस, का उद्घाटन करती है, जहाँ अनुभव का औपन्यासिक जीवन शुरू होता है। हम अक्सर साहित्यिक विधा और फॉर्म को आपस में उलझा देते हैं एक रूढ़ प्रणाली है, दूसरी उसे तोड़कर अपनी धारा को खोजने की कोशिश यदि इनमें हम भेद कर पाते तो यूरोप की संस्कृति-सापेक्ष विधा को अपनाते वक्त उसके 'फॉर्म' को भी ज्यों-का-त्यों अपनाना जरूरी न समझते।

फॉर्म की यह खोज कोई हवाई, ऐस्थेटिक खोज नहीं है, इसका सीधा संबंध सांस्कृतिक अनुभव की उस धारा से है, जिसमें हमारे संस्कार, स्मृतियाँ, समय, जीवन और मृत्यु का बोध शामिल है, यदि इन सब बिंदुओं के प्रति हमारा रुख, हमारी दृष्टि यूरोपीय मनुष्य से अलग रही है, यदि 'समय' के प्रति हमारा बोध उस ऐतिहासिक समय से बिल्कुल अलग रहा है, जिसे उन्नीसवीं शती के यूरोपीय उपन्यास ने अपना केन्द्र-बिंदु माना था, यदि व्यक्ति के प्रति हमारा दृष्टिकोण उस यूरोपीय 'व्यक्ति' से बिल्कुल भिन्न हो जो आत्म-सजग है, स्वायत्त है, स्वयं अपनी 'स्वतंत्रता में खंडित' (हेगल) है एक ऐसा व्यक्ति जो अपनी 'प्राइवैसी' में ही अपनी स्वतंत्रता को हासिल करता हो यदि हम भिन्नता के इन सब बिंदुओं को नजर अंदाज नहीं करते, तो हम एक ऐसे 'फॉर्म' को खोज सकते थे जो ऊपरी कथ्यात्मक विधा के तौर पर शायद 'उपन्यास' की तरह होती, किंतु जिसकी मूल चालक शक्ति पश्चिम की उपन्यास-विधा से बिल्कुल भिन्न होती।

भिन्न इसलिए नहीं कि चूँकि 'भारतीय अनुभव' यूरोप के अनुभव से अलग है तो भारतीय उपन्यास भी यूरोपीय उपन्यास से अलग होगा। केवल अनुभव की भिन्नता से अलग-अलग साहित्य-विधाएँ उत्पन्न नहीं हो जातीं, वरना फ्रेंच उपन्यास और अंग्रेजी उपन्यास महज अनुभवों के आधार पर बिल्कुल अलग होते। यदि इन भिन्न अनुभवों के बावजूद उपन्यास के विशिष्ट यूरोपीय फॉर्म का आविर्भाव हुआ तो इसलिए कि इन देशों की सांस्कृतिक समानता, धर्म और

इतिहास के प्रति व्यक्ति का जुड़ाव, खुद 'व्यक्ति' की आत्मकेंद्रित इकाई बहुत-कुछ एक सूत्र में बँधी है। इसी संदर्भ में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यूरोप की इस परंपरा में ही 'संस्कृति', 'समाज', 'डिमाँक्रेसीजैसे शब्द कोई मानी रखते हैं भारतीय संदर्भ में और तो और, 'संस्कृति'जैसा शब्द भी अजनबी जान पड़ता है। यूरोप में संस्कृति का अहसास ही एक आत्म-सजग, विकसित आत्म-चेतना से जुड़ा है एक ऐसे समाज में ही 'संस्कृति का बोध होता है, जहाँ मनुष्य का धार्मिक अनुभव उसके सेक्यूलर अनुभव से स्पष्ट रेखा द्वारा विभाजित हो। किंतु 'भारतीय सन्दर्भ' में इस तरह का कोई विभाजन न था, धर्म की धारा में संस्कृति का उतना ही समावेश था, जितना आध्यात्म का। शेक्सपियर और बीथोवन अवश्य यूरोपीय संस्कृति की गौरवपूर्ण परंपरा में आते हैं, किंतु आज भी हम किसी साधारण, यूरोपीय शिक्षा से अनभिज्ञ किंतु अपने संस्कारों में संवेदनशील, हिंदू से कहें कि तुलसीदास की रामायण हमारी संस्कृति का अंश है, तो अवश्य उसे कुछ आश्चर्य और संकोच का अनुभव होगा। वह 'संस्कृति' को अलग से एक विशिष्ट भावबोध के अर्थ में अपनी समूची जीवन-मर्यादा से अलहदा नहीं देख सकता, जबकि यूरोप में इससे बिल्कुल विपरीत 'संस्कृति' का आविर्भाव ही ऐसे समय में हुआ था, जब व्यक्ति ने 'अपनी शर्तों पर' जीवन-मर्यादा के प्रति शंका प्रकट की थी। उपन्यास की विधा स्वयं इस शंका की अभिव्यक्ति के रूप में यूरोप के सांस्कृतिक अनुभव का एक हिस्सा बनी थी।

किंतु मुझे दोबारा बहस के उस बिंदु पर लौटना चाहिए जहाँ से मैं भटक गया था। जातीय अनुभव की भिन्नता महत्त्वपूर्ण है, किन्तु हमें उसके महत्त्व को जरूरत से ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखना चाहिए। खासकर जब बहस साहित्यिक विधाओं को लेकर हो। हम जिस युग में रहते हैं, उसे वैसे भी देर-सवेर एक देश और दूसरे देश के लोगों के बीच अनुभवों का अंतर सिकुड़ता जाएगा। साहित्य में प्रश्न अनुभव के विषय (कॉण्टेंट) का नहीं है, बल्कि उस रूप और रास्ते का है, जिसके द्वारा वह अनुभव एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना में परिलक्षित होता है, दूसरे शब्दों में अनुभव का 'कॉण्टेंट' चाहे जैसा हो, महत्त्व इस चीज है कि वह चेतना के किस धरातल और रूप में एक व्यक्ति से जुड़ता है। उदाहरण के तौर पर मनुष्य का अतीत एक सार्वभौमिक अनुभव है, पश्चिम में वैसे ही जैसा भारत में, किंतु व्यक्ति और अतीत के बीच एक विशिष्ट जुड़ाव, एक सांस्कारिक संबंध जिससे 'स्मृति' का जन्म होता है यह इतिहास का विषय नहीं, संस्कृति का प्रश्न है। आश्चर्य नहीं, एक भारतीय उपन्यासकार इस प्रश्न के दबाव को बहुत तीव्रता से महसूस करके, एक कवि से कहीं अधिक, क्योंकि उपन्यास की कथ्यात्मक गति सीधी समय और कृति के साथ जुड़ी है। आश्चर्य यही है कि उपन्यास ही वह क्षेत्र है, जहाँ हमने इस दबाव की सबसे अधिक अवहेलना की है। भारत में अनेक उपन्यास लिखे गए हैं, हर साल लिखे जाते हैं मनुष्यवैज्ञानिक उपन्यास, यथार्थवादी उपन्यास, आँचलिक उपन्यासलेकिन स्वयं 'उपन्यास' की समस्या पर विचार, उसके जातीय फॉर्म का अन्वेषण, हमने नहीं के बराबर किया है। इस स्तर पर उपन्यास की समस्या हमारी समूची संस्कृति के विश्लेषण से जुड़ी है। यहाँ हमें मनुष्य और मनुष्य के बीच संबंधों के अदृश्य, संश्लिष्ट, परंपरा और स्मृति में उलझे असंख्य सूत्रों को टटोलना होगा, जो पश्चिम के बुर्जुआ, द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक संबंधों से बहुत अलग हैं। उपन्यास समय के भीतर बहता है, किंतु घटनाओं में बहता समयजो पात्रों को एक स्तर से दूसरे स्तर पर विकसित और परिवर्तित करता है क्या हमारा 'समय' है? क्या यह जरूरी है कि पहले पन्ने पर जो व्यक्ति दिखायी दे, उसकी नियति, बीच की घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा, अंतिम पृष्ठ पर उद्घाटित हो? क्या ऐसा नहीं है कि मनुष्य की नियति

कहीं दूर समय-बिंदु पर न होकर उसके भीतर अंतर्निहित है 'एपिक' के पात्रों की तरह और बीच की घटनाएँ उस नियति को महज धीरे-धीरे आलोकित करती जाती हैं, हर पात्र समय के दौरान उस नियति पर पहुँचता नहीं, बल्कि बार-बार एक वृत्त में घूमता हुआ उसी के पास लौटता है, जहाँ से शुरू होता है? ये सब प्रश्न एक दूसरा रास्ता दिखाते हैं जो यूरोप की उन्नीसवीं शती तक ही उपन्यास-विधा से बिल्कुल भिन्न है। प्रूस्त और जॉयस ने पश्चिमी उपन्यास की शिल्प-विधा को अंधी गली मानकर छोड़ दिया था। वे एक ऐसी आत्मसजग ऐतिहासिक चेतना की चरम-सीमा पर पहुँचकर अपनी स्मृति के शाश्वत समय की तरफ मुड़े थे उन्नीसवीं शती की बूर्जुआ, ऐतिहासिक क्रम को छोड़कर उन्होंने उपन्यास की विधा को तोड़ा था। कितना बड़ा व्यंग्य है कि जिस विधा को छोड़कर वे अतीत और स्मृति की तरफ आए थे, हम खुद उस जमीन को छोड़कर बरसों से एक ऐसी विधा से चिपके हैं, जो शुरू से ही हमारे सांस्कृतिक अनुभव, हमारी संस्कृति और संस्कार, समय और विकास के प्रति हमारी विशिष्ट मर्यादा के प्रतिकूल और अयोग्य रही है।

हम अक्सर 'गोदान' के बारे में कहते हैं कि 'वह एक उत्कृष्ट उपन्यास है, लेकिन, बरसों से हम इस 'लेकिन' के आगे अपने धुँधले असंतोष के कारण ढूँढते आए हैं। यहाँ तक कि 'गोदान' के अंग्रेजी संस्करण तैयार करते समय हम अनेक ऐसे प्रसंग, पात्र, घटनाएँ छोड़ देना उचित समझते हैं, जो उपन्यास की 'मूल कथा' को कमजोर बनाते हैं। उसके नैसर्गिक प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। किंतु इस तरह की काट-छाँट से उपन्यास से उपन्यास की मूल कमजोरी दूर नहीं हो जाती, क्योंकि वह कमजोरी अनावश्यक घटनाओं या पात्रों में न होकर स्वयं 'गोदान' की समूची औपन्यासिक संरचना के केंद्र में विराजमान है, यह कमजोरी उस फॉर्म में निहित है, जो प्रेमचंद ने होरी-जैसे जीवन्त, अपनी सुख-पीड़ा में सतत प्रवहमान जैसे पात्र पर आरोपित की है। एक तरफ प्रेमचंद की गहन अंतर्दृष्टि है जो 'गोदान' के पात्रों ने उन्हें दी है, दूसरी तरफ 'एक ऐसी बनी बनाई विधा' को अपनाने की मोहजनक सुविधा है, जिसका इन पात्रों के संस्कारों, व्यक्तित्व, जातीय अनुभवों-उनकी जीवन-धारा से कोई संबंध नहीं यह एक सृजनात्मक चुनौती थी एक तरफ प्रेमचंद की गहन अंतर्दृष्टि है जो 'गोदान' के पात्रों ने उन्हें दी है, दूसरी तरफ 'एक ऐसी बनी-बनाई विधा' को अपनाने की मोहजनक सुविधा है, जिसका इन पात्रों के संस्कारों, व्यक्तित्व जातीय अनुभवों-उनकी जीवन-धारा से कोई संबंध नहीं। यह एक सृजनात्मक चुनौती थी जब प्रेमचंद रूसी उपन्यासकारों की तरह उन्नीसवीं शती के 'परंपरागत' औपन्यासिक ढाँचे को छोड़कर या उसे परिवर्तित करके एक ऐसी कथात्मक, नेरेटिव विधा का अन्वेषण करते, जो होरी की नियति और मर्यादा, उसकी हताशा और नैतिकता के अनुकूल अपना निजी 'कलात्मक स्पेस' निर्धारित कर सकती। यह इसलिए भी जरूरी था, क्योंकि घटनाओं के प्रति होरी का संबंध वैसा द्वंद्वत्मक, समय-अनुशासित नहीं है, जैसा पश्चिम के उपन्यास-पात्रों का साधारणतः होता है। जब हम पहली बार उपन्यास में होरी को देखते हैं, तो हमें एक झलक में उसकी अंतिम नियति का आभास मिल जाता है एक एपिक पात्र की तरह उसकी नियति एक वाक्य, एक संकेत, एक उड़ती हुई प्रतिक्रिया में अंतर्निहित है। कितना भिन्न है होरी का चरित्र पश्चिम के क्लासिक उपन्यास-पात्रों से, जो एक घटना से दूसरी घटना की तरफ बढ़ते हुए अपने को उद्घाटित करते हैं, एक आयाम को छोड़कर नितांत नया, गुणात्मक रूप से भिन्न आयाम ग्रहण करते हैं, एक आयाम को छोड़कर नितांत नया गुणात्मक रूप से भिन्न आयाम ग्रहण करते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि समूचे उपन्यास में होरी बदलता नहीं, या अलग-अलग मौकों पर उसकी प्रतिक्रियाएँ नहीं बदलती, किन्तु यह बदलाव, ये अलग-अलग

प्रतिक्रियाएँ वास्तव में एक स्थिर चरित्र की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं वह चरित्र नहीं बदलता, उसके 'चित्र' बदलते हुए भी एक अयामी धुरी पर कायम रहते हैं, एक ऐसे वृक्ष की तरह, जो हवा के थपेड़ों से कभी झुकता है, कभी सिर उठाता है, लेकिन अपनी जमीन नहीं छोड़ता। वह पात्र, जिसका जीवन किसी पश्चिमी उपन्यास में नहीं मिलता, क्या उसी पश्चिमी उपन्यास की विधा उसके जीवन के लिए अनुकूल थी? क्या यही कारण नहीं है कि बरसों से हम 'गोदान' को एक मिश्रित प्रतिक्रिया में प्रस्तुत और महसूस करते आए हैं गर्व और संकोच के मिले-जुले भाव में एक उत्कृष्ट उपन्यास लेकिन ...

इस 'लेकिन' के आगे हम पुनः उस बिंदु पर लौट आते हैं जहाँ से हर विधा का सृजनात्मक पूर्ण परीक्षण शुरू होता है। यह एक जोखिमपूर्ण एडवेंचर है, क्योंकि एक ऐसा क्षण आता है, जब अनुभव और विधा के बीच अंतर्विरोध किसी सुविधाजनक समझौते से नहीं सुलझाया जा सकता। उपन्यास के क्षेत्र में यह जोखिम और भी बढ़ जाता है क्योंकि वह इतिहास और कविता के बीच एक ऐसे स्थल की खोज है, जहाँ तर्कशील, आत्मसजग चेतना, विचारों और विश्वासों द्वारा नहीं बल्कि स्मृति और सांस्कृतिक अनुभवों में साँस लेती है। कविता की तरह वह भाषा और बिंबों में उतनी ही डूबी है, जितनी डूबने के बाद बाहर समय में अपने अनुभवों को परिभाषित करने को आतुर।

एक आधुनिक भारतीय लेखक के लिए यह जोखिम और भी अधिक विकट है। उपन्यासजैसी विधा के लिए उसे एक पश्चिमी लेखक की ही तरह आत्मसजग और तर्कशील होना होगा, किन्तु इस विधा की सीमाओं पर उसे एक निवैयक्तिक, गैर-ऐतिहासिक, 'मिथक-सम्पन्न अँधेरी' स्मृतियों को उजागर करना होगा, उन्हें उजागर करने के लिए खुद इस 'अँधेरे' में डूबना होगा। यह समूचा कार्यकलाप, यह एडवेंचर किसी आलोचनात्मक बौद्धिक योजना द्वारा नहीं, शुद्ध कल्पनाशील अनुभवों के बीच होगा। फॉर्म का निर्माण नहीं, सृजन होता है। इसी 'कल्पनाशीलता' के आधार पर तोल्स्तोय 'रूसी समाज का दर्पण' बने थे, अपने ऐतिहासिक, बौद्धिक ज्ञान के कारण नहीं।

इतिहास और मिथक, समय और स्मृति इन दो उजले अँधेरे छोरों के बीच भारतीय उपन्यास जिस जमीन को समेटेगा, उसके लिए जिस 'फॉर्म' को ढूँढना, होगा वहाँ उस जमीन पर भारतीय लेखक ने शुद्ध रूप के दर्शक रहेगा एक विदेशी, उपन्यासकार की तरह न पूर्ण रूप से भोक्ता, एक औसत भारतीय की तरह। वह न तो इस अर्थ में एक अलगावग्रस्त (Alienated) बर्जुआ लेखक बन पाया है जो अपने अलग आत्मसजग व्यक्तित्व के बाहर अपने अतीत, स्मृतियों और संस्कारों से अलग रह सके, न इन संस्कारों और स्मृतियों से इतना अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है कि बाहर के अलगाव, अपने दो सौ वर्षों के यूरोपीय अनुभव से अर्जित आत्मचेतना की उपेक्षा कर सके। वह बाहर भी है, भीतर भी, वैयक्तिक है तो निवैयक्तिक भी, समय से आक्रांत है तो इतिहास का अतिक्रमण करने का मिथक-बोध भी उसमें है। इन दोनों पाटों के बीच अंतर्द्वंद्व और इतिहास की उस जातीय विडंबना का दबाव हम जितनी तीव्रता से महसूस कर पाएँगे, उतना ही हमारा यह एडवेंचर प्रामाणिक और अर्थपूर्ण हो सकेगा।

(‘शताब्दी के ढलते वर्षों में’ नामक पुस्तक से)

## भारतीय उपन्यास : असफलता के कुछ बिन्दु

राजेन्द्र यादव

एक तीसरी श्रेणी का अमरीकन उपन्यास है 'द मैन'लेखक इरविंग वेल्लेस। (हालाँकि यह तीसरी श्रेणी का उपन्यास भगवतीचरण वर्मा या शंकर, विमल मित्र जैसे किसी भी 'श्रेष्ठ भारतीय उपन्यासकारों' की प्रथम-श्रेणी की रचना से अधिक सशक्त, कथ्य में नया, सुगठित और रोचक है) इसमें कल्पना की गई है कि अमरीका का राष्ट्रपति एक नीग्रो हो गया है। कहानी की अपनी सनसनी, उत्सुकता, बुनावट और परिणतियाँ हैं। लेकिन भारत का तीसरी श्रेणी का कथाकार भी इस बात से कहीं कोई प्रेरणा नहीं ले पाता है कि देश की प्रधानमंत्री एक 'विधवा' नारी है, राष्ट्रपति 'विधर्मी' है, काँग्रेस जैसी विशाल संस्था का अध्यक्ष एक हरिजन रहा है और पहली बार नए व्यक्तिगत या सामाजिक कानून बनाकर अम्बेदकर ने मनु-याज्ञवल्क्य को एक तरफ फेंक दिया है। हजारों सालों देश से जकड़े रहनेवाली वर्ण-व्यवस्था अब केवल नौकरियाँ पाने या वोट वसूलने का हथियार है। (यहूदी होने की यातना को सॉलबैलो ने 'हरजोग' में कितने गहरे स्तरों पर पकड़ा है) बड़े-बड़े राजा और जमींदार जनता का निर्णय सुनने के लिए चुनावों के कठघरों में खड़े मुँह ताक रहे हैं, लाल-तिकोन की बाढ़ में एबॉर्शन को कानूनी रूप देने पर बहसें हो रही हैं, छोटे-छोटे उद्योग घर-घर की शकलें बदले दे रहे हैं और जिन्होंने साइकिलें नहीं देखी थीं, उनकी एयरकंडीशंड गाड़ियाँ, नगर के सबसे खूबसूरत मुहल्ले की आलीशान कोठियों में खड़ी हैं ... थानेदार-कलक्टर से काँपते हुए हाथ मिलाकर कृतार्थ होनेवाले आज तय कर रहे हैं कि अब अमुक मिनिस्टर को रखना है या हटा देना है।

ये सामाजिक परिवर्तन के डिटेल्स हैं। सूची बहुत लम्बी हो सकती है और पता नहीं, प्रेमचन्द इनमें से किसी स्थिति पर लिखते या नहींलेकिन आज का हिन्दी कथाकार नहीं लिखता, न ही लिखने की बात सोचता है। कम से कम इन्हें लक्ष्य बनाकर लिखने की बात उसके मन में नहीं आती। हाँ, पुरानी व्यवस्था के टूटने से जो बिखराव आया है, उस पर जरूर कुछ सशक्त रचनाएँ आई हैं। कथा-साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं से उतना

नहीं होता, जितना उनमें उलझे नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक संकट से होता है, यही हमारे आपसी सम्बन्धों और व्यवहार को निर्धारित करते हैं। इसलिए चीजों और सम्बन्धों के प्रति हमारा रवैया ही कहानी में आ सकता है, आना चाहिए। मैं अक्सर सोचता हूँ कि क्या सचमुच हमारी ऐसी कोई कटा-छँटी स्पष्ट सुनिर्णीत संस्कृति है, जो नई परिस्थितियों की टक्कर में हमारे भीतर दयनीयता और भ्रान्ति नहीं, संकट और तनाव पैदा करती है? राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर क्या हम हर सुविधा और सुयोग को स्वीकार ही नहीं करते रहे हैं? 'भारतीयता' और 'अभारतीयता' क्या केवल अवसर के अनुरूप पक्ष-विपक्ष में दिया जानेवाला तर्क ही तो नहीं है? जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, क्या दो हजार सालों से उसके विकास को स्थगित नहीं मानते? संस्कृति की जीवन्त तात्कालिकता से जब हमारा कोई रिश्ता ही नहीं है तो 'सांस्कृतिक संकट' की बात हवाई और झूठी नहीं हो जाती? और जिसे हम सांस्कृतिक या मूल्यों का संकट कहते हैं, वह कहीं मानसिक अभ्यासों, नया सोचने की अक्षमता और सुरक्षा न छोड़ सकने की साहसहीनता ही तो नहीं है?

मुझे अफसोस है कि भारतीय कथा-साहित्य ने मूल्यों और सम्बन्धों के आधारभूत संकट को वास्तविक निगाहों से बिल्कुल नहीं देखा है, नई स्थितियों के सामने हारते हुए, पुराने को ही कथा-साहित्य ने अपना केन्द्र बनाया है। दुःखद यह है कि पुरातनता को ही वह 'मानवता' के रूप में कल्पित करता है। नयों की आकांक्षाओं और कुंठाओं, आशाओं और पराजयों की कहानियाँ मुझे हिन्दी के अलावा किसी और भाषा में उतनी नहीं दिखाई देतीं।

कथा-साहित्य में स्थिति का साक्षात्कार न कर पाना उतना त्रैजिक या दयनीय नहीं होता जितना उस चुनौती से कतराकर निकल जाना। देश के पूरे परिप्रेक्ष्य में सबसे अधिक निराशाजनक स्थिति इंडो-एंग्लियन और बँगला कथा-साहित्य की है। एक एयरपोर्ट के आसपास की बस्तियों की कॉकटेल पार्टियों और पूर्व-पश्चिम के सांस्कृतिक संघर्ष को जितने भौंडे, सपाट और बेहूदे ढंग से रख रहा हैंउतने ही फॉर्मूलाबद्ध, बाजारू और पलायनवादी ढंग से, और दो सौ सालों के इतिहास की काल्पनिक, झूठी और भावुकता-भरी मनोरंजक फिल्मी कहानियाँ दे रहा है बँगाल। भारत के अंग्रेजी कथाकार की जीवन-भर की उपलब्धि या नियति किसी अंग्रेजी आलोचक या कथाकार से 'अच्छी भाषा' लिख लेने का सर्टिफिकेट ले लेना है, तो बँगाल के कथाकार की सफलता किस्सागोई के कमाल के साथ एक शरच्चन्द्रीय नायिका की सृष्टि कर देना... समरेश बसु या अन्य कथाकार इस व्यावसायिकता से निकलने की सफल-असफल कोशिश जरूर कर रहे हैं।

ड्राइंगरूम की बहसों और लम्बे-लम्बे एकालापों के रूप में पुरानी मूर्तियों और भारतीय दर्शन या योग को विदेशी बाजारों में बेचनेवाले, मूलतः केवल सभ्यताओं की टक्कर दिखाते रहे हैं, जन-जन के मन में चल रहे 'सांस्कृतिक संकट' की शायद उन्हें खबर भी नहीं है। वस्तुतः जन्मान्तर और कर्म का सिद्धान्त भारतीय मानस में 'पाप' और 'द्वन्द्व' की वह वेधक, तीव्र और यन्त्रणामय अन्वेषी दृष्टि ही नहीं देता जो दोस्तोएस्की या ग्राहमग्रीन की रचनाओं को एक खास तरह की गहराई देती है। अहं को मारने के नाम पर 'आत्म' को मारकर वह अपने-आपको चुनाव करने या 'चुनाव न कर सकने' की अस्तित्ववादी जिम्मेदारी से भी बचा लेता है और अस्तित्व को भीतर तक परखने की उसे आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। सारी मध्यकालीन संस्कृति 'जाने हुए को जान लेने' वाले को ही विद्वान् और मनीषी के रूप में स्वीकृति देती हैइसलिए, 'अनजान को जानने की तड़प' या प्रश्नाकुलता हमारे चिन्तन को शक्ति या निरन्तरता नहीं दे पाती। अधिक से अधिक दे पाती है तो बस, एक उच्छ्वास 'क्षितिज के

पार क्या है? हर भारतीय के पास प्रत्येक द्वन्द्व के ऐसे जादुई समाधान हैं कि प्रायः आत्मा की ऊँचाइयों और योग की सिद्धावस्था में विहार करनेवाला व्यक्ति, बिना किसी द्विधा या आत्म-दंश के रिश्वत, सिफारिश, चमचागिरी कर सकता है। माया के हर पक्ष को आत्मसात कर लेनेवाला पैसे-पैसे को दाँत से पकड़ता है, और भूत-भविष्य-वर्तमान सभी को आर-पार देख लेनेवाला हर क्षण को वसूल कर लेना चाहता है; अपरिग्रह, योग और तुरीयावस्था के हरकारे हवाई जहाजों से कम यात्रा नहीं करतेवे 'भारतीय दर्शन' को आधुनिकता दे रहे हैं। विदेश में बेचने के लिए 'नया लुक' ला रहे हैं।

इसलिए आज के भारतीय मानस, विशेष रूप से हिन्दी-मराठी-गुजराती कथाकार के लिए ये सब निहायत अप्रासंगिक, फालतू और फिजूल हैं। उसकी रचनात्मक चिन्ता और चेतना को छू नहीं पाती। उसकी चिन्ता का विषय तो उसका अपना जीवन, परिवेश, सम्बन्ध, मूल्य और इन सबके प्रति अपना बनता हुआ रवैया है। इतिहास और दर्शन आज शायद ही किसी जीवन्त, युवा कथा-लेखक के विषय में रहे हों ... तेजी से बढ़ते हुए औद्योगीकरण, सिमटते हुए भूगोल और प्रचार-भ्रष्ट भाषा के बीच अपनी नियति, इयत्ता और अभिव्यक्ति खोजनेवाले लेखक को इतनी फुरसत कहाँ है कि वह बैठकर तीन-तीन पीढ़ियों के झूठे-सच्चे इतिहास की खुदाई करे या भारतीयता-अभारतीयता, आत्मा-परमात्मा की साँप-रस्सीवाली पहेलियाँ बुझाए। दर्शन, उपदेश, आदर्श, स्वप्न, शब्द-जो कुछ भी उसे ऊपर से दिया जाता है उन सब पर उसकी आस्था नहीं है। उसके लिए वास्तविकता उसका अपना होना, उस होने को निर्धारित करनेवाला आस-पास, अपनी नियति और अपनी पहचान हैं। समय और दिशा में उसका दायरा सीमित ही सही, लेकिन प्रामाणिकता और संवेदनशीलता की दृष्टि से वही उसका यथार्थ है। आज उसकी अपनी विधा कहानियाँ और लघु-उपन्यास हो गए हैं; उसका अपना इतिहास सन् '47 के पहले से शुरू नहीं होता...पुराने समाज को समानान्तर भोगते हुए भी उससे उसका कोई परिचय और वार्तालाप नहीं है और पीढ़ियों की यह दूरी निरन्तर बढ़ती चली जा रही है। जिस नई परिस्थितियों में वह अपने को पाता है, वहाँ न उसका अभी कोई व्यक्तित्व बना है और न सन्दर्भ। वह अपनी आइडेंटिटी और सम्बन्धों को समझने के दौर से गुजर रहा है। हाँ, पल-पल पर उसकी टक्कर या सामना यथास्थिति से है जो उसे खरीदती, बेचती और तोड़ती है, शायद इसीलिए उसमें सबसे पहले सम्मानजनक दूरी और यथास्थिति को आशा और सम्मान से देखने का भाव था, फिर भ्रम-भंग का दौर आया और वह अपने को अजनबियत, आत्मदया या निर्वासित होने की भावना से घिरा पाने लगा, फिर क्रमशः उसका रवैया एक कैजुअलनेस या उदासीनता में बदलता गया और आज वह एक हिंस्र प्रतिशोध का रूप लेने लगा है प्रतिशोध अपने-आपसे और यथास्थिति से...

हो सकता है आज के बुद्धिजीवी-वर्ग ने अपने-आपको समझने की जल्दबाजी में कभी अस्तित्ववादियों, कभी हिप्पियों और कभी माओ-गुवेआरा की शब्दावली का प्रयोग किया हो : लेकिन दूसरी ओर से इन्हीं नामों को लांछन की तरह उछालकर स्थिति से आँख मूँदने की शूतुरमुर्गी कोशिशें भी कम नहीं रही हैं।

स्वतन्त्रता के बाद, पहली बार सच्चे अर्थों में हमारे समाज में एक विशाल मध्यवर्ग ने अपना वास्तविक आकार ग्रहण किया है। बड़े-बड़े राष्ट्रीय या वैयक्तिक उद्योगों की छाया में करोड़ों लोगों का ऐसा वर्ग है जो कहीं भी अपने को जुड़ा हुआ नहीं पाता। कोई शहर उनका अपना नहीं है, कोई सम्बन्ध उनका अपना नहीं है, उनकी जड़ें न कहीं पीछे खेत-खलिहानों में हैं, न किसी संयुक्त-परिवार में उनका एकमात्र साधन नौकरी है और एकमात्र भय बेकारी।



धर्म, संस्कार, नैतिकता उनके आपसी सम्बन्धों को सुरक्षा नहीं देते...उन्हें अपने लिए अपना एडजस्टमेंट तलाश करना है...अपनी स्थिति को अपने मुहावरे में समझना, भोगना या छोड़ना होता है...अकेले, असहाय और व्यर्थ होने की नियति उनकी अपनी है और उनके लिए सबसे बड़ी चुनौती, या तुलना है सरकारी योजनाओं को लूटकर रातोंरात रईस हुए सहोदर-वर्ग से... न उत्पादन के स्रोत इस मध्यवर्ग के हाथ हैं, न उत्पादन के साधन...शिक्षा, बेकारी, आश्वासन और व्यापक असुरक्षा के जंजाल में वह बहुत अकेला, अजनबी, अनसमझा, निर्वासित, क्रान्तिकारी शहीद सब कुछ है...या फिर है दुच्चा, ढोंगी, लालची, कुटिल और तिकड़मी। ढाल के रूप में लादे यह वर्ग चाहे जो कुछ रहे, लेकिन असलियत यह है कि न उसके कोई मूल्य हैं, न संस्कृतिवह सब भी उसकी अपनी नहीं है जिसका वीभत्सतम प्रदर्शन नवधनिक वर्ग कर रहा है...

और यह मध्यवर्ग हर कुछ को भोगने, बर्दाश्त करने के लिए अभिशप्त है उसकी किस्मत को ढालने, गढ़ने, दिशा देनेवाली शक्तियों या तो ऊपर हैं या नीचे...नीचे वालों से उसका सम्पर्क केवल ब्यूरोक्रेटिक धरातल या पिकनिक के अवकाश पर ...ऊपर से उसका सम्बन्ध फाइलों, प्रमोशन और लाइसेंसों या फिर कृपापूर्वक फेंके गए निमन्त्रणों पर...इन्हीं सम्पर्कों की होड़ पर उसकी हैसियत और सुरक्षा कायम है... इसी खाली और खोखलेपन को वह कभी 'सांस्कृतिक कार्यक्रमों' से भरने की कोशिश करता है, कभी आत्म-साधना के नुस्सों से...उसके लिए साधु और कलाकार दोनों अपनी-अपनी जगह जरूरी हैं, लेकिन उपयोगी है डेल-कोनेगी और पार्किन्सन...।

यहीं से हमारा कथा-नायक आता है और यहीं से कथा-लेखक और शायद यही कारण है कि हमारी कला और संस्कृति, अपनी सारी बारीकियों और परफैक्शन के बावजूद संवेदनशीलता और सच्चे विक्षोभ के रहते हुए भी राजनीति की छाया होकर रह गई है, 'बूर्जुवा समाज में राजनीति पहली और प्रमुख शक्ति होती है, कला और साहित्य नहीं' यह टॉमस मान ने कहा था, जिसे आज अज्ञेय महसूस करते हैं कि, "बीसवीं शताब्दी में कलाकार मात्र की स्थिति गिरी है" दोनों ही लेखकों को वस्तुतः कहना यह चाहिए कि कला ही नहीं, कलाकार और बुद्धिजीवी आज जिस समाज की उपज है, जिसे बिलौंग करने की बात वह करता है स्थिति वास्तव में उसकी गिरी है, उसे अपनी नहीं, कहीं और से ली या दी हुई शक्ति या उपाधि से अपनी प्रतिष्ठा का भ्रम बनाए रखना पड़ता है...प्रतिष्ठित होने के लिए उसे राजनीतिज्ञों के आस-पास चक्कर लगाने पड़ते हैं, उनके साथ अपने प्रभाव या सम्बन्धों की घोषणा करनी पड़ती है।

मैं समझता हूँ कि भारतीय कथाकार को बदलते हुए समाज में सबसे पहले अपनी स्थिति को स्वीकार कर लेना चाहिए...यह भी हो सकता है कि स्थिति-स्वीकार का ही यह धक्का है जिसने हम सबको थोड़े समय के लिए चुप या स्तब्ध कर दिया है और अपने समय को स्वर देनेवाली कोई भी रचना किसी भी साहित्य में नहीं आ रही।

(‘उपन्यास : स्वरूप और संवेदना’ नामक पुस्तक से)

## ऐतिहासिक उपन्यास

देवीशंकर अवस्थी

‘उपन्यास’ शब्द कहने मात्र से हिंदी का सामान्य पाठक एक विशेष प्रकार के साहित्य-रूप का बोध कर लेता है। वह उपन्यास पढ़ता है उसका विश्लेषण नहीं करता। परंतु प्रबुद्ध पाठक विवेचन-विश्लेषण करता हुआ उसमें विशेषण जोड़ता या संज्ञाएँ देता है। इसी क्रम में उपन्यास के जो अनेक रूप विश्लेषित हुए हैं, उनमें से एक ऐतिहासिक उपन्यास हैयानी कि उपन्यास तो अवश्य पर ऐतिहासिक विशेषण के साथ। इसी स्थल पर प्रश्न उठते हैं कि दोनों शब्द, इतिहास और उपन्यास, कहाँ तक संबंधित हैं, इनकी मर्यादाएँ क्या हैं तथा सीमा-रेखाएँ कहाँ मिलती हैं? कारण, यदि उपन्यास की एक सामान्य धारणा पाठक के मन में होती है तो इतिहास के स्वरूप का भी उसे पृथक् रूप में आभास रहता है। इतिहास मानवीय गतिविधि (Human activities) का वैसा ही एक प्रकार है जैसा कि समाजशास्त्र अथवा गणित-विज्ञान। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न और उठता है कि यदि मानवीय गतिविधि (Human activities) का एक प्रकार उपन्यास के साथ विशेषण के रूप में आ सकता है तो अन्य प्रकार क्यों नहीं आ सकते? दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति ही दार्शनिक, समाजशास्त्रीय या गणित-विज्ञानीय उपन्यास क्यों नहीं हो सकते? परंतु एक निष्कर्ष की ओर संकेत अवश्य करना चाहूँगा : इतिहास उपन्यास के लिए अधिक सहायक है बजाय अन्य ज्ञान-विज्ञान के प्रकारों के, यदि ऐसा न हो तो अब तक मानव-बुद्धि ने इस क्षेत्र को यों ही न छोड़ दिया होता। दर्शन समाजशास्त्र आदि की खोजों का उसने भरपूर उपयोग किया है, परंतु उससे उपन्यास के आंतरिक रूप में ऐसा कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आ सका कि उसे हम एक विशिष्ट रूप में ‘ऐतिहासिक उपन्यास’ की भाँति स्वीकार करने को बाध्य हो जाएँ। उपन्यासकार को इतिहास से कथावस्तु और चरित्र की प्राप्ति ही नहीं होती उसमें किसी काल विशेष को वैचारिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि विषय (Phenomenon) का भी ज्ञान होता है; जबकि अन्य शास्त्र शाखाएँ इतनी दिशाओं से सहायता नहीं दे पातीं।

इतिहास और उपन्यास की पारस्परिक स्थिति पर विचार करने के पहले एक बात ध्यान में रखनी है कि आधुनिक विज्ञान ने हमारे ज्ञान एवं कार्य की विविध दिशाओं को प्रभावित किया है इतिहास और उपन्यास भी इस प्रभाव के अपवाद नहीं हैं।

यह बात संभवतः पाठकों को विरोधाभास-सी लगेगी कि आधुनिक जीवन की बौद्धिक आवश्यकताओं ने ही विज्ञान और उपन्यास (अथवा रसात्मक साहित्य) को अलग-अलग किया और बाद में उसने ही एक प्रकार का सामंजस्य भी इनमें स्थापित किया। आज से 150-200 वर्ष पूर्व तक इतिहास और पुराण कोई अलग चीजें न थीं महाभारत इतिहास भी था तथा पुराण एवं महाकाव्य भी। इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण ही थोड़े दिन पूर्व तक 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता पर विवाद चलता रहा है। परंतु आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि ने इतिहास को विज्ञान की भाँति ही विशुद्ध वस्तुगत दृष्टि से कोरी तथ्यात्मकता तक पहुँचा दिया। जब एक बार इतिहास पुराण एवं किंवदंतियों के शैवाल से मुक्त होकर तटस्थ शुद्ध तथ्यों का भण्डार बना तो मनुष्य की व्यवस्था-परायण बुद्धि ने उसे एक सिस्टम का रूप दिया और फिर इस क्रम में सिस्टम की परख भी उसकी प्रयोगशील दृष्टि ने की। सार्थकता की परख के इस दौरान में साहित्य की अनेक व्याख्याएँ उपस्थित की गयीं, जिन्हें हम इतिहास-दर्शन के नाम से जानते हैं। धर्म और जाति की श्रेष्ठता, भाग्यवाद, महापुरुषवाद से प्रारंभ कर निकोलाई डेनिलेवस्की, स्पेंग्लर के आवर्तवाद, आर्नल्ड ट्वायनवी के लयात्मक-आरोह-अवरोहवादी विकास से लेकर मार्क्स (और कुछ हद तक सोरोकिन जैसे समाजशास्त्री भी) के रेखावादी विकास तक इतिहास की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। इन विविध व्याख्याओं एवं दर्शनों ने हमारी विचार-प्रक्रिया को प्रभावित किया है। हमने अपने इतिहास को इन दर्शनों के आलोक में नये ढंग से देखना शुरू किया। अतीत का चित्रण भी इन नई दृष्टियों के आधार पर होने लगा और इसी बिंदु पर ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन शुरू होता है। इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि जब इतिहास विशुद्ध तथ्य बना तो वह रसात्मक साहित्य से दूर हटा, पर जब उसने संस्कृतियों-सभ्यताओं एवं समाज के विकास पर दृष्टिपात शुरू किया तब उपन्यासकार (या अन्य लेखक भी) पुनः उसकी ओर गए।

यों प्राचीन आख्यानों की शरण में साहित्य बहुत दिनों से जाता रहा है पर तब उद्देश्य दूसरा था : कथा प्रामाणिक हो, जनप्रिय हो, जिससे कि रसोद्बोधन में व्याघात उपस्थित न हो, मनोविज्ञान की शब्दावली में 'स्टॉक रेस्पान्स' के लिए इतिहास की शरण ली जाती थी। 'नाटकं ख्यातवृत्तं पंचसन्धि-समन्वितम्' में ख्यातवृत्त का मूल कारण यही था उस वृत्त की ख्याति के विरुद्ध जाना संभव न था पर आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र या इतिहास ने इन वृत्तों की प्रामाणिक ख्याति को नष्ट कर दिया है। राम ही नहीं, रावण और मेघनाद भी साहित्यकार के प्रिय बनेयही नहीं, अज्ञात व्यक्ति भी इतिहास और समाज के मंतव्यों को व्यक्त करने का माध्यम बनने लगा। हरमैन हेस का 'सिद्धार्थ' अथवा यशपाल की 'अमिता' इस 'आख्यात वृत्त' के उदाहरण हैं। कारण यह है कि उपन्यास मात्र कथानक का स्रोत नहीं रहा उसका सचेष्ट प्रयोग अब संभव हो सका है। उपन्यासकार, नाटककार, कवि आदि प्रसिद्ध चरित्रों एवं घटनाओं में दूसरे मंतव्य ढूँढने लगे हैं। किसी पौराणिक चरित्र को विश्वसनीय घटनाओं के मध्य चित्रित करने के स्थान पर युग विशेष को उसकी व्यापक और प्रबल शक्तियों के साथ उपस्थित किया जाने लगा, या कि किसी प्रसिद्ध अज्ञात या उपेक्षित चरित्र को उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं एवं मानसिक द्वंद्वों तथा बाह्य संघर्षों के साथ उपस्थित किया गया, अथवा फिर अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ा गया प्रेरणा या उपदेश देने के लिए। इन सभी

क्षेत्रों के रिकन्सट्रक्शन के लिए लेखकों की कल्पना को अमित विस्तार मिला।

इतिहास और उपन्यास के पारस्परिक संबंधों पर बहुत-से लोगों ने आपत्ति प्रकट की है। सर फ्रांसिस पालग्रेव नामक लेखक ने तो यहाँ तक कहा कि ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहास का शत्रु है और दूसरी ओर कथा का। ऐसे लोग मात्र यह सोचते हैं कि इतिहास केवल घटनाओं या व्यक्तियों का विवरण है तथा उपन्यास मात्र कल्पना का विलास। वे यह भूल जाते हैं कि इतिहास सारे राग-विरागों के साथ अतीत का यथार्थ है और उपन्यासकार सदैव यथार्थ को पकड़ता है, चाहे वह अतीत का हो या वर्तमान का। अतः इतिहास के क्षेत्र में जाना किसी मर्यादा का उल्लंघन नहीं है। फिर क्या कोई इतिहासकार यह कहने का दावा कर सकता है कि उसने इतिहास के लिखने या जानने में कल्पना का रंचमात्र भी उपयोग नहीं किया है। वास्तव में कोई भी मानवीय क्रिया या व्यापार (Human activity) कल्पना के बिना संभव ही नहीं हैगणित भी नहीं। अतः यथार्थ-कल्पना के उपयोग को लेकर इतिहास या उपन्यास में कोई तात्त्विक विरोध ज्ञात नहीं होता। तो क्या दोनों एक ही हैं? 'नहीं', इसका स्पष्ट उत्तर है। दोनों की रचना-प्रक्रिया एवं उपजीव्य श्रोताओं के अन्तर दोनों क्रियाओं को अंतर को भी प्रकट करते हैं। इतिहास विवरण देता है, उपन्यास चित्रण करता है। चित्रण में चयन के आंतरिक मंतव्यों का नैरंतर्य होता है। इसी कारण यह अधिक सूक्ष्म एवं अधिक व्यंजक होता है। उपन्यास का पाठक पढ़ते समय इतिहास की घटनाओं को नहीं जानना चाहता, नाम भी नहीं याद करना चाहता, वह तो चित्रित युग के आंतरिक मंतव्यों, उसके 'चेतना-प्रवाह' को जानना चाहता है। और इस प्रकार इतिहास की बढ़ती हुई शक्तियों की अवगति नहीं, 'बिंब ग्रहण' की प्रक्रिया स्वीकार करता है। उपन्यास का चरित्र इस बिंब ग्रहण' की इकाई बनता है, जब कि इतिहास में घटना का विवरण उसके बोध की इकाई होता है। उपन्यास में इतिहास के इस 'बिंब ग्रहण' के कारण पाठक को जो आनन्द (या और कुछ) मिलता है, उसे रविबाबू ने 'ऐतिहासिक रस' कहा है। उनका यह मंतव्य द्रष्टव्य है, "पृथ्वी में कुछ ऐसे लोगों का भी अभ्युदय होता है जिनका सुख-दुःख संसार की बृहत् घटनाओं के साथ संबद्ध होता है। राज्यों का उत्थान-पतन, महाकाल की सुदूर की कार्य-परंपरा, जो समुद्र के गर्जन के साथ उठती और गिरती हैउसी महान कला संगीत के स्वर में उनका व्यक्तिगत विराग और अनुराग बजा करता है।" ...यदि हम उन्हें व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं परंतु महाकाल के एक अंग के रूप में देखना चाहें तो हमें दूर खड़ा होना पड़ता है। अतीत के अंदर उनकी स्थापना करनी पड़ती है, वे जिस महान् रंगभूमि के नायक थे, उसको और उनको मिलाकर देखना पड़ता है। इस कथन के महापुरुषवादी स्वर को संशोधित कर कहा जा सकता है कि मुख्य बात यह 'महाकाल की सुदूर कार्य-परंपरा' यानी कि इतिहास-बोध ही है। महाकाल के रूप में महापुरुष ही नहीं, नगण्य व्यक्ति भी देखा जा सकता है। इस महाकाल अथवा इतिहास की कार्य-परंपरा की अभिव्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यासकार का दायित्व है एक लेखक की आत्मकथा के माध्यम से हर्षयुगीन भारत की समस्त कार्य-परंपरा की अभिव्यक्ति कर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी दायित्व का पालन किया है। यहाँ यह बात याद रखने की है कि दोनों एक नहीं हैं पर इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास के महाकाल-बोध के मूल मंतव्यों में तनिक भी विरोध नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के समीक्षण में उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है जो व्यक्ति कहानी कहने के लिए केवल तथ्य इतिहास से चुनता है, उसकी विवेचना उन तथ्यों को ध्यान में रखकर करनी होगी और ऐसी ही स्थिति में हम किशोरी लाल गोस्वामी जैसे लोगों को अनैतिहासिक कह सकते हैं। अगर कोई महापुरुष चित्रित करना उद्देश्य रहा हो तब फिर

उसके चरित्र की उदात्तता उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में देखी जानी चाहिए। जैसे कि सत्यकेतु विद्यालंकार ने हिंदी में 'आचार्य चाणक्य' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा पर तात्कालिक राजनीति के विशृंखल वातावरण में उनके क्रियाकलाप का ऐसा चित्रण प्राप्त नहीं होता। जिससे कि वह अपने समकालिकों का अगुआ घोषित किया जा सके। परिणामतः समस्त उपन्यास पढ़ जाने के बावजूद 'चाणक्य' का चरित्र हमें गहरे ढंग से प्रभावित नहीं कर पाता। इस कमी का कारण है उपन्यास की विवरणात्मक परिपाटी उपन्यासकार ने चरित्र की यूनिट को नहीं, विवरण की इकाई को स्वीकार किया है। यदि लेखक किसी युग-विशेष को 'रिकन्स्ट्रक्ट' कर रहा हो तो उस समय मूल आलोच्य वस्तु होगी उस युग का आंतरिक रूप। यदि युग के आंतरिक मंतव्यों को उपस्थित करने में लेखक सफल हुआ तो यदि कुछ घटनाएँ या चरित्र इतिहास के तथ्यों के अनुवर्ती न भी हों तब भी वह सफल कहा जाएगा। इस संबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि युग के आंतरिक मंतव्य वेशभूषा, चालढाल और बाह्य वातावरण की अपेक्षा आंतरिक विचारधाराओं, इतिहास की विकासमान शक्तियों एवं उस युग के 'सोशन मोरस' (Social Mores) के संपूर्ण चित्रण पर अधिक आधारित होते हैं कभी कभी ये सारी बातें होते हुए भी वर्तमान जीवन की विचार-प्रक्रिया हमको इस तरह अभिभूत किए रहती है कि बहुधा प्राचीन पात्रों और घटनाओं से उसकी अभिव्यक्ति जाने-अनजाने हो जाती है स्पष्टतः यह एक अनैतिहासिक तत्त्व है और ऐतिहासिक उपन्यास को कमजोर बनाने वाला है। हिंदी में राहुल सांकृत्यायन एवं यशपाल के ऐतिहासिक उपन्यास इस कमजोरी के शिकार बने हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इसी कमजोरी के न होने के कारण अधिक शक्तिशाली रचना बन सकी है।

बहुधा व्यक्ति-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यासों में दो प्रकार के दोष आ जाते हैं : या तो तमाम घटना-जाल में उद्दिष्ट व्यक्ति अप्रमुख हो जाता है क्योंकि इतिहास का चक्र किसी एक व्यक्ति के चलाए तो चलता नहीं है अथवा फिर ऐसा उपन्यास अत्यधिक यांत्रिक हो उठता है। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास 'मृगनयनी' में पहला दोष है जिसमें मृगनयनी की अपेक्षा लाखी अधिक प्रमुख हो उठी है तथा 'झांसी की रानी' में यांत्रिकता का दोष आ गया है। चतुर उपन्यासकार इसी कारण दूसरे रास्ते अपनाते हैं। सुदूर इतिहास को अपनाने से अपने उद्दिष्ट चरित्र को अपेक्षाकृत महिमा दी जा सकती है क्योंकि वहाँ घटना के यथार्थ का बंधन नहीं होता। मुंशी का 'भगवान परशुराम' इसी कारण 'भगवान कौटिल्य' की अपेक्षा अधिक सफल बन पड़ा है। अधिक अलौकिक एवं काल्पनिक होते हुए भी वह अधिक सफल बन पड़ा है। अधिक अलौकिक एवं काल्पनिक होते हुए भी वह अधिक यथार्थ लगता है। लिखित इतिहास से बाहर होने के कारण लोक-कथानायकों एवं किंवदंतियों पर आधारित उपन्यास भी इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं। वर्मा जी के 'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी' या 'कचनार' इसीलिए अधिक सफल हैं। किसी घटना या घटना-शृंखला पर लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास भी ऊपर गिनाए दोषों से मुक्त होते हैं क्योंकि वहाँ पर घटना या घटना-शृंखला को उसके पूर्ण परिपाक तक पहुँचने के लिए मददगार सारे चरित्र एवं कार्य-व्यापार प्रयोग में लाये जा सकते हैं एवं अधिक नाटकीयता की स्थापना भी की जा सकती है। मुंशी का 'पाटन का प्रमुख' अथवा गुजरात सीरीज के अन्य उपन्यास ऐसे ही हैं। इस प्रकार का लेखन लेखक से व्यापक ऐतिहासिक अनुशीलन की माँग करता है। इसके लिए आवश्यक होता है कि वह उन तमाम व्यक्तियों को पहचान सके जिन्होंने उस घटना की चरम परिणति में सहायता की है

किसी अप्रमुख पात्र के माध्यम से एक संपूर्ण युग के पुनर्निर्माण की पद्धति सर्वाधिक नवीन है। इसमें चरित्र-चित्रण के ऊपर कोई साहित्येतर अंकुश भी नहीं रहता है तथा ऐतिहासिक

उपन्यास की मूल वस्तु वातावरण निर्माण पर अपेक्षित ध्यान दिया जा रहा है। यह बात ध्यान में रखने की है कि ऐतिहासिक उपन्यास की बड़ी शक्ति, वातावरण की स्थापना में ही है। वातावरण से मेरा तात्पर्य बाहरी ही नहीं, आंतरिक मंतव्यों से भी है तथा आंतरिक मंतव्यों तक पहुँचना तभी संभव है जब समाज की द्वंद्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान हो और मानवीय चेतना के विविध सतरों की आंतरिक एकता का स्पष्ट आभास रहे।

स्वतंत्रता के बाद इधर हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों (ऐतिहासिक कथनाकों की ओर कहना अधिक युक्ति-संगत होगा!) की ओर लोगों का ध्यान गया है, परंतु अपवादों को छोड़कर बहुधा उनमें या तो रसीली कहानी कहने की प्रवृत्ति मिलती है या फिर एक प्रकार का पुनरुत्थानवाद (revivalism) ऐतिहासिक काव्यों एवं नाटकों के क्षेत्र में इतिहास-दर्शन की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ है। नए ऐतिहासिक उपन्यासकारों से मेरा अनुरोध है कि वे इतिहास की गति और अतीत के मंतव्यों का अधिक सचेत बोध ग्रहण करें एवं करायें।

(‘आलोचना और आलोचना’ नामक पुस्तक से)

## लघु उपन्यास

---

प्रेमशंकर

विश्व-साहित्य में जहाँ एक ओर Les Miserables, War and Peace, Wilhelm meister, Gone with the Wind, 'गोदान' आदि उपन्यासों की परम्परा है, वहीं हमें Sorrows of Werther, Adolphe, Strait is the G 'अरक्षणीया', 'त्यागपत्र' आदि लघु उपन्यास भी प्राप्त होते हैं।

बृहद् और लघु उपन्यास का विभेद आकार के आधार पर है। प्रथम का आकार इतना विस्तृत होता है कि उसमें असंख्य घटनाओं और अनेक पात्रों की योजना सहज ही की जा सकती है। महाकाव्य की भाँति कभी-कभी उसका उद्देश्य एक युग-विशेष के समाज को बाँधने का होता है। अथवा उसके माध्यम से लेखक अपने सम्पूर्ण चिन्तन को विस्तार से अभिव्यक्ति देना चाहता है। यही कारण है कि गेटे ने Wilhelm Meister की रचना में लगभग पचास वर्ष लगाए थे। लघु उपन्यास प्रायः जीवन अथवा समाज के किसी विशेष प्रश्न को लेकर चलता है और उसी के अनुसार समस्त नियोजना रहती है। किसी बृहद् उपन्यास के द्वारा लेखक समाज को अपनी परिधि में समेट लेने का प्रयास करता है। यदि यह सम्भव नहीं होता तो वह किसी एक समस्या पर तो बहुत विस्तार से विचार कर ही डालता है। War and Peace के माध्यम से टॉलस्टॉय मानों असंख्य सामाजिक स्थितियों और मानव-प्रवृत्तियों को व्यक्त करना चाहता है। लघु उपन्यास के पास एक सीमित आकार होता है और एक नाटककार की भाँति उसे छोटे-से रंगमंच को ध्यान में रखकर निर्माण करना होता है। इस सीमा और विवशता के कारण लघु उपन्यास का लेखक प्रभावान्विति का विशेष ध्यान रखता है।

लघु उपन्यासकार कथावस्तु में संगठन लाने का कार्य केवल कल्याण के आधार पर नहीं कर सकता। जीवन के जिस अंग-विशेष को वह अंकित करना चाहता है। उसका साक्षात्कार उसके लिए आवश्यक है अन्यथा उपन्यास में संवेदनशीलता का अभाव रहेगा। इस प्रत्यक्ष अनुभव के कारण ही कभी-कभी लघु उपन्यास व्यक्तिगत अनुभूति तथा आत्म-कथा की सीमा तक का स्पर्श कर लेते हैं। Sorrows of werther की प्रेरणा Lotte Buff वह स्नेह है जिसे आजीवन

महाकवि न भूल सका। स्वयं गेटे ने इस उपन्यास के विषय में कहा था कि मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियों ने इसे जन्म दिया है।<sup>1</sup> इसी प्रकार Benjamin Constant के उपन्यास Adolphe की विवेचना (The Conquest of Death) करते हुए Middleton Murry ने लिखा है कि 'यह एक हृदयद्रावक कथा है। प्रेम के मनोविज्ञान की यह अन्तर्भेदिनी व्याख्या है।'<sup>1</sup> इसकी प्रेरणा लेखक को अपने अन्तरंग सखा Mme Talme से प्राप्त हुई थी। एक प्रकार से ये दोनों ही प्रभावशाली लघु उपन्यास लेखक की आत्म-स्वीकृति से बन गए हैं।

इस प्रकार इन कतिपय लघु उपन्यासों की प्रेरणा-भूमि में जाने से ज्ञात होता है कि इनमें लेखक अपने व्यक्तित्व को कभी-कभी छिपाकर नहीं रख पाता। उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ बरबस ही बाहर आ जाती हैं। बृहद् उपन्यास प्रायः वर्णन-प्रधान होता है किन्तु लघु उपन्यास में भावों और विचारों को अधिक स्थान मिलता है। इस विचार-प्रधानता के कारण नये साहित्य में एक बार पुनः उपन्यासों की ओर लोगों का ध्यान गया है।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि लघु उपन्यास एक प्रकार से किसी स्वप्न को बाँधने का प्रयास करता है। यह जिस चित्र को प्रस्तुत करना चाहता है, वह यदि सघन न हुआ तो असफल रह जाता है। कथानक की इस संग्रथित योजना के अनुसार ही पात्रों की भी सृष्टि करनी पड़ती है। पात्रों की संख्या उसमें कम रहती है, किन्तु इन पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण करने में लेखक को बड़ी सावधानी से कार्य करना पड़ता है। प्रमुख पात्र लघु उपन्यास में एक प्रकार से नियामक का काम करता है और इसी कारण वह आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। पात्रों का व्यक्तित्व सृजन करने में लेखक को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वह अधिकाधिक संवेदनशील हो और उसमें कोई विशेष गुण हो। हरवर्ड रीड के शब्दों में 'सम्भव है उसमें चरित्र (Character) न हो, पर व्यक्तित्व (Personality) का होना आवश्यक है।' व्यक्तित्व के अभाव में ये पात्र केन्द्रगत प्रभाव में सहायक नहीं हो सकते और सहज आकर्षण से वंचित रह जाते हैं। पात्रों में रंग-रूप भरने के लिए कुशल मनोवैज्ञानिक का कार्य लेखक को करना पड़ता है, क्योंकि कभी-कभी मनोवृत्तियों के प्रकाशन से ही चरित्रांकन हो जाता है और कथानक को भी गति प्राप्त होती है। लघु उपन्यास के पात्रों को अधिक प्रभावशाली बनाना पड़ता है। उदाहरण के लिए हम 'रघुवंश' महाकाव्य और 'मेघदूत' गीति-काव्य को ले सकते हैं। महाकाव्य में सम्पूर्ण रघु-परम्परा ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, किन्तु 'मेघदूत' में हमारी समस्त चेतना यक्ष पर ही केन्द्रित हो जाती है। बृहद् उपन्यास और लघु उपन्यास के पात्रों में भी यही विभेद होता है। पात्रों के इस मार्मिक चरित्रांकन का प्रत्यक्ष उदाहरण 'सारोज ऑफ वर्थर' में मिल जाता है। गेटे के जीवनी-लेखक Emile Ludwing ने लिखा है कि "जिस समय यह छोटा-सा उपन्यास प्रकाशित हुआ जर्मनी में एक हलचल-सी मच गई थी। युवकों ने वर्थर की भाँति कपड़े पहनना आरम्भ कर दिया था और युवतियाँ अपने को Charlotte की भाँति सजाने लगी थीं। जर्मनी में आत्म-हत्या की संस्थाएँ तक खुल गई थीं।" लघु उपन्यास में प्रमुख नायक ही कथा का सूत्राधार होता है और उसके चरित्रांकन पर ही उपन्यास की सफलता-असफलता निर्भर रहती है।

लघु उपन्यासों के पात्रों को विशेषतया प्रमुख पात्र को कभी-कभी असाधारण भी बनना पड़ता है। यह असाधारणता किसी कुण्ठा के कारण भी हो सकती है, किन्तु उसका उद्देश्य पात्र को एक विशिष्टता प्रदान करना ही होता है। उसके व्यक्तित्व में, कतिपय ऐसे तत्वों का

1. Adolphe is a deeply moving story, it is also penetrating analysis of the psychology of love.



समावेश करना पड़ता है, जो उसकी अपनी सम्पत्ति हों और जिनके कारण वह एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्राप्त कर सके। यह भी ध्यान रखना होगा कि यह असाधारणता पागलपन की उस सीमा तक न पहुँच जाय कि उसका मानव-मूल्य ही न रहे। वास्तव में प्रमुख पात्र को एक सत्य लेकर चलना पड़ता है जिसके मध्य उसके जीवन के समस्त आदि-अन्त सन्निहित रहता है। व्यक्तिगत गुणों के साथ ही वह किसी ऐसे सत्य की खोज में लगा रहता है, जिसमें सामाजिक तत्त्व भी हों। 'Strait the Gate' में एक स्थान पर Jerome को पत्र लिखते हुए Alissa ने लिखा है 'हमारी महत्वाकांक्षा विद्रोह नहीं, सेवा होनी चाहिए' (Our ambition should be not in revolt, but in service)। लघु उपन्यास के पात्रों को स्वयं से संघर्ष करते हुए देखा जा सकता है, क्योंकि इसी से उनका व्यक्तित्व निखरता है। यह चरित्रगत आन्तरिक द्वन्द्व यदि उनके सामाजिक कार्य में बाधा नहीं बनकर आता, तो निस्सन्देह उपन्यास अपने मार्मिक प्रभाव में सफल होता है। Adolfe में Ellenose का आन्तरिक संघर्ष उपन्यास को मार्मिकता प्रदान करता है, प्रेरणामय बना देता है। Martin Turnell ने उसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि लेखक ने संसार की यातनाओं से रक्षा करने के लिए उसे चुना है।<sup>1</sup> इस प्रकार लघु उपन्यास में पात्रों का चरित्रांकन लेखक से विशेष कला-कौशल की माँग करता है।

लघु उपन्यास का लेखक अधिकांश दृष्टियों से नये प्रयोग कर सकता है। वह वास्तव में इस माध्यम से किसी नई मान्यता को जन्म दे सकता है। पात्रों के असाधारण व्यक्तित्व के मूल में प्रायः यही भावना छिपी रहती है। चरित्रांकन के अतिरिक्त शैली के नवीन प्रयोग भी किये जा सकते हैं। लेखक को इसका पूरा अवसर रहता है और प्रायः कुशल कथाकार इसका उचित प्रयोग कर लेते हैं। लघु उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार एक नई टेकनीक प्रस्तुत कर सकता है। यह शैली यदि एक ओर कथा को रोचकता प्रदान करती है तो साथ ही उसके प्रभावोत्पादन में भी सहायक होती है। डायरी शैली में लिखे जाने के कारण 'वर्थर' में भावों का उद्वेग अधिक मुखर हो सका है। उसके द्वारा वर्थर का भावावेश और उसकी सम्पूर्ण मनःस्थिति का आभास मिलता रहता है। उपन्यास के अन्त तक आते-आते यह आवेश अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। उसकी स्थिति कुछ-कुछ 'लस्ट फार लाइफ' के उस विन्सेन्ट की भाँति हो जाती है जो मृत्यु को चित्रित न कर पाने की विवशता में आत्महत्या कर लेता है। रात्रि के ग्यारह बजे के अनन्तर लिखता हुआ वर्थर कहता है "मेरे चारों ओर निस्तब्ध नीरवता है और मेरी आत्मा शान्त है। ईश्वर, मैं भी तुझे धन्यवाद देता हूँ कि तूने मुझमें इतना साहस और शक्ति भर दी कि मैं इन अन्तिम क्षणों को देख सकूँ।" एक साथ अनेक प्रश्न वह स्वयं से करता है और इस प्रकार Charlotte के प्रति अपने स्नेह की अन्तिम बूँद बिखेरकर स्वयं को निश्शेष कर देता है।

लघु उपन्यासों के विषय में सबसे अधिक आक्षेप यह लगाया जाता है कि उनके छोटे कलेवर के कारण उनमें किसी भारी प्रश्न को सुलझाना सम्भव नहीं है। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि भावना की प्रधानता के कारण उनमें किसी 'स्वस्थ जीवन-दर्शन' को नहीं प्रस्तुत किया जा सकता।<sup>1</sup> उसमें भावुकता अधिक रहती है, विचारों का प्रकाशन कम। इस प्रकार की शिकायत करने वाले अधिकांश समीक्षक नई मान्यताओं और नई शैलियों के स्वागत को तैयार नहीं होते। स्वस्थ जीवन-दर्शन एक ऐसा अद्भुत शब्द है कि उसकी परिभाषा और सीमा निर्धारित करने में भी कठिनाई होती है। बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं के बीच कथाकार से इस प्रकार की माँग कुछ अनावश्यक प्रतीत होती है। यदि उपन्यासकार किसी वेश्या के जीवन को उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता है तो उसके लिए यह अनिवार्य हो

जाता है कि वह सम्पूर्ण चित्र का स्वाभाविक अंकन करे। उदात्तीकरण के साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना होगा कि रस-निष्पत्ति में किसी प्रकार की बाधा न प्रस्तुत हो। केवल बाह्य रूप-रेखा से ही काम नहीं चल सकता, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करनी होगी। यथार्थ की रक्षा के लिए हर प्रकार का जीवन-दर्शन सम्मुख रखना पड़ता है। जहाँ तक उद्देश्य का प्रश्न है मैं स्वीकार करता हूँ कि बृहद् उपन्यास समाज का एक पर्यवेक्षण करके अपनी राय जाहिर कर सकता है। इस दृष्टि से 'वार एण्ड पीस' अथवा 'गोदान' का सदैव महत्वपूर्ण स्थान रहेगा और वे लेखक की प्रतिनिधि कृतियाँ कही जायँगी, क्योंकि वे इन मनीषियों के सम्पूर्ण चिन्तन का फल हैं। पर केवल भारी आकार के आधार पर यह अनुमान नहीं किया जा सकता है कि प्रत्येक बृहत् उपन्यास समाज पर गहरी दृष्टि डालकर किसी परिपुष्ट और स्वस्थ जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करेगा ही। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के तिलिस्म को छोड़ दें, तो भी अनेक ऐसे भारी-भरकम उपन्यास मिलते हैं, जिन्हें आदि से अन्त तक पढ़ जाने पर एक भारी शून्य ही हमारे हाथ लगता है। हिन्दी में काल के कुछ उपन्यासों से, जिनमें से कुछ प्रतिष्ठित कथाकारों ने लिखे हैं, इसी प्रकार निराशा प्राप्त होती है।

साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि रचना की विभिन्न शैलियाँ एक प्रकार से युग और समाज की माँग होती हैं। विभिन्न मानव-मूल्यों को अभिव्यक्ति देने के लिए नये शिल्प-विधान का निर्माण करना होता है। जिस प्रकार महाकाव्य के द्वारा प्राचीन महाकवि एक दीर्घ परम्परा और विस्तृत समाज को अंकित करते थे, उसी प्रकार बृहद् उपन्यासों के मूल में भी यही महत्त्वाकांक्षा दिखाई देती है। उसके द्वारा लेखक अपने समस्त अनुभव को अभिव्यक्ति देना चाहता है। लघु उपन्यास एक-दो प्रश्नों को लेकर चलते हैं और समाज में बढ़ती हुई समस्याओं के साथ-ही-साथ उनकी माँग बढ़ जाना भी स्वाभाविक ही है। बात यह है कि समाज के अनेक प्रश्नों, असंख्य समस्याओं और सभ्यता के साथ बढ़ जाने की अनगिन जटिलताओं को किसी एक ही बृहद् उपन्यास में प्रस्तुत कर देना किसी एक कथाकार के बूते का काम नहीं है। यदि महान् लेखक भी आज के जटिल समाज में इस प्रकार का प्रयास करना चाहे, तो वह एक चलती नजर डालने के अतिरिक्त कुछ न कर पाएगा। वह उपन्यास एक चार्ट अथवा डाइरेक्टरी बन कर रह जाएगा। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए लेखक का रसमय हो जाना तथा पात्रों में डूबकर उनके व्यक्तित्व का निर्माण करना आवश्यक है। बृहद् उपन्यास में दूरी देखने को मिल जाती है, पर लघु उपन्यास के लिए गहराई (intensity) आवश्यक है। समाज का बाहरी खाका खींचने में भूल के रूस के अधिकांश आधुनिक उपन्यास डाइरेक्टरी बन कर रह गए हैं। किन्तु सम्पूर्ण प्रचार-भावना के होते हुए भी उनकी कहानियाँ अधिक संवेदनशील हैं। 'I choose Peace' के दीर्घ कलेवर में भी पाठक शान्ति की मूल चेतना को नहीं खोज पाता। किसी एक भावना को अभिव्यक्त करने के लिए लघु उपन्यास एक अधिक अच्छा माध्यम हो सकता है, क्योंकि उसमें केन्द्रगत भाव सहज जी निर्मित किया जा सकता है।

सम्भव है लघु उपन्यास किसी महत्त्वाकांक्षी कथाकार की रचना का प्रमुख माध्यम न बन सके, परन्तु इतना निश्चित है कि उसके द्वारा किसी विशेष संश्लिष्ट चित्र को उतारा जा सकता है साथ ही उसमें कतिपय नई मान्यताओं के साथ अधिक न्याय भी किया जा सकता है। जहाँ तक लघु उपन्यासों के उद्देश्य का प्रश्न है, मैं एक-दो उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूँगा। 'सरोज आफ वर्थर' के प्रकाशन के अनन्तर जब गेटे ने देखा की उसकी निराशाजनक परिसमाप्ति का प्रभाव जनता पर ठीक नहीं पड़ रहा है, (क्योंकि आत्म-हत्याओं की बाढ़ सी आ गई थी) तो कुछ समय पश्चात् उसने स्वयं परिवर्तन कर दिए थे। अब अपने वर्तमान रूप में वह निराशा

के बीच में आशा का सन्देश देता है। उसका अन्तिम वाक्य इस प्रकार है “वृद्ध पुरुष और उसके लड़के शव के साथ कब्र तक आए। अलबर्ट न जा सका। Charlotte का जीवन संकट में था श्रमिकों ने शव को ढोया। कोई पादरी साथ न था।<sup>1</sup> 'Strait is the Gate' में धर्म और प्रेम का जो संघर्ष अंकित है, वह एक प्रकार से नई और पुरानी मान्यताओं के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि नायक की करुणाजनक स्थिति का अंकन बड़े ही हृदय द्रावक शब्दों में किया गया है, किन्तु उपन्यास का उद्देश्य निराशा की सृष्टि नहीं है। Dorothy Bussy ने उसके विषय में कहा है कि वह एक सुन्दर कृति है।<sup>2</sup>

लघु उपन्यास के इन मूल उपादानों की चर्चा के अनन्तर मैं हिन्दी के लघु उपन्यासों पर एक विहंगम दृष्टि डालना चाहूँगा। 'गोदान' जैसे महा उपन्यास के लेखक की ही कृति 'निर्मला' है। 'गोदान' हमारा प्रतिनिधि उपन्यास है, किन्तु विस्तार के कारण उसमें अनेक पात्र और घटनाएँ निरर्थक प्रतीत होती हैं। 'निर्मला' की कथावस्तु अधिक सुगठित है। शरत् के 'श्रीकान्त' की अपेक्षा 'अरक्षणीया' में इसी कारण मार्मिकता अधिक है। चरित्र को इतनी संवेदनशील और सहानुभूतिपूर्ण रेखाओं से निर्मित किया गया है कि उसका प्रभाव अधिक द्रावक होता है।

जैनेन्द्र अपने 'त्याग-पत्र' द्वारा जिन नैतिक मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं, यद्यपि उसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है, फिर भी एक नया दृष्टिकोण हमें देखने को प्राप्त होता है। आरम्भ में जिज्ञासा और कुतूहल के लिए लिखे गए दो-चार शब्द इसके प्रमाण हैं कि जैनेन्द्र कथा कहने में कितने कुशल हैं। कम-से-कम हिन्दी के लिए, अपनी सारी कमियों के बावजूद 'त्याग-पत्र' एक नई दिशा का सूचक अवश्य रहा है शैली और चरित्रांकन के कारण। 'चित्रलेखा' अपेक्षाकृत अधिक अधिक बड़ा उपन्यास है, फिर भी उसके विषय में भी यही कहा जा सकता है कि एक नई शैली देखने को हमें मिली। इन नवीन शैलियों के साथ ही यदि उपन्यासकार नई मान्यताओं को अभिव्यक्ति दे सके, तो उसकी कृति निस्सन्देह सफल होगी। हाल ही में लिखे गए डॉ. धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और डॉ. देवराज का 'बाहर-भीतर' शैली की दृष्टि से नये प्रयोग हैं। यहाँ इतना अवसर नहीं है कि हिन्दी के इन कतिपय लघु उपन्यासों की विस्तृत विवेचना की जा सके; क्योंकि वह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है, किन्तु मैं इस दिशा में इतना संकेत अवश्य करना चाहूँगा कि आज की अवस्था में लघु-उपन्यास प्रयोग का सबसे अच्छा माध्यम हो सकता है।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)

1. The old man and his son followed the body to the grave. Albert could not. Charlotte's life as danger. The body was carried by workmen. No clergyman attended.
2. It's has a lucid Clarity a simplicity a directness, a beauty and sweetness of thought and a musical expression.

—Dorothy Bussy

## उपन्यास के दायित्व

---

रामस्वरूप चतुर्वेदी

### 1

साहित्य के माध्यमों में से कौन-सा माध्यम सबसे अधिक सशक्त तथा प्रभावोत्पादक है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के अपने-अपने मत रहे हैं। इधर लगभग पिछले 5-6 वर्षों से उपन्यास की महत्ता सर्वमान्य रूप से प्रतिपादित की जाने लगी है। पच्चीस वर्षों पहले तक उपन्यास का पढ़ना शिक्षित वर्ग में विलास के अन्य बहुत से साधनों में से एक माना जाता था। उपन्यास का पठन-पाठन शिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित धनिक वर्ग में अधिक प्रचलित भी था, क्योंकि इस शौक को पूरा करने के लिए उनके पास प्रचुर समय तथा साधन दोनों ही थे। यदि हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश के सामाजिक इतिहास का थोड़ा अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलता है कि जिस युग की हमने ऊपर चर्चा की है, उस युग में उपन्यासों का पठन-पाठन युवकों तथा अर्द्ध-युवकों के लिए प्रायः वर्जित था। उपन्यास पढ़ने तथा समझने का अधिकार अर्धे उम्र के व्यक्तियों को ही अधिकतर दिया गया था, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का मानसिक स्तर प्रौढ़ तथा परिष्कृत हो चुकता है। युवकों तथा अर्द्ध-युवकों को उपन्यास पढ़ने से वर्जित इसलिए किया जाता था कि उपन्यासों में अंकित जीवन का सर्वतोमुखी तथा यथातथ्य चित्रण कहीं उनके अपरिपक्व मन पर बुरा प्रभाव न डाले। इससे स्पष्ट है कि उपन्यास के प्रारम्भिक काल में ही, साहित्य के इस माध्यम की गहरी प्रभावशीलता का उस समय की जनता ने मन-ही-मन भली-भाँति अनुभव किया था। प्रभावशीलता के साथ-ही-साथ दायित्व की भावना सम्बद्ध होती है। साहित्य के जिस माध्यम द्वारा पाठक, श्रोता अथवा दर्शक सबसे अधिक प्रभावित होता है, उसी अनुपात से समाज के प्रति उसका दायित्व भी सबसे अधिक होता है। इस दृष्टिकोण से साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम की अपेक्षा उपन्यास के दायित्व भी सबसे अधिक होता है। इस दृष्टिकोण से साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम की अपेक्षा उपन्यास

के दायित्व अनेक तथा बहुमुखी हैं। जैसा हमने अभी ऊपर देखा, उपन्यास को एक शक्ति-सम्पन्न परन्तु खतरनाक माध्यम तो बहुत दिनों से माना जाता रहा है, किन्तु उसकी शक्ति के श्रेयस्कर प्रभावों को अभी हाल ही में पहचाना गया है। यही कारण है कि समकालीन साहित्यिक वातावरण में उपन्यास की महत्ता सर्वोपरि है।

## 2

आत्म-तत्त्व की अनुभूति को संसार के प्रायः सभी दर्शनों ने मनुष्य-जीवन की उच्चतम स्थिति के रूप में स्वीकार किया है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक तथा 'टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट' के सम्पादक ऐलन प्राइस-जोन्स के अनुसार इस आत्म-तत्त्व की अनुभूति की उपलब्धि कराना उपन्यास के प्रधान दायित्वों में से एक है, उसी के शब्दों में "यह मत समझिए कि आप काल्पनिक परिस्थितियों से प्रभावित होने के लिए उपन्यास पढ़ते हैं। आप उन्हें पढ़ते हैं, जिस प्रकार अन्य लोग प्रार्थना करते हैं, स्वयं अपने-आपके अन्वेषण के लिए। और क्योंकि अन्तिम अन्वेषण कभी सम्भव नहीं हो पाता, इसीलिए उपन्यास की कभी मृत्यु नहीं होती।" उपन्यास के इस दायित्व से हम सभी बहुत परिचित हैं। उपन्यास चाहे शर्त का हो या हार्डी का, चाहे प्रेमचन्द का हो अथवा गोर्की का, उसके किसी पात्र विशेष अथवा पात्रों से अपना तादात्म्य स्थापित करके, हम उनमें स्वयं अपने-आपको ढूँढने लगते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। तथा यह भी एक सर्वविदित तथ्य है कि व्यक्ति अपने अज्ञात तथा अवचेतन के अंशों को, जिन्हें वह अपनी साधारण दृष्टि से नहीं देख पाता, अपने किसी प्रिय उपन्यास के पात्र द्वारा सहज ही में पहचान लेता है। इस आत्मानुभूति की गहराई उपन्यासकार की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तथा विवेचन-शक्ति और विभिन्न पाठकों की विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों पर निर्भर करती है। पर यह निश्चित है कि जो उपन्यासकार अपने पाठकवर्ग को यह सहज आत्मानुभूति की भावना नहीं दे पाता, वह अपने कर्तव्य तथा लक्ष्य दोनों से च्युत है।

आत्मानुभूति के साथ-साथ उससे सम्बद्ध सत्य के अन्वेषण की बात आती है। आत्मा व्यक्तिगत है तो सत्य वस्तुगत। जोन्स महोदय के अनुसार तो सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम द्वारा सम्भव नहीं "तथ्य की बात यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार की दृष्टि ही एक-मात्र सहारा है।" डेविड कॉपरफील्ड क्राइम एण्ड पनिशमेंट तथा 'मैदामबॉवेरी' जैसे उपन्यासों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि डिकेन्स, डास्टाएव्स्की तथा फ्लाबेयर जैसे कलाकार सत्य के कितने महान अन्वेषक रहे हैं। और जिस प्रकार आत्मा की खोज कभी समाप्त नहीं होती, उसी प्रकार सत्य का अन्वेषण भी कभी समाप्त नहीं होता, 'और इसीलिए उपन्यासकार कभी इस बात का अनुभव नहीं करता कि प्रत्येक बात कह दी है अथवा सत्य का कोई भी पहलू अन्तिम निश्चय के साथ अनावृत कर दिया गया है।'

व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित तथा आकर्षित करना उपन्यास का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व माना जाता है। यह उपन्यास का ही कर्तव्य है कि वह पतित चरित्रों के प्रति हमारी अकृतिम करुणा को उभारे। वैसे तो सारे-का-सारा रचनात्मक साहित्य ही मानव-मूल्यों का संरक्षक माना जाता है, परन्तु यहाँ भी उपन्यास की जिम्मेदारी अपेक्षाकृत अधिक है। दलित मानवता के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करना तथा उसकी समस्याओं और समाधानों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करना उपन्यास का चरम ध्येय है। ग्राहम ग्रीन ने अपने एक वक्तव्य में उपन्यास के 'अतिरिक्त-आयाम सहानुभूति' की चर्चा की है। एलिजाबेथ बोवेन के मतानुसार इस 'अतिरिक्त-आयाम सहानुभूति' के बिना उपन्यास का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। वस्तुस्थिति तो यह है कि बिना इस सहानुभूति की भावना के उपन्यास लिखने

की वास्तविक प्रेरणा मिल ही नहीं सकती। डॉलस्टॉय द्वारा बहु प्रचारित सिद्धान्त 'पाप से घृणा करो, पापियों से नहीं'। आज भी उपन्यास का मूल मन्त्र माना जाता है।

जीवन के बहुत से जटिल तथा उलझे हुए पक्षों को तार्किक एकरूपता देना दार्शनिक का काम माना गया है। इसी प्रकार उपन्यासकार का दायित्व होता है, जीवन के बिखरावों में से एक भावनात्मक सामजस्थ को ढूँढ निकालना। अपने गुरु-गम्भीर कर्तव्य तथा दायित्व में एक वास्तविक उपन्यासकार किसी भी दार्शनिक से कम नहीं होगा। जीवन को एक संगति तथा अर्थ देना दोनों का ही लक्ष्य रहता है। वस्तुतः हर सफल उपन्यासकार मूलतः एक दार्शनिक होता है, तथा उसका दर्शन विकसित होता है, उसके गम्भीर मनन तथा उसकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से। दार्शनिक बहुत निरपेक्ष तथा इतिवृत्तात्मक ढंग से अपना चिन्तन हमारे सम्मुख उपस्थित करता है, जबकि उपन्यासकार का चिन्तन एक स्वरूप भावनात्मकता तथा विस्तृत सहानुभूति से अनुरजित होकर उसकी कला-कृतियों में अभिव्यक्ति पाता है। फलतः दार्शनिक की अपील बहुत सीमित तथा संकुचित होती है, जबकि उपन्यास की प्रभावशीलता या क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। एक राष्ट्र अथवा जाति के उत्थान या विघटन की जितनी अधिक जिम्मेदारी उसके दार्शनिकों पर होती है प्रायः उतनी ही जिम्मेदारी उसके उपन्यासकारों पर भी होती है।

किसी भी समाज में पुरानी चली आने वाली परम्पराओं तथा रूढ़ियों की पर्तें उसके अधिकांश सदस्यों के मन पर चढ़ती रहती हैं। ये पर्तें अन्धविश्वास तथा मूढ़ ग्राहों की भी हो सकती हैं, तथा मिथ्या भय और मिथ्या अहंकार की भी। समाज के विकास के साथ-साथ 'प्रेजुडिस' को भी जन्म मिलता है। इस 'प्रेजुडिस' पर विजय पाने के लिए जिस व्यापक सहानुभूति की आवश्यकता होती है, उसे एक उपन्यासकार ही दे सकता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध समसामयिक उपन्यासकार जॉयस कैरी के अनुसार ही यह उपन्यास-लेखक की एक बड़ी जिम्मेदारी है कि वह लोगों के भावुक मन पर चढ़ी हुई पर्तों को बहुत सावधानी के साथ, बिना उन्हें किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाए हुए, धीमे-धीमे तोड़े। जब तक ये बहुत दिनों की जमी हुई पर्तें टूटेंगी नहीं, तब तक उन्हें कोई नवीन तथा स्वस्थ दृष्टि नहीं दी जा सकती। अपने निबन्ध 'उपन्यासकार के दायित्व' को समाप्त करते हुए कैरी महोदय कहते हैं, 'संक्षेप में उपन्यास का दायित्व यह है कि वह संसार को स्वयं अपने-आपकी मीमांसा करने और समझने के लिए प्रेरित कर सके; और यह समझना एक बौद्धिक जीव के रूप में न होकर मूल्यों के अनुभव के रूप में, एक सम्पूर्ण पदार्थ के रूप में हो।' जीवन के प्रति यह सुलझा हुआ दृष्टिकोण व्यक्ति तभी अपना सकता है जबकि उसके मन में कोई पूर्वग्रह या अनावश्यक परंपरा की कोई पर्त न हो! किसी भी विचारधारा को समाज के मन से निकालने या उसकी चेतना में अज्ञात रूप से प्रविष्ट कराने का कार्य उपन्यास ही भली-भाँति कर सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र अथवा समाज में एक विशेष प्रकार की चिन्तन-पद्धति को प्रवाहित करने में अथवा किसी परम्परागत विचार-धारा को वांछनीय दिशा में मोड़ देने में यहाँ के उपन्यासों का बड़ा प्रभाव होता है। बंगाल की नारी-समस्या को सुलझाने में शरच्चन्द्र ने अपनी उपन्यास-कला के माध्यम से जो-कुछ भी किया, वह बहुत से सुधारकों द्वारा मिलकर एक साथ भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार से उत्तर भारत की कृषक तथा ग्राम-समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते समय इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द के ऋण को नहीं भूलाया जा सकता। उपन्यासकार सचमुच एक द्रष्टा होता है। कविता कुछ क्षणों के लिए पाठकों को प्रभावित कर सकती है, अभिभूत कर सकती है; क्षीणतर होते हुए भी उसका प्रभाव पाठक के मन पर कुछ दिनों तक बना रह सकता है। परन्तु इसके बाद उसके व्यापक प्रभाव में कोई गहराई नहीं होती।

इसके विपरीत, एक उपन्यास अपने पाठक के चेतन तथा अवचेतन मन पर इतने गहरे संस्कार छोड़ जाता है, जो कि उसके मन में एक सर्वथा नवीन जीवन-दर्शन को जन्म दे सकते हैं। उपन्यास के प्रभावों में स्थिरता तथा एकरूपता रहती है। किसी भी गम्भीर सामाजिक परिवर्तन अथवा क्रान्ति को आगे बढ़ाने में उपन्यास का माध्यम एक अत्यन्त सशक्त माध्यम होता है। इन सब बातों को देखते हुए इस बात का वैज्ञानिक विवेचन होना अत्यन्त आवश्यक है कि किस श्रेणी के उपन्यास कितनी अवस्था तक के व्यक्तियों को पढ़ने के लिए दिये जाने चाहिए। उपन्यास की शक्ति असीम है, अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका प्रवहन उचित दिशा में हो। उपन्यासों के अध्ययन के सम्बन्ध में जो वर्जना हमारी शती के प्रारम्भिक दशकों में थी, उसका एक वैज्ञानिक तथा परिष्कृत रूप समाज के लिए सदैव हितकर होगा।

उपन्यास का एक बड़ा दायित्व है अपने पाठकों को जीने की कला सिखाना। एक अच्छा उपन्यास अपने पाठकों के लिए दिशा-निर्देश का काम बड़ी सफलता के साथ कर सकता है। जीवन के सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर उपन्यासकार प्रकाश डालता है। सृष्टि-निर्माता के समान ही मानव-जीवन का कोई भी रहस्य उसके लिए अपरिचित नहीं होता। इसलिए उपन्यासों का एक अच्छा अध्येता जिन्दगी के सभी पहलुओं को देखे रहता है। राबर्ट गोरहम डेविस का कथन है कि, “उन्होंने (अंग्रेजी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने) अपने पाठकों को उदारता, सहानुभूति, विनोद तथा नैतिक एवं सौन्दर्यात्मक चेतना की शिक्षा दी। उन्होंने संस्थाओं को सुधारने तथा सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाने की इच्छा उत्पन्न की।” वस्तुतः यदि उपन्यास अपने पाठक के लिए इतना कर सकता है तो उसने अपने प्रधान दायित्व का बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया है। और यह भी सच है कि जीने की कला सिखा पाना अथवा जीवन के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टि देना, आज उपन्यास द्वारा ही सम्भव है। प्राचीन वाङ्मय में जितना महत्वपूर्ण स्थान महाकाव्य का था, आज के युग में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान उपन्यास का है। वास्तविकता तो यह है कि उपन्यास महाकाव्य का ही एक परिवर्तित तथा आधुनिक रूप है।

जनतन्त्र तथा उपन्यास का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनतन्त्र की भावना को उत्पन्न करने तथा उसे आगे बढ़ाने में अच्छे उपन्यासों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक होता है। साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जनतन्त्र अथवा जनतन्त्र तक पहुँचने की तीव्र भावना उपन्यासों के सृजन में सहायक सिद्ध होती है। जनतन्त्र का आयोजन इसलिए किया जाता है कि व्यक्ति अपने स्वातंत्र्य का उपभोग कर सके, तथा विभिन्न मूल्यों को मान्यता देने वाले मनुष्य अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़ सकें और इस पर भी समाज की उन्नति में वे अधिक-से-अधिक सहायता दे सकें। उपन्यास हमें बहुमुखी दृष्टि, अधिकाधिक सहानुभूति, सहिष्णुता तथा व्यक्तिगत दायित्व की भावना देकर, इस कार्य में हमारा हाथ बँटाता है। इस प्रकार जनतन्त्र और उपन्यास सदैव एक-दूसरे को प्रश्रय देते हैं। उपन्यासों का समुचित विकास जनतन्त्र में ही सम्भव हो पाता है, तथा जनतन्त्र को सुचारू रूप से चलाने की शिक्षा काफी हद तक उस राष्ट्र के उपन्यास देते हैं। इस दृष्टिकोण से जनतन्त्र तथा उपन्यास के दायित्वों में भी बहुत-कुछ समानता है।

कम्युनिज्म की संकीर्णता से लोहा लेने के लिए आज राजनीति, धर्म तथा दर्शन सभी दृढ़ता के साथ तत्पर हैं। वे ‘व्यक्ति के पुर्नन्वेषण’ में व्यस्त हैं। व्यक्ति की महत्ता, नैतिक दायित्वों का निर्वाह कर पाने की क्षमता तथा स्वयं अपने राष्ट्र के भविष्य को प्रभावित करने की शक्ति पर वे सामूहिक रूप से विशेष बल दे रहे हैं। ऐसे संकट के अवसर पर उपन्यास का दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। समाज को श्रेय की ओर ले जाने में आज अनेक प्रकार की कठिनाईयाँ हैं; भौतिकतावाद की एकान्त तथा अनन्य साधना उनमें से एक है। ऐसे

खतरों से बाहर निकलने के लिए आज हमें जिन साधनों की आवश्यकता है, उनमें साहित्य का प्रतिनिधित्व केवल उपन्यास ही करता है और इसके अतिरिक्त उपन्यास में वह क्षमता भी है, जिससे वह समसामयिक सामाजिक तथा दार्शनिक गतिरोध को दूर कर सकता है। श्रान्त तथा विभ्रमित राष्ट्र का उपचार उपन्यास बड़े हल्के-हल्के ढंग से अनजाने में ही कर डालता है। इसके लिए वह कभी-कभी 'शॉक ट्रीटमेंट' का भी सहारा लेता है। परन्तु किसी भी दृष्टवृत्ति पर वह खुले ढंग से आक्रमण कभी नहीं करता। इसीलिए उपन्यास द्वारा किया जाने वाला उपचार अपनी प्रकृति में पूर्णतः मनोवैज्ञानिक होता है। राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यक्ति का आदर करते हुए जनतन्त्र की स्थापना करना उपन्यास का परम आदर्श है।

वैयक्तिक अनुभूतियों के माध्यम से मानववाद तक पहुँचाना कदाचित् उपन्यास का प्रथम तथा अन्तिम दायित्व है। उपन्यास के चरित्र, हार्डी के शब्दों में, 'वास्तविक से अधिक सत्य' होते हैं। इस दृष्टिकोण से उपन्यास में अंकित मानव-जीवन की वास्तविकता से अधिक सत्य होता है। उपन्यास की यह विशेषता उसकी बिलकुल अपनी है। साहित्य का अन्य कोई भी माध्यम जीवन का इतना सत्य तथा पूर्ण चित्र उपस्थित करने का दावा नहीं कर सकता। 'प्रायः प्रत्येक युग के आलोचकों ने उन व्यक्तियों तथा घटनाओं की निन्दा की है, जिनका चित्रण यथार्थवादी उपन्यासकारों ने किया है। परन्तु क्योंकि उपन्यास में विक्षिप्त, बहिष्कृत तथा त्रस्त व्यक्तियों, औसत दर्जे के मनुष्यों और पापियों को अंकित किया जाता है, इसलिए हमारी कल्पना-प्रसूत सहानुभूति अपनी मानवता अथवा 'इसा इयत' में अधिक पूर्ण हो जाती है, और साथ ही साथ वह एक सामान्य मानव-प्रकृति में अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की भूमियों को भी पहचान पाती है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास-कला सर्वाधिक पूर्ण मानवतावादी कला है। व्यक्ति तथा मानवता को एक ही सत्य के दो पहलू मानकर उपन्यासकार आगे बढ़ता है। इसलिए व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करता हुआ उपन्यासकार मानवता से बड़ा किसी भी सत्य को नहीं मानता।

उपन्यास की गहरी प्रभावशीलता का अनुभव करने के कारण आलोचक तथा पाठक दोनों ही उसके भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित रहते आए हैं। इस प्रसंग में ऐलन प्राइस जोन्स ने अत्यन्त मनोरंजक ढंग से लिखा है, "हर दस साल के बाद कोई-न-कोई उपन्यास की मृत्यु की घोषणा करता है; आलोचक बहुत सामान्य ढंग से अपने वस्त्रों को शोकसूचक काले कोट से ढँक लेते हैं; उपन्यासकार पूर्ववत् लिखते चले जाते हैं।" उपन्यास के माध्यम के इस स्थायित्व और उसके कुछ कारणों की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। स्वयं जोन्स महोदय का कथन है: "उपन्यास इसलिए नहीं लिखे जाते, क्योंकि उपन्यासकार कोई कहानी कहना चाहता है, वरन् इसलिए कि वह सत्य की कभी पकड़ में न आने वाली प्रकृति से परेशान रहता है।" सत्य की यह कभी 'पकड़ में न आने वाली' प्रकृति ही सदैव उपन्यासकार को लिखने के लिए प्रेरित करती रहती है। इसलिए उपन्यास-लेखन का कभी अन्त नहीं होता।

अपने निबन्ध 'एट द हार्ट ऑफ द स्टोरी इज मैन' में रौबर्ट गोरहम डेविस ने उपन्यास की इस विलक्षण प्रकृति का विश्लेषण करते हुए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनका कहना है कि, "आज इतने अधिक लोग प्रकट रूप से उपन्यास की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की सम्भावनाओं को लेकर इसलिए चिन्तित हैं, क्योंकि उसके महत्त्व के बारे में, जाने अथवा अनजाने, उनके मन में एक गहरी धारणा बन गई है। यह एक शुभ लक्षण है। परन्तु उपन्यास के इतिहास में कोई भी ऐसी चीज नहीं है, जो इसके भविष्य के बारे में निराशा प्रकट करती हो, कम-से-कम तब तक जब तक कि हमारे समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व तथा उच्चाशयता अपनी प्राथमिकता बनाए रहते हैं, और जब तक लेखकों को यह भान रहता



है कि उनके अन्दर मूल्यों का निर्माण करने की शक्ति है।” जो भी हो, आज के सुलझे हुए पाठक तथा आलोचक उपन्यास की प्रभविष्णुता तथा महत्ता का भली भाँति अनुभव कर रहे हैं। उपन्यास के दायित्व कितने बहुमुखी तथा महत्त्वपूर्ण हैं, इस बात का भी इससे स्पष्ट पता चलता है। आने वाले युग के जीवन-दर्शन में तथा विभिन्न मूल्यों के निर्धारण में उपन्यासों का और भी अधिक प्रभाव होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

### 3

उपन्यास के दायित्वों का सामान्य विश्लेषण करने के उपरान्त अब हम बहुत संक्षेप में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी के उपन्यासों ने अपने इन दायित्वों का निर्वाह कहाँ तक किया है। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, अपनी शैशवावस्था में ही उपन्यास ने अपने पाठकों को आकर्षित तथा प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। यही नहीं, ऐसा लगता है कि आगे चलकर तो सामाजिक उपन्यासकारों ने अपने पहले अपने दायित्व को भली-भाँति समझकर ही उपन्यास लिखना शुरू किया था। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास-कृत ‘परीक्षा-गुरु’ इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस उपन्यास के रूप-गठन में दो बातें अत्यन्त रोचक तथा उपन्यासकार की मनःप्रवृत्ति की परिचायक हैं। एक तो यह कि इस उपन्यास के अध्यायों के प्रारम्भ में देशी तथा विदेशी मनीषियों के नीति-वचन उद्धृत किये गए हैं। कहीं-कहीं तो ये नीति-वचन सम्बद्ध अध्याय की कथा-वस्तु से मेल खाते हैं, और कहीं-कहीं इनका अस्तित्व एकदम स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष है। दूसरी जो रोचक तथा महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि इस उपन्यास की कथावस्तु तथा वर्णन दो भागों में विभक्त किया गया है। उपन्यास के कुछ अंश रेखांकित हैं, तथा अधिकांश साधारणः मुद्रित हैं। उपन्यासकार ने अपनी भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि जो पाठक इस उपन्यास का अध्ययन कथा द्वारा अपना मनोरंजन करने के लिए करना चाहते हैं, वे कृपया रेखांकित अंशों को छोड़कर पढ़ें। ऐसा करने से कथा की रोचकता तथा समरसता बराबर बनी रहेगी। परन्तु जो पाठक इस उपन्यास में कथा के अतिरिक्त कुछ चिन्तन अथवा मनन भी करना चाहते हैं, वे कृपया रेखांकित अंशों को छोड़कर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देकर पढ़ें, क्योंकि उनमें विचार-वितर्क की ही प्रधानता है।<sup>1</sup>

हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार ने ही अपने दायित्वों का इतनी गहराई के साथ अनुभव किया था, यह सब कुछ विलक्षण होने के साथ-ही-साथ गर्व करने योग्य भी है। सही नहीं, इस युग के अन्य उपन्यासकारों में भी अपने कर्तव्य के प्रति सजगता दिखाई देती है। कहीं-कहीं तो वह कर्तव्य-भावना उपन्यास के रस में भी व्याघात डालती जान पड़ती है। नीति-सम्बन्धी उदाहरण देने की प्रकृति पं. बालकृष्ण भट्ट के ‘सौ अजान एक सुजान’ में बहुत बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है। राधाकृष्णन के ‘निस्सहाय हिन्दू’ जीवन के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। कुल मिला-जुलाकर हिन्दी उपन्यासों के एकदम प्रारम्भिक काल में लगता है कि दायित्व की भावना इतनी गहरी नहीं रही है। परन्तु यह भी सच है कि इस दायित्व की भावना ने उल्लेखित उपन्यासों में कला-तत्त्व को दबाकर उन्हें उपदेशप्रद अधिक बना डाला था। आज जान पड़ता है कि उपन्यास

1. अपने विभिन्न वर्ग के पाठकों को संतुष्ट के लिए लाला जी यह सूझ सचमुच ही अनूठी थी। उनके बाद के उपन्यासकारों ने इस पद्धति को नहीं अपनाया। परन्तु आज के घोर बौद्धिकता-प्रधान (Intellectual) उपन्यासों में इस पद्धति को फिर से स्वीकार कर लिया जाय तो इससे विशुद्ध उपन्यास के पदाब्जों का परम कल्याण होगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

के कलात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों तत्त्व एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हो जायँ।

खत्री जी के तिलिस्मी उपन्यासों तथा गहमरीजी के जासूसी उपन्यासों के पश्चात् हिन्दी-उपन्यास के विकास में दूसरी श्रेणी पं. किशोरीलाल गोस्वामी से प्रारम्भ होती है। गोस्वामी जी की कला मुख्यतः यथार्थवादी थी। परन्तु उनकी यथार्थ भावना बहुत स्वस्थ नहीं थी। इस युग के अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकार पं. लज्जाराम मेहता के उपन्यासों में दायित्व की भावना कुछ अधिक दिखाई देती है। गोस्वामी जी के सम्बन्ध में तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्पष्ट लिखा है, "यह दूसरी बात है कि उनके बहुत से उपन्यासों का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करने वाले दृश्यों की अपेक्षा निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करने वाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी। इस बात की शिकायत 'चपला' के सम्बन्ध में अधिक हुई थी।" गोस्वामी जी के युग के दूसरे उपन्यासकारों में भी दायित्व की भावना बहुत प्रधान नहीं रही।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में, "चरित्र-चित्रण की और सोद्देश्य उपन्यास लिखने की दृष्टि में मुन्शी प्रेमचन्द की (सं. 1937-1993) ने युगान्तर उपस्थित कर दिया।" यह सच है कि उपन्यास के दायित्वों को यदि एक सुलझे हुए दृष्टिकोण से समझने का किसी ने सजग प्रयत्न किया तो प्रेमचन्द ने। साथ ही उनके अन्दर की दायित्व-भावना ने उपन्यास-कला को भी विकृत नहीं किया। उपन्यास के जिन दायित्वों की चर्चा हमने प्रस्तुत निबन्ध के प्रथम भाग में की है, उनमें से अधिकांश का निर्वाह प्रेमचन्द के उपन्यास करते हैं। आत्म-तत्त्व की खोज तथा सत्य के अन्वेषण में उनके उपन्यास डिकेन्स तथा दास्ताएव्स्की से टक्कर लेते भले ही न दिखाई दें, परन्तु व्यक्तियों और स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने तथा रूढ़ियों की गहरी जमी हुई पतियों को तोड़ने में वे कदाचित् आज भी अपना सानी नहीं रखते। किन्तु यह स्पष्ट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं कि हमारे गहनतम स्तरों पर जीवन को अर्थ और संगति देने में शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय प्रेमचन्द को बहुत पीछे छोड़ देते हैं। इन क्षेत्रों में शरत् विश्व के महान् दृष्टा उपन्यासकारों की कोटि में पहुँच जाते हैं। शरत् जैसी मनोवैज्ञानिक 'एप्रोच' विरले ही उपन्यासकारों में मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने-आपको भौतिक समस्याओं में ही अधिक उलझाए रखा, मन की गहरी पतियों में वे दूर तक न पैठ सके।

जैसा हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, आधुनिक हिन्दी-उपन्यास में कला के प्रति आग्रह कुछ अधिक है, तथा दायित्व की भावना उतनी गहरी नहीं है जितनी उसकी इस विकसित दशा में होनी चाहिए। प्रेमचन्द्र के युग के कुछ अन्य उपन्यासकारों ने भी जीवन की बहुमुखी समस्याओं पर प्रकाश डालने तथा उनके समाधान ढूँढने के लिए काफी प्रयत्न किया था। कौशिक, प्रसाद तथा सियारामशरण गुप्त के उपन्यास इस तथ्य का समर्थन करते हैं। परन्तु इसके बाद लगता है कि एक बार फिर साहित्यिक प्रतिक्रिया हुई, और उपन्यास के दायित्वों का पक्ष कुछ हल्का पड़ गया। यहाँ इस तथ्य के एक दूसरे पक्ष पर भी हमें विचार करना होगा। कुछ आधुनिक उपन्यासकारों ने कदाचित् अपने दायित्व का कुछ आवश्यकता से अधिक अनुभव करते हुए अपने उपन्यासों को घोर बौद्धिक बना डाला है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में ही हो, ऐसी बात नहीं है। विदेशी उपन्यासों ने तो इस पद्धति को पहले से ही अपना रखा है। इस वर्ग के उपन्यासकार बौद्धिक वाद-विवाद तथा भारी-भरकम कथोपकथनों के द्वारा अपने पाठक को एक निश्चित दृष्टिकोण देना चाहते हैं। परन्तु ऐसा करने में न केवल उनका प्रयत्न असफल होता है, वरन् उनकी उपन्यास-कला भी क्षीण तथा अशक्त हो जाती है। जिस तथ्य को उपन्यासकार अपने

पात्रों तथा घटनाओं के माध्यम से पाठक के मन में प्रविष्ट करा सकता है, उस तथ्य को लम्बे-लम्बे वाद-विवाद एकदम खोखला तथा अप्रिय बना देते हैं। उपन्यास में यह दोष बहुत-कुछ कविता के रस-सम्बन्धी 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष के समानान्तर होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कविता में जहाँ यह दोष मात्र एक टेकनीकल कमजोरी माना जाता है, वहीं उपन्यास में यह दोष अन्यथा सुगठित कथा को एकदम नीरस तथा अग्राह्य बना देता है।

आधुनिक हिन्दी-उपन्यासकार उपन्यास के दायित्वों की अवहेलना कर रहे हैं, अथवा ऐसा करने के लिए उनके पास पर्याप्त शक्ति का अभाव हो, ऐसी बात नहीं है; वस्तुस्थिति यह है कि उनमें से अधिकांश अपनी जिम्मेदारियों को सही-सही ढंग से कदाचित् पहचान नहीं पा रहे हैं। साहित्य का यह माध्यम उनके निकट इतना सर्वमान्य, रूढ़ तथा 'फेमीलियर' हो गया है कि वे उसकी शक्ति तथा सम्भावनाओं को नहीं देख पाते। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यासों में व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति-भर तो अवश्य रह गई है, परन्तु उपन्यास के अन्य गम्भीर तथा गुरुतर दायित्वों का उनमें बहुत-कुछ अभाव है। डिकेन्स, दास्ताएवस्की तथा शरच्चन्द्र जैसी व्यापक जीवन-दृष्टि तथा गहरी सहानुभूति आज के उपन्यासकार में कदाचित् नहीं है। आज वह अपने 'अहं' में इतना उलझा हुआ है कि उसे बाहर के जीवन की ओर देखने का अवकाश नहीं है। इस प्रसंग में पिछले उपन्यासकारों से उसकी 'एप्रोच' का अन्तर स्पष्ट है। पिछले युग के उपन्यासकार समग्र जीवन के परीक्षण के माध्यम से 'अहं' को पहचानने का यत्न करते थे जबकि आज का उपन्यासकार समग्र जीवन के परीक्षण के माध्यम से 'अहं' के रहस्यों को पहचानने के प्रयत्न में ही इतना अधिक थक गया है कि सम्पूर्ण मानव-जीवन को एकबारगी देख सकने की दृष्टि अब उसके पास शेष नहीं रही है। उस प्रवृत्ति का एक स्पष्ट फल यह हुआ कि आज उपन्यासों के स्थान पर लघु उपन्यास अधिक लिखे जा रहे हैं। पूरे आकार के उपन्यास तो अब बहुत ही कम लिखे जाते हैं। इन लघु उपन्यासों के माध्यम से उपन्यासकार अपने पीड़ित तथा विक्षुब्ध 'अहं' की किसी भी समस्या को ही हमारे सामने रखकर, अपने कर्तव्य को समाप्त हुआ समझने लगता है। जीवन को उसकी विशालता तथा समग्रता में देख पाने के लिए सहज आस्था, गहरी सहानुभूति तथा व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, उनका उसके पास अभाव है।

आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों के उपर्युक्त संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास के सभी दायित्वों का निर्वाह उनमें भली-भाँति नहीं हो सका है। परन्तु अभी तो हिन्दी का उपन्यास साहित्य अपनी विकासावस्था को पार करके प्रौढ़ावस्था तक पहुँचा भी नहीं है; अतः उसकी वर्तमान स्थिति से हमें बहुत निराश होने की आवश्यकता नहीं। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा', उदयशंकर भट्ट के 'वह जो मैंने देखा', इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' तथा 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' को पढ़ने से स्पष्ट हो ज्ञात होता है कि ये उपन्यासकार यदि अपने दायित्वों का बहुत सफलतापूर्वक निर्वाह न भी कर पाए हों, तो भी उनको पहचानने तथा समझ पाने का वे भरसक यत्न कर रहे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह यत्न ही अपने-आपमें अत्यन्त शुभ तथा आशाप्रद है।

उपन्यासकार की महत्ता तथा ऊँचाई बहुत-कुछ उसकी अनुभूति-प्रवणता पर भी निर्भर होती है। यह तो किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता है कि आज का हिन्दी-उपन्यासकार अनुभूति-प्रवण नहीं है। पर जिस 'अहं' की थकाने वाली खोज की चर्चा हमने ऊपर की है, उससे अपने-आपको सम्प्रति कुछ समय के लिए मुक्त करके, यदि आज हिन्दी-उपन्यास समग्र मानवता की संवेदना तथा सहानुभूति की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करे तो वह अपने दायित्वों का निर्वाह काफी अच्छे ढंग से कर पाएगा, पर यह बात विवाद से परे है।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)

## उपन्यास की भाषा

---

रामस्वरूप चतुर्वेदी

साहित्यिक रचनाशीलता की भाषा का तत्त्व केंद्रीय है, इसे अब धीरे-धीरे स्वीकार किया जाने लगा है। बोलचाल की भाषा के सामान्य उपयोगी स्तर से लेकर कविता की भाषा के अधिकतम संभव सर्जनात्मक स्तर के बीच भाषिक प्रयोग की कई प्रकार की संभावनाएँ हैं। यहाँ स्मरण रखना होगा कि समकालीन काव्य में बोलचाल की भाषा कविता नहीं हो गई है, वरन बोलचाल की भाषा का कविता के लिए सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है। जिन रचनाकारों ने इस महत्वपूर्ण अंतर को नहीं समझा है, वे कविता में बोलते बहुत रहे हैं, पर संप्रेषित कम कर सके हैं। भाषा प्रयोग के उपयोगी और सर्जनात्मक, इन दो सिरों के बीच में आती है भाषण, पत्रकारिता आदि की सूचनात्मक भाषा, लोक साहित्य की बहुत हल्की सर्जनात्मक भाषा, अकाल्पनिक गद्य माध्यमों की भाषा और फिर नाटक, उपन्यास कहानी जैसे कल्पनाप्रधान गद्य रूपों की भाषा। कविता की भाषा क्योंकि सबसे अधिक सर्जनात्मक है, इस अर्थ में कविता सबसे अधिक साहित्य है।

उपन्यास में भाषा प्रयोग की दुहरी समस्या है। एक तो गद्य की सामान्य प्रकृति के हिसाब से उसे वर्णन करना है, और दूसरा, उससे अधिक मुश्किल काम है सूक्ष्म और जटिल अनुभव को संप्रेषित करना। भाषा के इस दुहरे धर्म को निबाहने में उपन्यासकार का मुख्य कृतिकर्म निहित है। यह बात आधुनिक उपन्यासकार के संदर्भ में अधिक संगति के साथ कही जा सकती है, क्योंकि उसके लिए वर्णन करना उत्तरोत्तर कम होता गया है, संप्रेषण की केंद्रीय समस्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। वर्णन के लिए पत्रकारिता और फिल्म के माध्यम अधिक उपयुक्त साबित हो रहे हैं, इसीलिए साहित्य में वर्णन की प्रधानता एक तरह से भाषा का दुरुपयोग ही है। यो भी पत्र पत्रिकाएँ, रेडियो, सिनेमा आदि प्रसार माध्यमों कारण औसत पाठक का सामान्य ज्ञान आज इतना अधिक है कि साहित्य पढ़ते समय वह सामान्य वर्णन की उपयोगिता महसूस नहीं करता। दृश्य के वर्णन में उसकी रुचि नहीं, वरन् दृश्य में जो

कुछ निहित है और जिसे वह सामान्यतः नहीं देख पाता उसकी पकड़ ही मुख्य है। इसी प्रक्रिया में वह जीवन को अधिक सार्थक और समृद्ध अनुभव करता है। यह पाठक के लिए ही नहीं, लेखक के लिए भी कहीं अधिक सच है, क्योंकि पाठक की यह चयनधर्मी वृत्ति लेखक में सामान्य पाठक से अधिक ही होनी चाहिए।

वर्णन करना और कहानी कहना मूलतः एक जैसी प्रक्रियाएँ हैं, क्योंकि दोनों की प्रकृति सूचनापरक और दिलचस्प है। आधुनिक उपन्यास में इनका उपयोग है, पर एक सीमा तक ही। मूल बात तो अनुभव को संप्रेषित करना है। घटना और चरित्र की सूचना देना अनुषांगिक है। घटना और चरित्र को अब अनुभव और संवेदन के स्तर पर ही निष्पन्न होना है, तभी किसी रचनादृष्टि का विकास संभव है। 'चंद्रकांता' और 'परीक्षागुरु' से लेकर 'अपने-अपने अजनबी' तक की यह कथायात्रा है।

सामान्यतः हिंदी उपन्यासकार वर्णन के आरंभिक स्तर से ऊपर उठने का उपक्रम ही करता है। इसके लिए एक सीमा तक तो व्यावसायिक लेखन का दबाव जिम्मेदार है, पर मूल कठिनाई रचना के स्तर पर है। शिक्षित मध्यवर्ग के विकास के साथ-साथ उपन्यास का एक बड़ा अंश जीवन की उपभोग्य सामग्री के रूप में गृहीत होता गया। पर छपे रहने, और साधारण बोलचाल में उपन्यास कहे जाने के बावजूद इसवर्ग के लेखन का दबाव बाहर से आसानी से रखा जा सकता है। पर इस व्यावसायिक लेखन का दबाव बाहर से भी उपन्यास के वास्तविक रूप पर पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं। हिंदी उपन्यास में वर्णन और कहानी का अब तक का महत्त्व एक सीमा तक इसी असाहित्यिक स्पर्धा के कारण है और इससे उपन्यास की वास्तविक रचनाशीलता और उसके आस्वादन में बाधा ही उत्पन्न होती है, क्योंकि सही जनरुचि का विकास नहीं हो पाता। यही नहीं, कभी कभी तो समझदार समीक्षक भी उपन्यास की प्रशंसा 'सात सौ पृष्ठों तक सलीके के किस्से कहने के लिए करते पाए जाते हैं, और इसके लिए उपन्यासकार के प्रति कृतज्ञ भी हो जाते हैं।

पर मूल कठिनाई फिर भी उपन्यास में भाषिक संघटन की दुहरी प्रक्रिया को न संभाल पाने के कारण है। वर्णन की भाषा और दिलचस्प है, और उपन्यासकार प्रायः उसी में डूब जाता है। उसके बीच के सर्जनात्मक भाषा विकसित करके अनुभव को रूपायित करने का अपेक्षया मुश्किल काम वह छोड़ देता है। वर्णन और कहानी पर पूरी तरह निर्भर रहने वाले उपन्यासों में यशपाल का 'झूठा सच' सिरमौर कहा जा सकता है, जिसे पढ़ते समय यह महसूस नहीं होता कि उपन्यास पढ़ रहे हैं, बल्कि लगता है कि विभाजन के दिनों के पुराने समाचारपत्रों की फाइल पढ़ रहे हैं।

प्रसाद के काव्य, खास-तौर से 'कामायनी', की चर्चा करते हुए विजयदेव नारायण साही का कहना है कि प्रसाद के युग में कवि की निगाह पानी की ओर अधिक है, मिट्टी का महत्त्व परवर्ती युग में बढ़ा है। दो प्रचलित प्रतीकों को सही ढंग से पकड़ने पर भी यहाँ सरलीकरण कुछ अधिक हो गया है। मिट्टी और पानी की रचनागत क्षमताओं में तात्विक अंतर है। मिट्टी वर्णन के लिए प्रेरित करती है, पानी कल्पना और अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है। यह अंतर प्रेमचंद और प्रसाद के बीच बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है। (भूराजनैतिक दृष्टि से पणिक्कर के तटवासी और मैदानी दृष्टिकोणों में भेद करते हुए बताया है कि तटवासियों में समुद्र के कारण एक आकर्षण, चुनौती और उत्साह का भाव रहता है, जबकि मैदानी लोग अपेक्षया शांत और स्थिर रहते हैं)। साहित्य में मिट्टी का प्रभाव

जड़ और स्थूल वर्णनों में है, पानी अनुभवगत वैविध्य गति और कल्पनाशीलता में प्रतिफलित होता है। वस्तुतः ये रचना की दो दृष्टियाँ हैं, जो कमोबेश हर साहित्यिक युग में कविता और गद्य दोनों को मिल सकती हैं। इस स्तर पर साही का विश्लेषण अधूरा रह जाता है। प्रसाद के युग में ही पानी का महत्त्व नहीं था। पानी का महत्त्व अब भी है अज्ञेय, शमशेर और रघुवीर सहाय, वस्तु और संवेदना दोनों दृष्टियों से, मूलतः पानी के कवि हैं। मिट्टी का वर्ग समकालीनों का है, पानी के रचनाकार में 'आधुनिक' अधिक हैं। इस प्रसंग में यह जानना रोचक होगा कि पास्तरनाक के प्रसंगबहुल पर अपेक्षया स्थूलवर्णन-विरल, उपन्यास 'डॉ. जिवागो' के विधान का सूक्ष्म और तात्त्विक विश्लेषण प्रसिद्ध समीक्षक एडमंड विल्सन ने अपने विख्यात निबंध 'लीजेंड एंड सिंबल इन डॉ. जिवागो' में कथाकार द्वारा पानी के विविध बिंबों के उपयोग के आधार पर किया है, और दिखाया है कि उपन्यासकार ने रूसी क्रांति की विस्तृत कथा को उपकरण बनाते हुए पानी के ही माध्यम से मृत्यु और पुनर्जीवन के इस आख्यान को रचा है।

समकालीन हिंदी उपन्यास में प्रगतिवाद, आंचलिकता, समाजिक यथार्थ आदि के नाम पर अधिकतर मिट्टी की प्रधानता दिखती है। नए कथाकार शिवप्रसाद सिंह का सद्यः प्रकाशित बड़ा उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' अपने शीर्षक में पानी को जुगुप्सा भाव से प्रस्तुत करता हुआ मिट्टी के ही इर्द गिर्द घूमता है। इससे अनुभव और कल्पना की क्षमता कुंठित होती है, और अधिकतर भोंथरी भाषा से काम चल जाता है। यों उपन्यास अपने जन्म से ही मिट्टी की यथार्थवादी परंपरा से जुड़ा है। पर उसमें कोई भी शक्ति उत्पन्न करने के लिए अब मिट्टी में पानी मिलाए बिना काम नहीं चल सकता। हिंदी उपन्यास का मुहावरा इसके लिए अपने को कहीं तक तैयार करता है, इसी पर उपन्यास की रचनाप्रक्रिया निर्भर करेगी।

मिट्टी में पानी मिलाना, यानी गद्य की अपेक्षा ठोस-जड़ भाषा में कविता भाषा के द्रवणशील तत्त्वों को संक्रमित करना। पर उपन्यास के संधटन में कविता के प्रयोग का क्या अर्थ है? कविताओं को उद्धृत करना, नहीं! 'काव्यात्मक गद्य' लिखना नहीं! वरन् उपन्यास के वर्णन-प्रधान ठोस गद्य में यथावश्यक हल्के-हल्के बिंबों का प्रयोग करते हुए अर्थ की गूँज-अनुगूँज उत्पन्न करने वाले शब्दों और मुहाविरों का प्रयोग, जिससे सूक्ष्म और अस्पष्ट से लगने वाले अनुभव और उसके यथार्थ का साक्षात्कार संभव हो सके। यहाँ बिंब के संबंध में अपना भाव स्पष्ट कर देना उचित ही नहीं जरूरी भी है। बिंब में सामान्यतः समझा जाने वाला चित्रात्मकता का भाव महत्त्वपूर्ण नहीं है। (बिंबवादी कवि और विचारक तो चित्रात्मकता से इतने आक्रान्त थे कि उन्होंने कविता को भी चित्र के रूप में ढालने की, भले ही असफल कोशिश की)। बिंब में असली महत्त्व है, अनेक स्थितियों के परस्पर संबंध और संपर्क के सहारे निर्मित अर्थसंश्लेष का, जो अनुभव को उसकी समग्रता में व्यक्त करता है। प्रतीक और बिंब का अंतर गुणात्मक है। प्रतीक केवल किसी एक सूक्ष्म या अमूर्त भाव को द्योतित करता है, जबकि बिंब में अनेक स्थितियों और पक्षों का एक साथ समेटने की कोशिश होती है। इसीलिए प्रतीक से कहीं अधिक बिंब प्रक्रिया भाषा को सर्जनात्मक बनाती है। इस बिंब प्रक्रिया से अनुभव की विविध छायाओं का साक्षात्कार संभव होता है। और इसी रचना में वह द्वंदात्मक क्षमता विकसित होती है, जिससे कि वह युग-युग की अपनी अनुभवपरक व्याख्याओं को आत्मसात् करती चलती है, बशर्ते कि ये व्याख्याएँ कौशलपरक अर्थचमत्कार न हों, वरन् अर्थ और अनुभव के विविध आयामों की अभिव्यक्ति हों। भाषिक सर्जनात्मकता

की कोई तराजू न होने पर भी, कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा ऐसी हो जो कविता की सघन सर्जनात्मक भाषा और गद्य की सामान्य वर्णनप्रधान भाषा के बीच में हो। नए उपन्यासों में निर्मल वर्मा के 'वे दिन' का रचाव बहुत कुछ ऐसा ही है, यहाँ यथार्थ को बाहर बेखेरने, सजाने और प्रदर्शन में रुचि नहीं है, वरन यथार्थ को अपने अंदर समेटने, आत्मसात करने की कोशिश है, जिसके लिए वर्णन की पद्धति कभी पूरी पड़ ही नहीं सकती। यथार्थ को बाहर रखकर वर्णित और विश्लेषित करना शास्त्रों और विज्ञानों की प्रक्रिया है, उसे अंदर अनुभव के स्तर पर उतारने में साहित्य का वैशिष्ट्य है।

यथार्थ को यथासंभव समग्रतः अनुभव करने के लिए उपन्यास की भाषा में कविता की भाषा के संक्रमण का उपयोग कुछ यूरोपीय और अंगरेजी रचनाकारों ने किया है। वर्णन सदैव अधूरा रहेगा, इसलिए इन उपन्यासकारों ने वर्णन का तो सीमित उपयोग किया है। अनुभव में समग्रता की संभावना अधिक है, अतः इनकी दृष्टि में अनुभव केंद्र में है। इसलिए जरूरी था कि वे वर्णन के सामान्य गद्य में कविता भाषा के कुछ तत्त्व घुलाते। लारेंस डरैल के अजेक्जेंड्रिया चतुर्खंड का नाम इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका एक पात्र रचना की समस्या को बहुत अच्छे ढंग से उजाकर करता हुआ कहता है : 'बताने की प्रक्रिया में सत्य विलुप्त हो जाता है उसे संप्रेषित ही किया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता।' उपन्यासकार का मूल यत्न बताते और संप्रेषित करने में एक संतुलन स्थापित करना है। इस दृष्टि से इस युग के अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासकार कहे जा सकते हैं पास्तरनाक, कामू, गंटर ग्रास और बैकेट। इनके उपन्यासों के आकार चाहे छोटे हों या बड़े, इनकी भाषिक रचनाप्रक्रिया में समानता है क्योंकि वे अपने उपन्यासों में कविता की भाषा का संपर्क करते चलते हैं, जिससे उनका संप्रेषण अधिक दक्ष होता है। डरैल की भाषा अपनी द्रवणशीलता के लिए विशेष रूप से आशंसित हुई है। पर यह स्मरण रखना होगा कि यहाँ कविता की भाषा का प्रयोग वांछित है, कविता जैसी भाषा नहीं।

हिंदी में प्रेमचंद के बाद उपन्यास की भाषा को नए ढंग से गलाने का काम किया जैनेन्द्र ने। इस दृष्टि से 'त्यागपत्र' उपन्यास साहित्य की बेजोड़ और स्पृहणीय उपलब्धि है। यहाँ जैनेन्द्र शब्दों से उतना काम नहीं लेते, जितना उनकी भंगिमा से। जैनेन्द्र के साथ अज्ञेय का नाम आता है। इन दोनों ने मिल कर भाषा को वर्णन के प्रथमिक स्तर से ऊठाया। 'त्यागपत्र' की बुआ और प्रमोद, 'शेखर' का शेखर, शशि और बाबा मदनसिंह पूरी तौर पर भाषा से ही बन गए हैं। 'त्यागपत्र' के शुरू के अनुच्छेदों में है : 'हम लोगों का असली घर पछांह की ओर था। पिता प्रतिष्ठा वाले थे और माता अत्यंत कुशल गृहिणी थीं। जैसी कुशल थीं। वैसी कोमल भी होतीं तो? पर नहीं, उस 'तो?' के मुँह में नहीं बढना होगा। बढे कि गए फिर तो सारी कहानी उस मुँह में निगल कर समा जाएगी और उसमें से निकलना भी नसीब न होगा।'

कथा-में-कथा वाले 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' में देश के वर्णन करने और कहानी कहने पर ऐसा सहज और अनाटकीय संयम शायद पहली बार देखने में आता है। इन दो-तीन वाक्यों में एक ओर उपन्यासकार का रचनासूत्र छिपा हुआ है, पर वह गौण है। मुख्य है, वर्णन न करके वर्णन को व्यंजित कर देने की क्षमता। 'शेखर' के बाबा मदनसिंह तो बोलते ही सूत्र शैली में हैं : 'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है।' अज्ञेय में गद्य और कविता भाषा के रचनात्मक संपर्क का और बढ़िया उदाहरण उनके

नवीनतम उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में देखा जा सकता है, जिसका भाषा-प्रयोग आधुनिक गद्य साहित्य में एक नया मान स्थापित करता है, और जिसका भाषिक विश्लेषण अपने में स्वतंत्र और संपूर्ण विषय है। पर कुछ संकेत इस प्रसंग में देना आवश्यक होगा।

'अपने अपने अजनबी' की भाषा स्वतः अज्ञेय के ही पिछले उपन्यासों की भाषा से भिन्न है। अपने इस नवीनतम उपन्यास में रचनाकार ने जिसकी गद्य भाषा का आभिजात्य विख्यात हैबोलचाल के सामान्य और खड़खड़े शब्दों को रचना के स्तर पर प्रयुक्त किया है। प्रचलित काव्यात्मक शब्दावली को छोड़ने पर यह समस्या आती है कि नितांत बोलचाल की भाषा का आधार लेकर सर्जनात्मक गद्य किस तरह लिखा जाए? उसका उपाय यही है कि ऊपर से काव्यात्मक लगने वाले शब्दों को अलग करके पूरे विधान में कविता की आंतरिक रचना प्रक्रिया का सहारा लिया जाए। अज्ञेय ने 'अपने-अपने अजनबी' में यही किया है, और पूरे उपन्यास की भाषा की यथासंभव एकरस बनाए रखा है। वर्णन और अनुभव की भाषा के बीच के जोड़ प्रकट नहीं होते, जो कि आधुनिक उपन्यासकार की मूल रचना समस्या है।

विश्लेषण के लिए 'अपने-अपने अजनबी' के कुछ वाक्यों को लिया जा सकता है। बाढ़ के दृश्य में प्रताड़ित यान को सेल्मा अपने घर से देख रही है। यान अपने जले हुए घर की आग पर कुछ खाना पका रहा है। यह दृश्य सेल्मा नहीं देख पाती और पर्दा खींच देती है-लेकिन दृश्य उसकी आँखों के आगे थोड़े ही था जो परदा खींचने से हट जाता! वह जिधर मुड़ी उधर भी वही दृश्य था क्योंकि वह उसकी आँखों के सामने नहीं, आँखों के भीतर था।' आँखों के सामने, और आँखों के भीतर 'सामने' और 'भीतर' इन दो बड़े मामूली शब्दों को लेकर उपन्यासकार ने उन्हें आमने सामने रखा है, और इसी प्रक्रिया से सेल्मा के अनुभव संश्लेष को व्यक्त किया है। यान को लेकर सेल्मा के जिस भावनात्मक तनाव को परंपरागत वर्णन के अनेक पृष्ठ भी पूरी तरह अंकित नहीं कर पाते, उसे उपन्यासकार ने एक वाक्य के दो सामान्य शब्दों से व्यक्त कर दिया है। यह गद्य की भाषा में कविताभाषा की प्रक्रिया को मिलाने से ही संभव हो सका है।

उपन्यास के अंतिम अंश में युद्धपीड़ित शहर की जिस दूकान के सामने जगन्नाथ सौदा खरीदने के लिए खड़ा है, उसका वर्णन है :

काले, गोरे और भूरे चहेरे, काले, लाल, पीले, भूरे, गेहुएँ, सुनहले और धौले बाल, रंग पुते और रूखे खुड़डे चेहरे। चुन्नटदार, इस्तरी किये हुए और सलवट पड़े कपड़े; चमकीले और कीच सने, चरमराते या फटफटाते या घिसटते हुए जूते। और चेहरों में, आँखों में, कपड़ों में, सिर से पैर तक हर अंग की क्रिया में निर्मम जीवैषणा का भावमानो वह दूकान सौदे 'सुलफ या रसद की दूकान नहीं है, बल्कि मानो जीवन की ही दूकान है।' इस अंश का विश्लेषण करने पर कई बातें सामने आती हैं :

1. लेखक को आधुनिक युद्ध और राशन सभ्यता के एक पहलू कतार या 'क्यू' का वर्णन करना है।
2. वर्णन का आरंभिक अंश घोषित रूप से गिनती गिनाने वाला है, पर इस गिनती गिनाने में भी जैसे सभ्यता को उस विडंबना की व्यंजना है जिसने मनुष्य को गिनती में बदल दिया है।
3. और अंत में 'जीवन की दूकान' का बिंब शुरू के सारे वर्णन को फिर नए सिरे



से अर्थवत्ता प्रदान करता है, और वह वर्णन माला एक अर्थ संप्रेषित करने के बाद जैसे उस अर्थ को और गहरे अनुभवपरक आयामों में ले जाती है, जहाँ भीड़ और जीवन की निर्मम, पर आवश्यक प्रक्रिया एकरस हो गई है।

और इस समूचे भाषिक संघटन में वर्णन और बिंब की हल्की प्रक्रिया एक दूसरे से इतने अच्छे ढंग से मिल गई है कि कहीं जोड़ नजर नहीं आता।

यह पूरे उपन्यास की भाषिक प्रक्रिया है, और इसलिए मैंने कहा है कि 'अपने अपने अजनबी' भाषिक संघटन की एक नई क्षमता का आख्यान है। 'आग को असीसने', 'कितना कमीना है यह संतोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देखकर होता है' जैसे प्रयोग चरित्रों को नहीं वरन चरित्रों के अनुभव और संवेदन को संयोजित करते हैं। ऐसे रचाववाला उपन्यास तरह तरह के ब्यौरे दे कर पाठक का ज्ञान संवर्द्धन नहीं करता, वरन उसके अनुभव को समृद्ध और प्रशस्त करता है, जो साहित्यिक रचनाशीलता का मुख्य उद्देश्य है।

जैनेन्द्र और अज्ञेय के साथ-साथ उपन्यास की स्थूल वर्णन वाली परंपरा भी चलती रही है, जिसके लेखकों ने जैनेन्द्र की भाषा को चक्करदार कहकर हमेशा बदनाम कराने की कोशिश की है। उनके लिए दुनिया जैसी सीधी सरल है, वैसी ही सीधी सरल, बौद्धिकता विरोधी उसकी भाषा है। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अशक, अमृतलाल नागर, मोहन राकेश प्रभृति ने भाषा के इस सीमित रूप से अधिकतर कहानी कहने का उपक्रम किया है, जो अच्छी भी जान पड़ी है, बुरी भी, और सामान्य भी। इन रचनाकारों की परवर्ती कृतियों में नागर के वर्णन कितने सजीव और आकर्षक हैं, यशपाल के वर्णन उतने ही जड़ हैं। यशपाल का वृहदाकार उपन्यास 'झूठा सच' वर्णनों से इतना अधिक आक्रान्त है कि उसका कोई भी चरित्र कहीं कुछ देर तक कुछ सोचता हुआ, आलोचन करता हुआ अंकित नहीं किया गया। उपन्यास की इस वर्णनप्रधान पद्धति के साथ और भी अनेक नाम जुड़ते हैं, पर उस सूची का हमारे लिए यहाँ कोई उपयोग नहीं है।

वर्णन का उपयोग करते हुए उससे ऊपर उठने का उपक्रम करने वाले उपन्यासों में देवराज ('रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी'), नरेश मेहता ('यह पथ बंधु था'), फणीश्वरनाथ 'रेणु' ('मैला आँचल'), लक्ष्मीकांत वर्मा ('खाली कुर्सी की आत्मा'), प्रभाकर माचवे ('द्वाभा'), रघुवंश ('अर्थहीन'), निर्मल वर्मा ('वे दिन') के नाम लेना होगा। इनके उपन्यासों में दिलचस्प वर्णन का आकर्षण जिस सीमा तक कम है, भाषिक सर्जनात्मकता का रूप उतना ही उभरा है, और बौद्धिक उपक्रम भी उसी मात्रा में संयोजित हो सका है। पर कुल मिलाकर इन उपन्यासों में शिल्प के प्रयोगों पर जितना आग्रह है उतना भाषिक सर्जनप्रक्रिया पर नहीं है। पर यह भी सही है कि भाषा के जड़, स्थिर रूप से इन्होंने अपने को प्रयत्नपूर्वक बचाना चाहा है। इन उपन्यासकारों में से अधिकांश का कवि होना इन्हें निश्चय ही रचनात्मक स्तर पर कुछ सहायता देता है, पर अच्छा उपन्यासकार होने के लिए कवि होना जरूरी हो, ऐसा नहीं है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण स्वयं जैनेन्द्र हैं, जो इस धारा के अग्रणी हैं। अनुभव को महत्त्व देने के कारण उन्होंने शिल्प से अधिक भाषा को केन्द्र में रखा है, क्योंकि अनुभव और भाषा एक दूसरे के निकटतम हैं।

उपन्यास लेखन की उक्त दो धाराएँ हमारे यहाँ ही हों, ऐसा नहीं है। इसी से मिलती-जुलती स्थिति का वर्णन अंग्रेजी साहित्य में स्टीफेन स्पेंडर ने किया है। अपनी पुस्तक 'दि स्ट्रगल आफ दि मॉडर्न' में स्पेंडर ने दोनों तरह के लेखकों का विश्लेषण किया है। एक और समकालीन

लेखक हैं, जो वर्णनों में ही उलझे रहने के कारण युग और संस्कृति की आंतरिक समस्याओं से अपरिचित बने रहते हैं, और दूसरी ओर आधुनिक लेखक हैं, जो अपने युग की स्थितियों के समकालीन ही नहीं हैं क्योंकि ऐसा होना तो उनकी नियति और विवशता है वरन् उन स्थितियों के समग्र और तात्विक विश्लेषण में उनकी रुचि है। स्पेंडर के शब्दों में 'समकालीन अपनाते हैं यथार्थवादी गद्य की पद्धति, जबकि आधुनिकों का प्रयोग है बिंबपरक और काव्यात्मक।' समकालीनों में स्पेंडर ने रखा है शा, वेल्स, गाल्सवर्दी और बैनेट को, और ज्यायस, लारेंस, वर्जीनिया वुल्फ और इलियट को उसने आधुनिक माना है। तथ्यतः तो ये प्रायः सभी लेखक एक दूसरे के समकालीन हैं, पर यथार्थ को समझने की दोनों वर्गों की दृष्टि अलग-अलग है। इसलिए एक समकालीन है, जबकि दूसरा आधुनिक।

एक ओर हिंदी में सरल वर्णनात्मक उपन्यासों की भरमार है, दूसरी ओर कुछ शिल्पगत प्रयोगों के बावजूद आधुनिक उपन्यास की विधानगत कठिनाइयों की सजगता बहुत कम है, जिसमें भाषिक संघटन की समस्या केंद्रीय है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कविता और उपन्यास की विकासगति में सामंजस्य का अभाव है। इससे भी नए कविता उपन्यास के भाषिक संघटन में समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। अब उपन्यास के लिए कविता की भाषा का प्रयोग कठिनतर हो गया है, क्योंकि दोनों के भाषिक स्तर में अंतर कुछ कम होने के बजाय बढ़ और गया है। पिछले दिनों प्रकाशित कुछ मोटे-मोटे उपन्यासों में वर्णन की स्थूलता बढ़ती ही गई है, जबकि कविता की भाषा ने अमूर्तन और विरूपीकरण के अधिक साहसिक प्रयोगों को अपनाना शुरू कर दिया है।

सच तो यही है कि उपन्यास कविता नहीं है, इसलिए वर्णन उसका आवश्यक अंग है। पर वर्णन अब साध्य नहीं, साधन अधिक है, क्योंकि प्रधान है अनुभव का संपुंजन और संप्रेषण। उसी सीमा तक वर्णन को अब हल्का होना चाहिए, तभी वह उपन्यास के पूरे विधान में रचनात्मक सहायता दे सकता है। इसलिए पहले से अधिक आवश्यक हो गया है कि उपन्यास में वर्णन और संप्रेषण दोनों की भाषाओं का सानुपातिक प्रयोग हो। कविता या नाटक में भाषा को तोड़ना अपेक्षया सुगम है, क्योंकि उनका भाषा प्रयोग सांकेतिक अधिक है। पर उपन्यास में, चाहे कितना संक्षिप्त हो, वर्णन चाहिए ही! और यह वर्णन आधुनिक कविता के अमूर्त और विरूप विधान द्वारा संभव नहीं है, क्योंकि ये प्रक्रियाएँ व्यंजना की है, वर्णन की नहीं। अब समस्या यह है कि उपन्यास में भाषिक प्रयोग के इन दो स्तरों को मिलाया कैसे जाए क्योंकि दोनों के बीच का अंतर और बढ़ा है, व्यावसायिक उपन्यास और उसके दबाव में लिखा गया कथा साहित्य जिसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार है। कविता अपनी प्रकृति में अव्यावसायिक है, और उसकी भाषिक प्रक्रिया दूसरी तरह की है और कविता भाषा की प्रक्रिया इधर तेजी से बदली भी है।

यह आधुनिक उपन्यासकार का रचना संकट है, और उसकी क्षमता को एक चुनौती है। वर्णन की परंपरित स्थूल भाषा और नई कविता की अमूर्त और विरूपीकृत भाषा को एक रचनाविधान में कैसे संघटित किया जाए, जिससे दोनों के बीच न जोड़ दिखाई दे और न दरार ही, यही आधुनिक उपन्यास की मूल समस्या है। नई कविता के बाद के अनेक कविता आंदोलनों, नई कहानी-अकहानी के तत्त्वावधान में लिखी जाने वाली कहानियों और स्थूल वर्णन प्रधान उपन्यासों में सबने मिलकर सर्जनात्मक भाषा की समस्या से कतरा कर निकल जाना चाहा है, और अघोषित रूप से सीधी वर्णनात्मक भाषा का प्रयोग अपना लिया

है। यानी आधुनिक जीवन के जटिल परिवेश में रचना समस्या जितनी कठिन हुई है उतने ही आसान और सस्ते समाधान ढूँढ निकालने में रुचि बढ़ी है। यह सब एक तरह की साहित्यिक 'मादक औषधि' है, जिसका सेवन रचनात्मक चुनौती से बचने के लिए लेखक, और फलतः पाठक, दोनों कर रहे हैं। पर यांत्रिक जड़ता से जूझने का उपाय 'मादक औषधि' नहीं है, जो कि उससे भी बड़ी जड़ता है, वरन् मानव व्यक्तित्व और उसके अनुभव को केंद्र में लाना है, और उसे महत्त्व देना है। अनुभव को, और अनुभव की समग्रता को संप्रेषित करने के लिए सीधी भाषा कभी पर्याप्त नहीं रही, आज तो और भी नहीं! पर अनुभव का साक्षात्कार भाषिक सर्जनात्मकता को विकसित करके ही संभव है। रचना के क्षेत्र में इस चुनौती का सामना आधुनिक लेखक कैसे करते हैं, पर इस पर न केवल उपन्यास की नई संभावनाएँ निर्भर हैं, वरन् पूरी साहित्यिक रचनाशीलता का भावी रूप ही आधारित है।

(‘गद्य की सत्ता’ नामक पुस्तक से)

## लेखक परिचय

**बालकृष्ण भट्ट** : इलाहाबाद (उ. प्र.) में 3 जून, 1844 में जन्म। मृत्यु 20 जुलाई, 1914 में। निबंधकार, नाटककार, उपन्यासकार और पत्रकार। 'हिन्दी प्रदीप' पत्रिका के संपादक रहे।

**महावीर प्रसाद द्विवेदी** : रायबरेली (उ. प्र.) में सन् 1864 में जन्म। मृत्यु 21 दिसंबर, 1938 में। कवि, आलोचक, निबंधकार और पत्रकार। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक रहे।

**प्रेमचंद** : लमही (वाराणसी, उ. प्र.) में 31 जुलाई, 1880 को जन्म। मृत्यु 8 अक्टूबर, 1936 को। उपन्यासकार, कहानीकार, निबंधकार और पत्रकार। 'हंस', 'मर्यादा', 'माधुरी' और 'जागरण' पत्रिकाओं के संपादक रहे।

**काशी प्रसाद जायसवाल** : मिर्जापुर (उ. प्र.) में 27 नवंबर, 1881 को जन्म। मृत्यु 4 अगस्त, 1937 को। इतिहासकार, निबंधकार और पत्रकार। 'पाटलिपुत्र' पत्रिका के संपादक रहे।

**रामचन्द्र शुक्ल** : अगौना (बस्ती, उ. प्र.) में 11 अक्टूबर, 1884 को जन्म। मृत्यु 2 फरवरी, 1941 को। आलोचक, इतिहासकार, निबंधकार और कवि।

**गुलाब राय** : इटावा (उ. प्र.) में 17 जनवरी, 1888 को जन्म। मृत्यु 13 अप्रैल, 1963 को। आलोचक और निबंधकार। 'साहित्य संदेश' पत्रिका के संपादक रहे।

**राहुल सांकृत्यायन** : कनैला (आजमगढ़, उ. प्र.) में 9 अप्रैल, 1893 को जन्म। मृत्यु 14 अप्रैल, 1963 को। इतिहासकार, आलोचक, निबंधकार, नाटककार और संपादक।

**सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'** : मेदनीपुर (बंगाल) में 21 फरवरी, 1896 को जन्म। मृत्यु 15 अक्टूबर, 1961 को। कवि, कथाकार, आलोचक और निबंधकार। 'सुधा', 'समन्वय' और 'मतवाला' पत्रिकाओं के संपादक रहे।

**जैनेन्द्र कुमार** : अलीगढ़ (उ. प्र.) में 2 जनवरी, 1905 को जन्म। मृत्यु 24 जनवरी, 1988 को। उपन्यासकार, कहानीकार और निबंधकार। 'लोकजीवन' मासिक और 'कल्प' पाक्षिक के संपादक रहे।

**हजारीप्रसाद द्विवेदी** : बलिया (उ. प्र.) में 19 अगस्त, 1907 को जन्म। मृत्यु 19 मई, 1979 को। इतिहासकार, आलोचक, निबंधकार और उपन्यासकार।

**रामअवध द्विवेदी** : गोरखपुर (उ. प्र.) में सन् 1907 को जन्म। मृत्यु अक्टूबर, 1971 को। आलोचक और कवि। अंग्रेजी की मासिक पत्रिका 'हिन्दी रिव्यू' के संपादक रहे।

**देवराज उपाध्याय** : शाहाबाद (उ. प्र.) में 22 अक्टूबर, 1908 को जन्म। आलोचक और निबंधकार।

**सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'** : कुशीनगर (देवरिया, उ. प्र.) में 7 मार्च, 1911 को जन्म। मृत्यु 4 अप्रैल, 1987 को। कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, निबंधकार,

नाटककर और पत्रकार। 'प्रतीक' 'नया प्रतीक' 'दिनमान' और 'सैनिक' पत्रिकाओं के संपादक रहे।

**नगेन्द्र** : अलीगढ़ (उ. प्र.) में 22 मार्च, 1915 को जन्म। मृत्यु 27 अक्टूबर, 1999 को। आलोचक, निबंधकार, कवि और संपादक। 'संस्कृति' और 'देवनागर' पत्रिकाओं के संपादक रहे।

**नलिन विलोचन शर्मा** : पटना (बिहार) में 18 फरवरी, 1916 को जन्म। मृत्यु 12 सितंबर, 1961 को। कवि, आलोचक, कहानीकार और निबंधकार। 'साहित्य', 'दृष्टिकोण' और 'कविता' पत्रिकाओं के संपादक रहे।

**देवराज** : रामपुर (उ. प्र.) में 3 जून, 1917 को जन्म। मृत्यु 11 जनवरी, 1999 को। कवि, उपन्यासकार और आलोचक। 'युगसाक्षी' पत्रिका के संपादक रहे।

**प्रभाकर माचवे** : ग्वालियर (म. प्र.) में दिसंबर, 1917 को जन्म। मृत्यु 17 जून, 1991 को। कवि, कहानीकार और आलोचक।

**रघुवंश** : हरदोई (उ. प्र.) में 30 जून, 1921 को जन्म। मृत्यु 23 सितंबर, 2013 को। आलोचक, निबंधकार और उपन्यासकार। 'आलोचना' और 'क ख ग' पत्रिकाओं के संपादक रहे।

**मोहन राकेश** : अमृतसर (पंजाब) में 8 जनवरी, 1925 को जन्म। मृत्यु 12 अगस्त, 1957 को। नाटककर, कथाकार और अनुवादक।

**नामवर सिंह** : वाराणसी (उ. प्र.) में 1 मई, 1927 को जन्म। कवि, आलोचक और निबंधकार। 'आलोचना' के प्रधान संपादक।

**निर्मल वर्मा** : शिमला (हि. प्र.) में 3 अप्रैल, 1929 को जन्म। मृत्यु अक्टूबर, 2005 को। निबंधकार, कथाकार। 'प्रतीक' में सहायक संपादक रहे।

**राजेन्द्र यादव** : आगरा (उ. प्र.) में 28 अगस्त, 1929 को जन्म। मृत्यु 28 अक्टूबर, 2013 को। कथाकार और आलोचक। 'हंस' के संपादक रहे।

**देवीशंकर अवस्थी** : उन्नाव (उ. प्र.) में 5 अप्रैल, 1930 को जन्म। मृत्यु 12 जनवरी, 1966। आलोचक और संपादक। 'कलजुग' के संपादक रहे।

**प्रेमशंकर** : सीतापुर (उ. प्र.) में 3 फरवरी, 1930 को जन्म। कवि और आलोचक।

**रामस्वरूप चतुर्वेदी** : कानपुर (उ. प्र.) में 6 मई, 1931 में को जन्म। मृत्यु 24 जुलाई, 2003 को। आलोचक और इतिहासकार। 'नई कविता' 'क ख ग' और 'आलोचना' पत्रिकाओं के संपादक रहे।

# नए विचारों को प्रकाशित करने का साझा प्रयास



सितम्बर 2015 में गाजियाबाद से शुरू हुआ प्रकाशन 'नवारुण' किताबों की दुनिया में पारदर्शिता और नयेपन के साथ प्रस्तुत होने का दावा करता है। इसका मकसद हिंदी के पाठकों के लिए एक ऐसी खिड़की का काम करना है जो उन्हें साहित्य के साथ-साथ समाज विज्ञान, स्त्री अध्ययन, दलित विमर्श, सिनेमा, पर्यावरण, शिक्षा, विज्ञान और उन तमाम विषयों के बारे में अवगत कराये जो हर रोज इस जगत में घट रहे हैं। हमारा मकसद मूल हिंदी में किताबें लिखवाने का है, साथ-साथ अंग्रेजी में उपलब्ध कुछ जरूरी किताबों के सुन्दर अनुवाद भी समय-समय पर प्रकाशित किये जायेंगे। नवारुण, हिंदी प्रकाशन जगत में व्याप्त कमीशन खोरी के समानांतर सुविधाजनक कीमत की पेपरबैक किताबों की ऐसी शृंखला प्रस्तुत करना चाहता है जो अपने अंतिम पाठक तक पहुंचकर तर्क और विमर्श की एक नयी धारा प्रवाहित कर सके।

हमारे प्रकाशन में लेखक और पाठक का हित सर्वोपरि है इसलिए हम अपने लेखकों को एक न्यूनतम रॉयल्टी देने के साथ किताबों की कीमत हर संभव कम करने का वायदा भी करते हैं।

'नवारुण' से जुड़ने, पुस्तक मेलों की नई शृंखला शुरू करने और नई मूल्यांकन किताबों के सृजन के लिए हमें आपके हर तरह के सहयोग का इंतजार है।

## प्रकाशित किताबें :

- दलित साहित्य : एक अन्तर्गता (आलोचना)**  
लेखक : अजरंग बिहारी तिवारी  
पृष्ठ संख्या : 213 कागज : 70 जी एम सुपर सनशाइन  
मूल्य : 160 रुपये (पेपर बैक), 350 रुपये (हार्ड वाउंड)  
उपलब्धता : अभी सिर्फ हार्ड वाउंड संस्करण उपलब्ध है।
- इती दुनिया में (कविता संग्रह)**  
लेखक : बीरेन डंगवाल  
पृष्ठ संख्या : 112, कागज : 70 नेचुरल शेड शीशाशाई  
मूल्य : 100 रुपये (पेपरबैक)  
उपलब्धता : पेपरबैक संस्करण उपलब्ध है।
- प्रतिरोध (दस्तावेज़)**  
सम्पादक : मृत्युंजय  
पृष्ठ संख्या : 112, कागज : 70 जी एम सुपर सनशाइन  
मूल्य : 100 रुपये (पेपरबैक)  
उपलब्धता : पेपरबैक संस्करण उपलब्ध है।

## शीघ्र प्रकाश्य किताबें

- चित्र, चित्रकार और चित्रकला—अशोक भौमिक
- झारखण्ड आन्दोलन के दस्तावेज़—वीर भारत तलवार
- पांच महादेशों में व्याप्त सिनेमा—विद्यार्थी चटर्जी
- मेरे हारिल—इंदुबाला मिश्र

नवारुण

संपर्क : सी 303, जनसत्ता अपार्टमेंट्स, सेक्टर 9, वसुंधरा, गाजियाबाद - 201012  
ईमेल : [navarun.publication@gmail.com](mailto:navarun.publication@gmail.com) फ़ेसबुक : navarun फ़ोन : 9811577426

## केन्द्रीय हिन्दी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार  
संपर्क : हिन्दी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन : 0562-2530684,  
वेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

### संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

### संस्था के प्रमुख उद्देश्य

● भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिन्दी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ● विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिन्दी शिक्षण का प्रसार, हिन्दी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिन्दी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिन्दी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहित और हिन्दी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ● अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ● संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ● समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिन्दी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

### संस्थान के कार्य

● शिक्षणपरक कार्यक्रम : (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिन्दी शिक्षण (ii) हिन्दीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिन्दी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● अनुसंधानपरक कार्यक्रम : (i) हिन्दी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिन्दी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिन्दी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिन्दी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिन्दी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास : (i) हिन्दीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिन्दी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिन्दीतर राज्यों के लिए हिन्दी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण पाठ्य पुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिन्दी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिन्दी शिक्षण संबंधी पाठ्य सामग्री का निर्माण, (vi) हिन्दी तथा हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

● संस्थान के प्रकाशन : हिन्दी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेक अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्य पुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

● पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिन्दी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)

● संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिन्दी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिन्दी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

● योजनाएँ : ● भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिन्दी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ● अफगानिस्तान के नान्दारहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ● विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरीशस, वेल्जियम, रूप आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिन्दी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ● हिन्दी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिन्दी कॉर्पोरा परियोजना, हिन्दी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिन्दी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

डॉ. कमल किशोर गोयनका, उपाध्यक्ष के.हि.शि.मं.

प्रो. नंद किशोर पंडेय निदेशक

## ग्राहक/सदस्यता-प्रपत्र

संपादक

पक्षधर

प्रिय महोदय,

पक्षधर के लिए वार्षिक/पंचवार्षिक/आजीवन सदस्यता शुल्क रुपये.....

का धनादेश/चेक/ड्राफ्ट द्वारा भेज रहा/ रही हूँ। कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ :

नाम.....

पता.....

दूरभाष.....

पता:

सम्पादक

पक्षधर

C-4/604 ऑलिव काउंटी,

सेक्टर-5, वसुंधरा

गाजियाबाद-201012

मो. 09560236569

ई-मेल: pakshdharwarta@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

एक प्रति ₹ 75

वार्षिक व्यक्तिगत ₹ 200, संस्थाओं के लिए ₹ 300 (डाक खर्च सहित)

पाँच वर्षों के लिए ₹ 1000

आजीवन ₹ 2500

विदेश के लिए (वार्षिक)75 डॉलर \$

आप सीधे बैंक खाते में भी सदस्यता शुल्क जमा कर सकते हैं।

बैंक खाता का विवरण :

A/C No. 31266280438

बैंकस्टेट बैंक ऑफ इंडिया

शाखादिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

IFSC-SBIN0001067

MICR Code-110002030

ड्राफ्ट/चेक 'पक्षधर' के नाम से भेजें। दिल्ली से बाहर के चेक के साथ 50 रुपए अतिरिक्त जोड़ें।